साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
की ओर से
भारती-भंडार, प्रयाग द्वारा प्रकाशित

प्रथम हिन्दी संस्करण
१९५७
मूल्य चार रुपये (४०० नये पैसे)

श्री बिन्दाप्रसाद ठाकुर द्वारा
लीडर प्रेस, प्रयाग में मुद्रित

परिचय

विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' बँगला और भारतीय साहित्य के उन नन्हे ग्रंथों मे है, जो महान् हैं। और इनमे ही क्यों, किसी भी साहित्य में इसकी मर्यादा यही होगी। यह गद्य प्रगीत है, वन की गीति का काव्य। मानव-पुत्रों के वर्धमान कुल-परिवार को जगह देने के लिए अहल्या वनराजि का उच्छेद होता जा रहा है। इसी उच्छेद की पटभूमि पर लेखक ने सहानुभूति के साथ, तथा वरवस लोहा मनवा लेने वाली सचाई के साथ वन एवं आदिम ग्राम के प्रतिवेश मे मानव का चित्र अंकित किया है। इस तरह 'आरण्यक' एक ऐसी कविता है, जिसका विपय प्रकृति भी है और मनुष्य भी, और जो दोनों की ही परम मनोहर छवि उपस्थित करती है। इस छवि का आधार ज्ञान एवं सह-संवेदन, दोनो है।

बँगला साहित्य में विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय निचले वगाल की सदा दूवों-पूतों हरी-भरी एवं सदा-वहुरंगी प्रकृति की गोद मे फुदकते ग्राम-जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले के रूप में भली भांति प्रख्यात है। आजकल प्रकृति के प्रेमियो का कोई अभाव नही है। विशेप करके ऐसी अवस्था में जब सभ्यता के क्रम-क्रम से अग्रसर हो रहे चरण हर कही प्रकृति माता के पुण्य प्रकोष्ठों पर चढ़ते चले जा रहे है, जब वन्य परिवेश मे नग-जड़े से पेड़-पौधों, जंगल-झाड़ों, खुले मैदानों, डूँगरो-पहाड़ो, सोतों-झरनों और नद-नदियों के साथ हमारे मार्मिक और घनिष्ठ संपर्क टूटते जा रहे है। प्रकृति के प्रति आकर्पण का अनुभव हम इसलिए करते है कि वड़े-वड़े नगरों के दमघोट वातावरण से हम छुटकारा पाना चाहते हैं, दम भर की राहत चाहते है।

पर विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय की रचनाओ मे केवल इतना ही नही है। कुछ और है। और वह कुछ-और ऐसा कुछ है जो हमारे मानस

की गहराइयो में उतरकर हमे जगा देता है तथा अपने ही अन्तर मे प्रकृति की आत्मा की एक झिलमिल-झिलमिल-सी अनुभूति करा देता है। वह पेडों-पौधो के, फलो-फूलों के, जड़ी-बूटियों के तथा वन्य जीवन के प्रेमी तो है ही, उनके पारखी भी है। पर उनकी निरख-परख क़ैंची और ख़ुर्द-बीन वाले वनस्पति-शास्त्री की नही बल्कि उस व्यावहारिक मानव की है, जिसके लिए पत्तों और टहनियो मे, फूलो और फलो मे, पेड़ों और पौधो मे भी कोई सदेश है, उनका अपना-अपना कोई व्यक्तित्व भी है, कोई नाम-धाम भी है। जंगल और जंगल के वृक्षो के लिए उनका उत्साह संक्रामक है तथा उनकी लिखी इस महान् पुस्तक को पढ़ने के वाद पाठक के प्राण इनकी असंभवानुकृति प्राकृतिक पृष्ठभूमि और परिवेश से उच्छल हो-हो उठते है।

कथा या वर्णन तो इस पुस्तक मे नाम-मात्र को ही है। कथानक के नाम पर एक अत्यन्त सुसंस्कृत वंगाली युवक स्नातक के अनुभव मात्र है। युवक किसी शिक्षणालय में शिक्षक था। रोज़ी गँवाकर कलकत्ता जैसे बे-आसरा शहर में चारो ओर से निरस्त-परास्त होकर मारा-मारा फिर रहा था। सौभाग्य-संयोग से उसे छात्र-जीवन के एक ऐसे साथी से भेंट हो गई, जो उसकी साहित्यिक सूझ-वूझ का प्रशंसक था। इस भेंट के फल-स्वरूप उसे किसी ज़मीदार के कारिंदे का पद मिल गया। काम उस ज़मी-दार के एक जंगल को साफ करवाकर खेती और चराई के लिए किसानो के हाथो ज़मीन की बंदोवस्ती करने का था। कथानायक अपनी कहानी आप ही कहता है। इस काम के सिलसिले मे वह बंगाल की सीमा से सटे उत्तर विहार की एक अहल्या वनभूमि के छोर पर आ रहता है। जंगल को काट या जलाकर नौतोड़ खेती करने या दूर-दूर के शहरो मे भेजने को वन-जात पैदावारे निकालने या तराई के जंगलो में छाँह-तले उपज-उपज पडी अबोह घास मे ढोर चराने के लिए रैयतों को ज़मीन उठाने की प्रक्रिया मे उसे स्वयं ही जंगल के एक बड़े ख़ित्ते को उजाड़ना पड़ जाता है। जिसे उसने प्यार करना सीखा था, उसे उजाडने का दायित्व उसी पर आ पड़ता है!

वड़े विशाल पैमाने पर हो रहे इस वनघात की कहानी के तलदेश में गहरी करुण विषाद-भावना की एक फल्गुधारा निरन्तर वहती रहती है। लेखक इस दु:खांत अनुभूति मे हमें भी अपना सहभागी वनाये चलता है। पर अपनी पुस्तक के इन २८७ पृष्ठों में उसने एक अहल्या अरण्यानी की समस्त गरिमा, समस्त शोभा और कोमलता के, तथा साथ ही उसकी वीरानगी और आतंक-वितंक के अत्यन्त ही अद्भुत शब्दचित्र दिए हैं। वह दूर कलकत्ता मे रहने वाले वड़े ज़मींदार का प्रतिनिधि है, और इस हैसियत से उसके पास ज़मीन के भूखे लोगों के जो दल आते रहते है, वे नितान्त दरिद्र और नितान्त विनीत हैं। पर इस दयनीय दरिद्रता में उन्होने एक ऐसे जीवन-दर्शन की उपलब्धि कर ली है, जो उन्हें ऊपर से हताश-हताश्वास लगने वाली आर्थिक स्थिति से भी अधिकाधिक सुख-संभावनाएँ निचोड लेने की योग्यता प्रदान करती है तथा इस तरह दरिद्रता और दुखभोग और असाध्य भुखमरी तक के डंक को निर्विप कर देती है। नये खेतिहरो के हाथ ज़मीन की वंदोवस्ती करने में उसकी सहायता करने के लिए ज़मींदार द्वारा भेजे गए कर्मचारी हों, या स्वयं वे भावी खेतिहर हो जिन्हे ज़मीन लेनी है, या फिर अपेक्षाकृत निम्नतर वर्गों के वे लोग ही क्यों न हों, जो वनभूमि के वड़े-वड़े टुकड़े काट-काट कर खेत वनाने अथवा गाँव वसाने के काम मे लगी उस फूलती-फैलती वस्ती के लाव-लश्कर के अनिवार्य अंग वने, मतलव यह कि इतनी विविध भाँति के जो भी चरित्र उसके चौगिर्द आ जुड़े, सवको उसने कुछ ऐसी अन्तर्दृष्टि के साथ चित्रित किया है कि दाद दिए विना रहा नही जा सकता। चित्रण मे चरित्र की पैनी परख तो है ही, मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्यार करने की एक ऐसी भावना भी है जो निष्कपट और दृढ़विश्वासी है।

कहानी के दौरान में जिन विविध चरित्रो से हमारी ख़ासी जान-पहचान हो जाती है, वे सव-के-सव जीवंत व्यक्तित्व हैं। शहरों से दूर होने के कारण उन सभी के अन्दर सामान्यत: एक ऐसी सादगी और ईमानदारी है, जो आदिम मानव में ही पाई जाती है। देहातो में, जंगल के

किनारे या बीच जंगल मे रहने वाले भारतवासी नर-नारियों के छायापथ मे इन विविध चरित्रों मे से प्रत्येक चरित्र एक-एक नये सितारे की वृद्धि करता है। राजू पांडे एक सीधा-सादा वृद्ध ब्राह्मण है। उसके जीवन का एकमात्र आनन्द तुलसीदास की रामायण पढ़ना है। धतुरिया लडका है, नाचने की कला का सच्चा कलाकार। विधवा कुता अपने दीन-हीन दयनीय परिवेश मे भी अद्‌भुत साहस और सेवाभाव का परिचय देती है। युगलप्रसाद एक सच्चा वनस्पति-शास्त्री है, जो सुन्दर फूलों और विलक्षण पौधो को प्यार करता है। विहार के उस देहात के बंगाली डाक्टर की यतीम लड़की अपने परिवेश के कारण लगभग किसान-कन्या ही बन चुकी है। ग़रीबी और परिस्थितियो के दवाव ने उसे खट-खट कर खप मरने के अभिशप्त जीवन मे बाँध रखा है। पूर्णतर जीवन की एक धुँधली-धुँधली-सी समझ तो उसे है, पर उसकी कोई आशा नही है। स्कूल-मास्टर गनौरी तिवारी एक प्रारभिक पाठशाला खोलने के चक्कर मे वस्ती-बस्ती भटकता रहता है। बिहारी देहात का कवि शुद्ध व्याकरण-सम्मत हिन्दी मे कविता लिखता है, और इसके लिए स्थानीय हिन्दी-पत्रिका के संपादक की प्रशसा प्राप्त कर चुका है। उसके रग-ढंग कितने सीधे-सादे है! उसकी हृदयहारिणी पत्नी भी उस-जैसी ही सरल और सूधी है। गॉव का सूदखोर महाजन धौस, धुप्पस और भभकी के वल पर काम चलाता है और बर्बर मालदारी की एक ऐसी जिन्दगी बिताता है, जिसमे कही कोई रस नही है, कही कोई आकर्पण नही है। यह चरित्र ही ऐसा है जो कभी किसी का भी प्यार नही पा सकता। मुनेश्वरसिह पूरा सिपाही है। मटुकनाथ पडित दिन-रात इसी चिन्ता मे घुलता रहता है कि किसी तरह एक संस्कृत पाठशाला खुल जाय तो कुछेक लड़के देववाणी मे दीक्षित किये जा सकें। बूढे आदिवासी सरदार दोवरू पन्ना मे असली राजसी आन-वान और शान झलकती है। उसकी परपोती भानुमती का चित्रण लेखक ने ऐसी चरम सहानुभूति और भावभीनी पैठ के साथ किया है कि कोई भी पाठक इस आदिवासी युवती के चौगिर्द फैली रोमास-भावना से

प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। उसकी याद आते ही हर पाठक के दिल में एक मीठी-मीठी सी टीस उठने लगेगी।—इन सभी चरित्रो का समुदाय मानो जीती-जागती छवियो की कोई चित्रशाला हो ! ये सब भी सचाई की ठीक वैसी ही प्रतिकृतियाँ है, जैसी कि उन पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों, पहाड़ी झरनों, ऊँची-ऊँची उपजी अवोह घासों और नीले आसमानों के चित्र, जिनके वीच कि ये लोग रहते है।

भारतीय साहित्य मे परम्परा युगों पुरानी है। वेद-काल से अव तक भारतीय विश्व-दर्शन—व्हेल्तेनशाउङग—का क्रम कभी टूटा नही है। विभूतिभूपण के 'आरण्यक' का मेल ऋग्वेद के दसवें अध्याय मे इरम्मद-पुत्र देवमुनि रचित उन ऋचाओं—१४६ वे सूक्त—से खूव वैठता है, जो वनों की आत्मा—अरण्यानी—की विरुदावली के रूप में निवेदित की गई है। यह सूक्त वेदकाल के उस आदिम ग्राम का चित्र उपस्थित करता है, जो किमी आदिकालीन जंगल के किनारे वसा है। इन ऋचाओ में चिड़ियों की चहकारों, पेडो की छाँहों, पेडो पर पड़ती कुल्हाड़ियो की ठकाठक चोटो तथा वनदेश की रहस्यमयता और रोमास आदि जिन विपयो की चर्चा है, उन सव की गूँज विभूतिभूपण वंद्योपाध्याय के 'आरण्यक' में सुनाई पड़ती है। वेद के ऋपि ने अपना सूक्त इस प्रार्थना के साथ समाप्त किया है:

अंजनगंधिं सुरभिम् वह्वन्नाम् अकृषीवलाम्।
प्र अहम् मृगाणाम् मातरम् अरण्यानीं अशंसिषम्॥

(अंजन सी गंधवाली, सौरभ से भरी, विना जोते-बोये ही प्रचुर अन्न देनेवाली, और वन्य जतुओ की माता अरण्यानी की मै प्रशंसा करता हूँ।)

भारतीय मानव ने अपने को जिस परिवेश मे पाया, उस—आदिकालीन भारतीय वनो के परिवेश-प्रतिवेश—से उसे प्यार हो गया। वेदों में इसकी प्रचुर चर्चा है। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त वनभूमि और कृपिभूमि की अपनी पैदावारों के द्वारा सभी का भरण करने वाली विश्वं-

भरा पृथ्वी के प्रति प्रेम की व्यजनाओं से ओतप्रोत है। महाभारत के बहुलाश की पृष्ठभूमि वन-प्रदेश ही है। रामायण का भी यही हाल है। यह उन पुराचीन दिनो के वीर पुरुप तथा शाश्वत अहल्या वनभूमि, दोनों का ही एक महान् महाकाव्य है। वाणभट्ट के उस अत्युच्च आभिजात्य-पूर्ण संस्कृत रोमास 'हर्पचरित' मे सातवें अध्याय के अन्त की ओर भारतीय साहित्य का यह महान् शब्द-चित्रकार केन्द्रीय भारत के विन्ध्याचल पहाडो की जगली बस्ती का परम प्रोज्ज्वल वर्णन उपस्थित करता है। सातवी शती के उस उत्तर-भारतीय संस्कृत लेखक की रचना के इस मनोहर प्रकरण के अनुशीलन के बाद बीसवी शती के बंगाल के आधुनिक लेखक की कृति 'आरण्यक' को पढने मे और भी अधिक रस मिलता है तथा उसका समझना और भी सरलतर हो उठता है।

धरती माता का सान्निध्य ही मानव का प्राकृतिक परिवेश है। इसी परिवेश मे मानव का अध्ययन करने में आनन्द पाने वालो को भारतीय साहित्य मे प्रकृति के स्थान का विषय बहुत ही रोचक प्रतीत होगा। जान पडता है कि भारतीय मानव ने सदा ही अपने आपको विश्व के अन्य भागों के वासियो की अपेक्षा प्रकृति के निकटतर माना है। प्रारम्भिक दिनों की भारतीय कला मे तथा युगो-युगो के भारतीय साहित्य मे इसका निदर्शन प्रचुर परिमाण मे मिलता है। भारत के व्यतिरेक मे उसके पड़ोसी चीन ने बहुत प्रारम्भिक काल मे ही प्रकृति के प्रति एक निर्लेप-भावना-सी विकसित कर ली थी। तभी से प्रकृति के सबध मे चीन की दृष्टिभंगी आभिजात्य रीतिग्रस्तता से कृत्रिम रही है। साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि यह दृष्टिभगी अत्यन्त ही सुसंस्कृत रही है। बहुत-कुछ वैसी ही, जैसी सुसंस्कृतता कि आधुनिक मानव की विशिष्टता मानी जाती है। अन्तर्मुखीनता के विकास तथा नगरो मे सिमटे मानव के आवासो के वन से विच्छिन्न हो उठने के कारण यह दृष्टिभगी आजकल के नर-नारी के लिए नितात प्रसम हो चली है। विभूतिभूपण वंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' इन दोनो ही प्रवृत्तियो के समन्वय का प्रतीक है। वह प्रकृति की परि-

सीमा मे सर्वात्मना जमे हैं। सच पूछिए तो लगभग उसके अग ही बन गये हैं। पर साथ ही, वह अपने आपको प्रकृति से निर्लिप्त कर लेने में भी समर्थ है, तटस्थ होकर उसकी रमणीकता, उसके ऐश्वर्य तथा उसके सर्वाच्छन्नकारी पहलुओं पर मनन करने में तथा फिर भी उससे अप्रभावित रह सकने में समर्थ हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति के प्रति उनकी दृष्टिभंगी मानव की सर्वग्रासी आवश्यकताओ के आगे प्रकृति और उसके अंगभूत जंगलों के पराभूत किये जाने पर गहन विषाद की दृष्टिभंगी है। जहाँ कभी आदिकालीन जंगल का ही एकछत्र राज्य था, वहाँ मानव की फूलती-फैलती बस्तियों की स्थापना करके धरती का मुखड़ा ही बदल डालने वाले अपने श्रमकृत्यो की उस लीलास्थली से विदा होते समय वह मन-ही-मन इन चिन्तनों में पड जाते है :

"नाढ़ा बैहार पार हो गया, तो पालकी से गर्दन निकाल कर एक बार उलट कर देखा।

बहुतेरी बस्तियां, लोगों की बातचीत, बच्चो की हँसी-किलकारी, चीख-पुकार, गाय-भैस, फसल के गोले। छै-सात साल मे घने जंगल को काटकर यह हँसता हुआ, हरा-भरा जनपद मैंने ही बसाया है। सब कल यही कह रहे थे—'आपके काम को देखकर हम लोग भी दंग हो गए है बाबूजी, नाढ़ा और लबटोलिया क्या था और क्या हो गया।'

मैं भी यही सोचता चला—'नाढा लबटोलिया क्या था और क्या हो गया।'

दिगंत मे खोए हुए महालिखारूप पहाड़ और मोहनपुरा जगल को मैंने दूर से नमस्कार किया—

'हे वन के आदिम देवताओ, मुझे क्षमा करना। विदा!'"

वन एवं देहाती बस्तियो की आत्मा को यह कृति हमारे आगे साक्षात् ला खडा करती है और हमें प्रकृति तथा मानव दोनों को प्यार करना सिख-लाती है। इस दृष्टि से बडी ही उच्च कोटि के सृजनात्मक साहित्य के रूप

में इसका जो मूल्य है, सो तो है ही, उसके अतिरिक्त इसका एक और भी महत्त्व है। प्रकृति को अपनी सेवा मे लगानेवाला तथा अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप बनाने के लिए धरती का दृश्यमान स्वरूप बदल डालनेवाला मनुष्य मानव की सबसे विशिष्ट स्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है। अपनी इन विशिष्टतम स्थितियों के बीच मानव के बहुरूपदर्शी चल-शोभापट का यह कृति एक सच्चा लेख्य भी है। बिहार के बगाल से सटे एक कोने मे प्रकृति मानव के अनिवार्य आक्रमण के फलस्वरूप धीरे-धीरे पीछे हटती जा रही है। उस कोने के जीवन की एक अवस्था-विशेष के ताज़ा और सच्चे चित्र के रूप मे, जन-मानस को प्रसन्न एवं भावाकुल करने वाले अमूल्य अभिलेख के रूप में, यह पुस्तक सदा अद्वितीय बनी रहेगी।

आशा है, साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित अनुवादो के माध्यम से भारत की विविध भाषाओं के पाठक इस महान् साहित्यिक सृष्टि का आस्वादन कर सकेंगे। इन पंक्तियों के लेखक की तरह वे भी इसे एक बार पढ लेने पर फिर इससे नाता तोड लेने मे कदापि समर्थ न होंगे।

त्रिचूर, केरल
२० फरवरी १९५७

सुनीतिकुमार चटर्जी

जहाँ मनुष्यों की आबादी है, उसके पास कहीं घना जंगल नहीं है। जंगल है बहुत दूर, जहाँ गिरे हुए पके जंबुफल की गंध से गोदावरी-तट की हवा भाराक्रांत हो उठती है। 'आरण्यक' उसी कल्पना-लोक का विवरण है। यह भ्रमण-वृत्तांत नहीं है, न ही डायरी है—यह उपन्यास है। अभिधान में लिखा है—उपन्यास के मानी हैं गढ़ी हुई कहानी। हम अभिधानकार की बात को मान लेने को विवश हैं; लेकिन 'आरण्यक' की पृष्ठभूमि बिलकुल कपोल-कल्पित नहीं है। कोसी नदी के उस पार ऐसे दिगंत-विस्तृत प्रांतर पहले थे, आज भी हैं। और, दक्खिन भागलपुर तथा गया के जंगल-पहाड़ तो प्रसिद्ध ही हैं।

प्रस्तावना

सारे दिन दफ्तर की जीतोड़ मेहनत के बाद शाम को मैं गढ़ के मैदान में किले से सटकर बैठा था।

पास ही था बादाम का एक पेड़। चुपचाप जरा देर उस पेड़ के सामने किले के पास की लहरों के समान आँकी-बाँकी जमीन को जरा देखा। अचानक ऐसा लगा, जैसे मैं लवटोलिया के उत्तरी सरस्वती-कुंड के किनारे शाम को बैठा हूँ। दूसरे ही क्षण पलासी गेट की राह में मोटर का भोंपू बज उठा।

बात बहुत दिनों की है; पर ऐसा लगता है, जैसे कल की ही हो।

कलकत्ता के इस कर्म-कोलाहल में डूबे रहकर जब लवटोलिया बैहार या आजमाबाद के उस जंगली भूभाग, उस चाँदनी, स्तब्ध अँधेरी रात, धू-धू करते हुए कसाल और झाऊ के जंगलों, क्षितिज में खोई पर्वत-पंक्तियों, गहरी रात में दौड़ती हुई नीलगायों के पैरों की आवाजों, तपी दोपहरी में सरस्वती-कुंड के किनारे प्यासे जंगली भैंसों, उस अपूर्व और अनोखे शिला-खंड वाले प्रांतर में रंग-बिरंगे वनफूलों की शोभा और रक्तपलाश के खिले जंगलों की बात आज सोचता हूँ, तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी छुट्टी के दिन साँझ को निंदियारी हालत् में मानो एक सौंदर्य-भरे जगत् का सपना देखा था, वैसा जगत् इस संसार में कहीं नहीं है।

और केवल वन-जंगल ही नहीं, कितने ही प्रकार के मनुष्य देखे थे।

कुंता . . . मुसम्मात कुंता की बात याद हो आती है। मानो आज भी वह गरीबिन सुंगठिया बैहार के बेर-वन से अपने बच्चों के लिए बेर बीन-बीनकर घर-गिरस्ती चलाने में व्यस्त है। अथवा जाड़े की चाँदनी रातों में मेरी जूठन के आसरे आजमाबाद की कचहरी के अहाते में एक-तरफ, कुएँ के पास खड़ी है।

धतुरिया की याद आती—नर्तक-बालक धतुरिया···!

दक्खिन में अकाल पड़ा था, सो नाच-गाकर अपनी रोटी कमाने के लिए धतुरिया आया था लवटोलिया के उन जन-विरल जंगली गाँवों में··· माढ़ा और गुड़ मिलने पर उसके होंठों पर खुशी की हँसी कैसी निखरती! घुँघराले बाल, बड़ी-बड़ी आँखें, कुछ-कुछ औरतों-जैसी भाव-भंगी—तेरह-चौदह साल का खूबसूरत-सा लड़का। उसके न बाप था, न माँ थी—दुनिया में अपना कहने को कोई नहीं था—इसीलिए उस छोटी उम्र में उसे आप अपनी रोटी की फिक्र करनी पड़ती थी... समय के बहाव में कहाँ वह गया वह! और, महाजन धौताल साहू याद आता...जैसे मेरे फूँस वाले बँगले के कोने में बैठा सरौते से सुपारियाँ काट रहा है। घने जंगल में अपने झोंपड़े के पास बैठा बेचारा राजू पाँडे अपनी तीन भैंसों को चराता हुआ गा रहा है—

'दया होईजी...'

महालिखारूप पहाड़ की तराई में वसंत उतर आया है। लवटोलिया बैहार में जहाँ देखो, पीले फूलों का मेला-सा लग गया है। धूप से जला दुपहरिया का ताँबे-जैसा आसमान बालू के तूफान से धुँधला हो गया है। रात को महालिखारूप में जगमग अग्निमालिका—सखुए के जंगल में लोगों ने आग लगा दी है। कितने ही गरीब बच्चों, नर-नारियों, न जाने कैसे-कैसे खूँखार महाजनों, गवैयों, लकड़हारों और भिखमंगों की अजीब जीवन-यात्रा से परिचय हुआ! अपने बंगले में बैठा-बैठा रात को शिकारियों के अजीबो-गरीब किस्से सुनता—जिन्होंने मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट में जंगली भैंसों को फँसाने की ताक में भैंसों के देवता, विराट्काय देवता को देखा था।

इन्हीं की बातें मुझे कहनी है। संसार में जिस रास्ते पर सभ्य मनुष्यों का आवागमन कम है, उस रास्ते से न जाने कितनी ही अद्भुत जीवन-धाराएँ अजाने चट्टान-कगारों के बीच से चुपचाप बहती हैं, उनकी स्मृतियाँ आज भी नहीं भूल सका।

मगर अपनी यह स्मृति आनंद की नहीं, दुःख की है। स्वच्छंद प्रकृति की वह लीला-भूमि मेरे ही हाथों विनष्ट हुई। मैं जानता हूँ कि इसके लिए वन-देवता मुझे कभी माफ न करेंगे। सुना है, अपने से अपने अपराध की बात कहने से उसका भार थोड़ा हल्का होता है।

इस कहानी की अवतारणा इसीलिए हुई है।

पहला परिच्छेद

[एक]

वात पंद्रह-सोलह साल पहले की है। वी० ए० पास करके कलकत्ता में वेकार वैठा था। खाक तो वहुत जगहों की छानी, फिर भी कोई नौकरी नही नसीव हुई।

सरस्वती-पूजा का दिन। मेस में चूँकि वहुत दिनों से रह रहा था, इसलिए वे निकाल तो नही सकते थे, मगर मारे तकाजों के मैनेजर ने नाक मे दम कर रखा था। मेस में सरस्वती की प्रतिमा विठाई गई थी। धूम-धाम भी कुछ वुरी नही हो रही थी। सुवह उठकर मै सोचने लगा, आज तो सव जगह छुट्टी है। एकाध जगह कुछ उम्मीद भी थी, तो आज तो कही भी कुछ होने-हवाने से रहा। उससे तो यही वेहतर है कि घूम-घूम-कर मूर्तियाँ देखता फिरूँ।

इतने मे मेस का नौकर जगन्नाथ कागज की एक चिट थमा गया। पढकर देखा, मैनेजर ने तकाजा लिख भेजा था। सरस्वती-पूजा के उपलक्ष मे आज मेस मे खान-पान की खास तैयारी की गई है। मेरे जिम्मे दो माह के रुपए वाकी पड़े हैं। सो नौकर के हाथ कम-से-कम दस रुपए तो जरूर ही भिजवा दूँ। यदि यह न वन पडे, तो कल से अपने खाने का कही और ठिकाना करूँ।

वात तो वडी वाजिव थी ; पर अपनी कुल पूँजी महज दो रुपए और कुछ आने पैसों की ही थी। कोई जवाव दिए विना ही मैं मेस से वाहर निकल पड़ा। मुहल्ले मे कई जगह पूजा के वाजे वज रहे थे, गली के मोड़ पर जमा होकर वच्चे शोर मचा रहे थे। अभय हलवाई की दूकान में तरह-तरह की ताजी मिठाइयाँ थालियों मे सजी रखी थीं। मुख्य मार्ग में कालेज-होस्टल

के फाटक पर नौवत वज रही थी। फूलों की माला तथा पूजा का और वहुत-सा सामान लिये लोग-वाग वाजार से लौट रहे थे।

सोचा, आखिर कहाँ जाऊँ? साल-भर से ज्यादा हो गया कि जोड़ासाँको स्कूल की नौकरी छोडकर वैठा हूँ—वैठा तो वास्तव में नहीं हूँ, नौकरी की तलाश मे ऐसा कोई व्यापारी-दफ्तर नही, ऐसा कोई स्कूल नही, ऐसा कोई अखवार का कार्यालय, ऐसा किसी वड़े आदमी का घर नही, जिसकी कम-से-कम दस वार खाक न छानी हो। मगर सव ओर से वही एक जवाव—'जगह खाली नही है।'

अचानक रास्ते मे सतीश से भेंट हो गई। हिंदू होस्टल में हम दोनों साथ रहते थे। फिलहाल वह अलीपुर में वकालत करता है। ऐसा नही लगा कि वकालत से खास कुछ पल्ले पड़ता है। वालीगंज की तरफ कही कोई ट्यूशन है, ऐसी स्थिति में वही इस संसार-सागर में उसके लिए डोंगी है। डोगी की वात तो दूर रही, अपने को तो टूटे मस्तूल का कोई टुकड़ा भी नसीव नही। जहाँ तक गोते खाना वदा है, खा रहा हूँ। सतीश को देखकर यह वात थोड़ी देर के लिए भूल गया। भूलने का यह भी कारण हो गया कि छूटते ही सतीश ने पूछा—"अरे, सत्यचरण! कहाँ चले? चलो, जरा हिन्दू होस्टल की पूजा देख आएँ—अपनी पुरानी जगह है। शाम को वहाँ महफ़िल भी है—जरूर आना। वार्ड छ. के उस अविनाश की याद है? अरे वही अविनाश, मैमनसिंह के किसी जमीदार का लड़का! अव तो वह नामी गवैया है। शाम को उसका गाना है, मेरे नाम भी कार्ड भेजा है। मैं कभी-कभी उसकी जमीदारी का काम-धाम देखा करता हूँ न! जरूर आना, तुम्हे देखकर वहुत खुश होगा वह।"

कालेज मे पढ़ते समय—पाँच-छः साल पहले—आनन्द मिल जाने पर और किसी के लिए मन नही चाहता था। देखा, अभी भी मन का वह भाव गया नही है। होस्टल मे पूजा देखने गया, तो वहाँ दोपहर के भोजन का न्योता मिल गया। अपनी तरफ के जाने-पहचाने वहुत-से लड़के वहाँ थे—नही ही आने दिया उन लोगो ने। लाख कहता रह गया—"भई

महफ़िल तो शाम को है, अभी से क्या करना। मेस से खा-पीकर वक्त पर आ जाऊँगा।" मगर उन्होंने मेरी एक न सुनी।

कही उन्होंने मेरी सुनी होती, तो त्योहार का वह दिन मुझे फाके पर ही गुज़ारना पड़ता। मैनेजर की उस कड़ी चिट्ठी के वाद मेस मे खीर-पूडी की दावत मुझसे तो नही खाई जाती—और जवकि मुझसे एक रुपया भी देते नहीं वना। यह अच्छा ही हुआ। भरपेट, खा-पीकर महफ़िल मे जा वैठा। तीन साल पहले के छात्र-जीवन की वेताव उमंग फिर लौट आई। फिर कौन तो यह याद रखता है कि नौकरी मिली कि नही मिली, मेस का मैनेजर मुँह लटकाये वैठा है कि नही वैठा है। ठुमरी और कीर्तन के उमड़ते हुए सागर में इस कदर डूव गया कि यह भी भूल वैठा—यदि वकाया न चुका पाया, तो कल से हवा पीकर जीने की नौवत आयगी। महफ़िल टूटी, तो रात के ग्यारह वज रहे थे। अविनाश से वाते हुई। होस्टल मे हम दोनों डिवेटिंग क्लव के दीवाने थे। एक वार हम लोगो ने सर गुरुदास वंद्योपाध्याय को सभापति वनाया था। विपय था—'स्कूल-कालेजों मे वाध्यतामूलक धर्मशिक्षा का प्रवर्त्तन उचित है।' अविनाश था प्रश्न पूछने वाला और मैं था प्रतिवादी पक्ष का नेता। दोनो ओर के तुमुल तर्क के वाद आखिर सभापतिजी ने अपनी राय हमारी तरफ दी। तव से अविनाश से अपनी गाढ़ी मित्रता हो गई; यद्यपि कालेज से निकलने के वाद उससे फिर यही पहली मुलाकात है।

अविनाश ने कहा—"मेरी गाडी है। चलो, तुम्हे छोड दूँ। रहते कहाँ हो?"

मेस के दरवाजे पर मुझे गाडी से उतारकर वह वोला—"सुनो, कल चार वजे शाम को हैरिंग्टन स्ट्रीट मे मेरे घर चाय पीना। भूल मत जाना। तैंतीस वटे दो—लिख लो!"

दूसरे दिन हैरिंग्टन स्ट्रीट का पता लगाया और अविनाश का मकान भी ढूँढ निकाला। मकान खास वड़ा तो नहीं था; पर आगे-पीछे वाग लगा था। फाटक पर विस्टारिया की लत्तड, नेपाली दरवान और पीतल

की नेम-प्लेट लगी थी। लाल सुरखी की सड़क बनी थी, सड़क के एक तरफ सब्ज़ लॉन और दूसरी तरफ चंपा और आम के बड़े-बड़े पेड़। ऐसी भूल कर सकने की कहीं से कोई गुंजाइश ही नहीं थी कि मकान किसी बड़े आदमी का नहीं है। जीने के ऊपर पहुँचते ही बैठक थी। अविनाश ने आकर मुझे आदर से बिठाया। फिर हम दोनो बीते दिनो की बातो मे मशगूल हो गए। अविनाश के पिता मैमनसिह के एक बड़े जमीदार है, मगर आजकल कलकत्ता के मकान मे वे लोग है नही। पिछले अगहन मे अविनाश की बहन की शादी थी। उसी सिलसिले मे जो गाँव गये है, सो अभी तक लौटे नही।

इधर-उधर की बातो के बाद अविनाश ने पूछा—"तो इन दिनों कर क्या रहे हो?"

मैंने कहा—"जोड़ासाँको स्कूल मे मास्टरी करता था। आजकल बेकार ही हूँ। मास्टरी करने का अब इरादा नही है। शायद कोई और जुगत लग जाय—एकाध जगह से कुछ उम्मीद बँधी है।"

वास्तव मे कही से भी कोई उम्मीद नहीं थी ; परंतु अविनाश ठहरा बड़े आदमी का लाडला। बहुत बड़ी जमीदारी का मालिक था वह। कहीं वह ऐसा न समझे कि मैं वहाँ किसी जगह का उम्मीदवार हूँ, इसीलिए ऐसा कह दिया।

कुछ सोचकर अविनाश बोला—"तुम-जैसे योग्य आदमी को नौकरी मिलने में बेशक देर नही होगी। मुझे तुमसे कुछ कहना है। तुमने तो कानून भी पढ़ा था—है न?"

मैंने कहा—"पास भी कर लिया था, लेकिन वकालत करने का मन नही है।"

अविनाश बोला—"पूर्णियाँ जिले मे अपना एक जंगल—महाल पड़ता है—कोई पच्चीस-तीस हजार बीघे का। वहाँ हमने एक नायब जरूर रख छोड़ा है, मगर इतनी अधिक जमीन के बंदोबस्त का उस पर भरोसा नहीं

किया जा सकता। हमे एक योग्य व्यक्ति की तलाश है। वहाँ तुम जाना पसंद करोगे क्या ?"

मुझे पता था कि अपने कान बहुत बार लोगो को धोखा देते हैं। अविनाश यह कह क्या रहा है। जिस नौकरी के लिए मै पूरे साल-भर से कलकत्ता की गलियो की धूल फाँकता फिर रहा हूँ, उसी नौकरी का प्रस्ताव चाय के न्योते पर इतनी आसानी से विनमाँगे आ पहुँचा !

जो भी हो, अपना मान तो बचाना ही था। बड़े संयम से आवेश को पीकर अनमना-सा मैं बोला—"अच्छा, सोच-समझकर फिर बताऊँगा। कल तो हो तुम ?"

अविनाश खुले दिल का आदमी है। बोला—"यह सोचने-समझने की बात तो रहने दो। मै आज ही पिताजी को लिखे देता हूँ। हमे एक विश्वासी आदमी चाहिए। जमीदारी के काइयाँ कर्मचारियों से अपना काम नहीं चलने का। ऐसे लोग ज्यादातर चोर ही हुआ करते हैं। वहाँ तुम-जैसे पढ़े-लिखे और बुद्धिमान आदमी की जरूरत है। वह सारा इलाका हमें नये रैयतो के हाथ बंदोबस्त करना है। तीस हजार बीघे का जगल है—इतनी बड़ी जिम्मेदारी भला जिस-तिस पर कैसे छोड़ी जा सकती है ? तुमसे कुछ आज का परिचय नही, तुम्हारा एक-एक रग-रेशा मुझे मालूम है। तुम हामी भर दो और मै पिताजी से नियुक्ति-पत्र मँगवाए लेता हूँ।"

नौकरी मिल कैसे गई, विस्तार से यह बताना बेकार है, क्योंकि इस कहानी का उद्देश्य बिलकुल अलग है। थोड़े में कहूँ तो, चाय की उस दावत के दो हफ्ते बाद एक दिन मैं अपने सरो-सामान के साथ बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे के एक छोटे-से स्टेशन पर उतरा।

सर्दियो की साँझ। दूर तक फैले हुए प्रातर मे घनी छाया उतर आई थी—सुदूर वन-पंक्ति के माथे पर थोड़ा-थोडा कुहरा जमने लगा था।

रेलवे लाइन के दोनो ओर मटर के लहलहाते खेत---साँझ की सर्द हवा मे मटर के ताजे साग की भीनी खुशबू उडकर जो आई, तो ऐसा लगा कि जो जिंदगी मै शुरू करने जा रहा हूँ, वह बेहद सूनी होगी, वैसी ही सूनी, जैसी कि यह जाडे की साँझ है, जैसा सूना कि यह उदास प्रांतर और दूर की वह नीली वनश्रेणी है।

बैलगाडी पर पंद्रह-सोलह कोस चलना पडा---रात-भर चलता रहा। कंबल वगैरह ओढने का जो सामान साथ लाया था, टप्पर के अंदर सर्दी के मारे पानी हो गया। यह खबर किसे थी कि इधर इतनी करारी सर्दी पडती है! सुबह धूप निकलने तक चलता ही रहा। झाँककर देखा, जमीन की शक्ल बदल गई है, प्राकृतिक दृश्यो ने और ही रूप अपनाया है---कही खेत-खलिहान नही, गाँव-घर भी शायद ही कही है। जिधर देखिए जंगल और जगल---कहीं कुछ घने, कही कुछ छिछले, बीच-बीच मे खुला मैदान, मगर फसल का नाम तक नही।

दस बजे के करीब जमीदारी कचहरी मे पहुँचा। जंगल में दस-पंद्रह बीघे का रकबा साफ-सुथरा कर लिया गया था, जिसमे जंगल के बाँस-फूँस के बने हुए कई घर खडे थे। सूखी घास और झाऊ की बनी टट्टियाँ---उन पर मिट्टी की पुताई।

घर नये बने थे। अंदर दाखिल होते ही ताजे कटे रबड, अधकच्ची घास और बाँस की बू आई। पूछने से पता चला, कचहरी पहले जंगल के उस ओर कही और थी, मगर चूँकि वहाँ जाडे मे पानी की बेहद तकलीफ हो जाती थी, इसलिए हाल मे यहाँ बनवाई गई है। पास ही एक झरना बहता है, जिससे पानी की कमी नही पडती।

[तीन]

जिंदगी के ज्यादा दिन कलकत्ता मे बिताए। बधु-बांधवों का संग-साथ, पुस्तकालय, सिनेमा-थियेटर, यह सोच भी नही सकता था कि इनके सिवाय और भी जिंदगी हो सकती है। ऐसे मे नौकरी की गिनी-गिनाई कुछ

रपल्लियों की खातिर ऐसी जगह आ निकला हूँ, ऐसी सूनी जगह की कभी कल्पना भी नही की थी। दिन वीत रहे थे। दूर के पहाड़ और जंगलो पर पूरव-नभ मे सूरज का उगना देखा करता। फिर साँझ आए झाऊ और लंवी घास के जंगल को सिंदूर से रँगकर सूरज का डूवना देखता—इस उदय-अस्त के वीच जाड़े के ग्यारह घंटे का लंवा और उदास दिन मानो काटने दौड़ता हो। इन दिनों को किस तरह पार करूँगा, शुरू-शुरू में मेरे लिए यही वहुत वड़ी समस्या हो उठी। करने को काम तो वहुत सारे किये जा सकते थे, मगर मै नितांत नया था। लोगो की वोली भी अभी अच्छी तरह नही समझ सकता था, काम का वँटवारा भी करते नही वन रहा था। सो अपने साथ जो थोड़ी-सी कितावें ले आया था, उन्हीमें उलझकर किसी तरह दिन काटने लगा। कचहरी मे जो नौकर-चाकर थे, निरे जंगली से। न मेरी वात वे समझें, न उनकी मैं समझूँ। शुरू के दस दिन वड़ी तकलीफ से गुजरे। कितनी ही वार जी में आया, ऐसी नौकरी से वाज आया मैं। यहाँ घुट-घुट कर मरने से तो कलकत्ता में भूखा रहना कही वेहतर है। अविनाश के आग्रह पर इस जन-हीन जंगल में आकर वड़ी भूल की है मैंने। यह जिंदगी अपने लिए नही है।

रात को कमरे में वैठा यही सव सोच रहा था कि किवाड खोलकर वूढ़े मुहर्रिर गोष्ठ वावू अंदर आए। यहाँ यही एक ऐसे आदमी थे, जिनसे अपनी जुवान में वातें करके जी जुड़ाता था। कुछ नही तो सत्रह-अठारह साल से यह यहाँ है। वर्दवान जिले के वनपाश स्टेशन के पास किसी गाँव में इनका घर है। मैंने कहा—"गोष्ठ वावू, आइए, वैठिए...!"

दूसरी एक कुर्सी पर वे वैठ गए। वोले—"आपको अकेले मे एक वात कहने आया हूँ कि यहाँ के किसी आदमी पर एतवार मत कीजिए। यह अपना मुल्क नहीं है। यहाँ के लोग-वाग वडे वुरे हैं..."

मैं वोला—"लेकिन गोष्ठ वावू, अपनी तरफ के सव लोग, अच्छे ही हैं, ऐसा तो नही है।"

"वह मैं जानता हूँ मैनेजर वावू! उसी दुःख से और मलेरिया के

महीना भी काट दूगा और फिर अविनाश को लिखकर नौकरी से जवाव देकर कलकत्ता के वंधु-वांधवो के स्नेह-स्वागत के वीच, सभ्यो का खाना खाते हुए, सभ्य सुर के गीत सुनते हुए अनगिनती लोगो के आनंद-उल्लास भरे कठस्वर मे नई जिंदगी विताऊँगा।'

यह पता पहले थोड़े ही था कि मनुष्यो के वीच रहना इतना पसद है मुझे ! मनुष्य को इतना प्यार करता हूँ ! लोगों के लिए जो कुछ मुझे करना चाहिए, हर समय वह करते तो नही वनता शायद ; पर प्यार उन्हे जरूर करता हूँ। वरना उनसे दूर रहने से यह तकलीफ क्यो होती ?

प्रेसिडेंसी कालेज की रेलिंग पर वह जो वूढ़ा मुसलमान कितावे वेचा करता है, जाने कितनी वार वहाँ खड़ा-खडा पुरानी कितावो और मासिक-पत्रो के पन्ने पलटता रहा हूँ, कुछ खरीदना तो जरूर वाजिव था ; पर खरीद नहीं पाया—वह भी मानो नितांत अपना-सा लगा—उसे जाने कितने दिनो से नही देख पाया हूँ।

कचहरी लौट आया। अपने कमरे की मेज पर वत्ती जलाई और एक किताव खोलकर वैठा कि प्यादा मुनेश्वरसिंह सलाम वजाकर सामने खडा हो गया। पूछा—"क्या है मुनेश्वर ?"

इस वीच मै वहाँ की टूटी-फूटी वोली वोलने लगा था। उसने कहा—"मेरे लिए एक कड़ाही खरीद देने का हुक्म मुहर्रिर वावू को दे देते, तो वडी दया होती हुजूर!"

—"कडाही का क्या होगा ?"

पाने की उम्मीद से मुनेश्वर का चेहरा दमक उठा। उसने झुके हुए स्वर मे कहा—"लोहे की कडाही से सहूलियत कितनी होती है हुजूर। जी चाहे जहाँ साथ ले जाओ। उसमें चावल पकाया भी जा सकता है, खाया भी जा सकता है और सामान भी रक्खा जा सकता है। टूटने-फूटने का डर नही। मेरे पास कड़ाही नही है। न जाने कव से एक कडाही खरीदने की सोच तो रहा हूँ, मगर गरीव आदमी ठहरा। एक कड़ाही छै आने की आती है। इतने पैसे मै कहाँ से लाऊँ ? इसी से हुजूर के पास आया हूँ।

हुजूर मालिक हैं। कडाही खरीदने की इच्छा मेरी वहुत दिनों की हैं। अगर हुजूर की मजूरी मिल जाय।"

'लोहे की मामूली कड़ाही जो इतने काम की होती है और उसके लिए लोग रात को सपने भी देखा करते हैं—' अपने जीवन में ऐसी वात मैंने पहली वार सुनी। इतने भी गरीव लोग इस दुनिया में हैं, जो सिर्फ छै आने की एक कड़ाही पाकर समझते हैं कि मुट्ठी में स्वर्ग आ गया! सुना जरूर था कि इधर के लोग वड़े गरीव हैं। मगर इतने गरीव है, यह नहीं जानता था। वड़ी ममता हो आई।

मेरे हस्ताक्षर वाले कागज के एक टुकड़े को देकर दूसरे ही दिन मुनेश्वर सिंह नौगछिया वाजार से पाँच नवर की एक कड़ाही ले आया और मेरे कमरे की जमीन पर उसे रखकर मुझे सलाम करके खड़ा हो गया—"हुजूर की किरपा से कडाही हो गई!" खुशी से खिले उसके मुखडे की तरफ ताककर इतने दिनो के वाद आज पहली वार मुझे लगा—"वडे भोले हैं ये लोग। वड़ी तकलीफ है तो विचारों को!"



दूसरा परिच्छेद

[एक]

लाख कोशिश करने पर भी मैं यहाँ की इस जिंदगी से अपना मेल नही मिला पा रहा था। हाल ही में बगाल से आया, सारी जिंदगी कलकत्ता में गुजारी, ऐसा लग रहा था कि इस अरण्य भूमि का सूनापन चट्टान की तरह मेरे कलेजे पर सवार हो गया है।

किसी-किसी दिन तीसरे पहर मैं बडी दूर तक घूमने निकल जाता। कचहरी के पास तो फिर भी आदमी का कठस्वर सुनाई पडता था—दो-एक रस्सी आगे निकला नही कि जगली झाऊ और कसाल की भीड़ मे कचहरी गुम जाती और लगता, इस इतनी बड़ी दुनिया में बस मैं ही एक हूँ—अकेला। उसके बाद जितना ही आगे जाता—चौड़े मैदान के दोनो ओर घनी वन-पक्ति दूर तक चली गई है—जंगल और झाडियाँ, गजारी और बबूल के पेड, कँटीले बाँस और बेतो की झुरमुटें है। जंगल-झाड़ो के माथे-माथे डूबता हुआ सूरज सिंदूर छिडक देता, वनफूलो और तृण गुल्मो की भीनी खुशबू से लदी साँझ की बयार, झाड़ी-झाडी चिडियो की चहक से मुखरित, जिनमे हिमालय के तोते भी होते। खुला, घास से ढँका सुदूर-प्रसारी प्रातर और श्यामल वन-भूमि का मेला। ऐसे मे कभी-कभी यह भी जी में आता कि प्रकृति का जो रूप यहाँ देख रहा हूँ, वह और कही भी देखने को नही मिला। जहाँ तक आँखे जाती, वह सारा कुछ मानो मेरा ही है—मै ही यहाँ एकमात्र आदमी हूँ—मेरी निर्जनता भग करनेवाला कोई नही—और, उस खुले आसमान के नीचे सूनी सध्या में दूर दिगत की सीमा-रेखा तक मै अपने मन और कल्पना को फैला देता।

कचहरी से कोई कोस भर हटकर एक ढलवाँ जगह थी। वहाँ पर कई छोटे-छोटे पहाडी झरने झिर-झिर कर बहते थे। दोनो तरफ जलज

लिली की भीड़। कलकत्ता के वागो मे इसी लिली को 'स्पाइडर लिली' कहते है। मुझे जगली स्पाइडर लिली देखना कभी नसीव नहीं हुआ था, जानता भी नही था, ऐसे एकांत झरनों के पथरीले किनारों पर खिली लिली की इतनी शोभा होती है, हवा में ये इतनी भीनी और मीठी खुशबू बिखेरा करती है! कितनी ही वार यहाँ चुप-चाप बैठकर मैंने आसमान, साँझ और सूनेपन का उपभोग किया है।

वीच-वीच मे घोड़े पर घूमा करता। शुरू-शुरू मे घोड़ा चढना ठीक से आता नहीं था, वाद में अच्छी तरह आ गया। चढ़ना आ जाने पर मैंने जाना, इतना आनंद और किसी वात मे नही। ऐसे निर्जन आकाश-तले दिगंत-व्यापी वन-प्रांतर मे जिसने कभी घोडे की पीठ पर सैर नही की हो, उसे यह समझा सकना मुश्किल है कि वह आनंद क्या है! कचहरी से दस-पंद्रह मील के फासले पर सर्वेपार्टी की नाप-जोख चल रही थी। आज-कल प्राय: रोज सवेरे एक प्याला चाय पीकर जो घोडे की पीठ पर बैठता, सो कभी तीसरे पहर लौटता, तो कभी लौटते-लौटते जंगल के माथे पर तारे निकल आते, आसमान में वृहस्पति झलमला उठता। चाँदनी रात मे वन-फूलों की महक चाँदनी मे घुल जाती, स्यारो का 'हुक्का-हुआ' शब्द रात के पहर की सूचना देता, झीगुरों का दल एक स्वर में झी-झी करता रहता।

[दो]

जिस काम के लिए यहाँ आया था, उसकी कोशिशें चल रही थीं। हजारो वीघे जमीन की नाप-जोख करना कोई आसान वात तो थी नही। फिर यहाँ आकर एक और वात मेरी समझ में आई। आज से तीस साल पहले ये सारी जमीनें नदी के पेट मे समा गई थी। वीस साल हुए फिर से वाहर निकली है; लेकिन यहाँ के जो लोग उस समय अपने वाप-दादों की जमीन छोड़कर लाचार होकर और कही जा वसे थे, जमींदार उन पुराने रैयतो को इस पर दखल नही देना चाह रहे थे। मोटी सलामी और ज्यादा मालगुजारी के लोभ से वे नई रैयतो को वसाना चाहते थे और उस घर-

बार विहीन गरीव रिआया को, जो अपने वाजिव हक से वचित की गई थी, लाख आरजू-मिन्नत करने और रोने-धोने के वावजूद भी जमीन नहीं दी जा रही थी।

वहुत-सी रैयत मेरे पास भी पैरवी करने पहुँची थी। उसकी हालत देखकर सचमुच ही तकलीफ होती थी, मगर पुरानी रैयतो के हाथ जमीन वन्दोवस्ती का हुक्म ही नही था ; इसलिए कि कही यदि एक वार उन्हें उस पर वैठने की गुजाइश हो गई, तो वे कानूनन अपने हक का दावा भी कर सकते हैं। जमीदार को लाठी का जोर ज्यादा था, वेचारी रैयत के पास न जमीन थी, न घर ; आज वीस साल से वह जीविका के लिए भटकती घूम रही थी ; कोई मजूरी पर पेट चला रहा था, किसी-किसी के पास मामूली सी जोत जमीन थी, वहुतेरे इस ससार से कूच भी कर चुके थे, जिनके वाल-वच्चे नावालिग और निरीह थे—ऐसे में वलवान जमीदार के खिलाफ वे खडे भी होते, तो धार में अडने वाले तिनके-से वह जाते।

लेकिन नई रैयत लाई जाय, तो कहाँ से ? मुगेर, पूर्णियाँ, भागलपुर, छपरा—पास-पड़ोस के जिलों से जो लोग आते थे, सलामी और माल-गुजारी की दर सुनते ही भडक जाते। कोई-कोई दो-चार वीघे ले भी रहे थे। अगर यही मद्धिम गति वन्दोवस्ती की रही, तो दस-दस हजार वीघे जमीन को रैयतो के वीच वाँटने मे वीस-पच्चीस साल का अरसा लग जायगा।

यहाँ से उन्नीस मील पर अपनी एक कचहरी और थी—वह भी घने जंगल का इलाका था। उस जगह का नाम था नवटोलिया। जगल जैसा यहाँ था, वैसा ही वहाँ भी। मगर वहाँ कचहरी रखने का मतलव यह था कि वह जगल गाय-भैंस चराने के लिए हर साल ग्वालों को मालगुजारी पर उठा दिया जाता था। इसके सिवा वहाँ कोई दो-तीन सौ वीघे का वेर का जंगल था। लोग लाह की खेती के लिए उसे लगान पर लिया करते थे। इन रुपयो की वसूली के लिए वहाँ दस रुपये माहवार पर एक पटवारी और छोटी-सी कचहरी रक्खी गई थी।

वेर के वन को इजारा देने का समय आ रहा था। घोडे की पीठ पर

सवार होकर एक दिन मै नवटोलिया के लिए रवाना हुआ। बीच मे कोई सात-आठ मील लम्वा लाल मिट्टी का एक ऊँचा मैदान पडता था, जिसे 'फुलकिया वैहार' कहते थे। जाने कितनी तरह के पेड-पौधे और झाडी-झुरमुटों से भरा था यह वैहार! कही-कही जंगल इतना घना था कि पेड़ों के डाल-पत्ते घोडे को लगते थे। जहाँ यह वैहार समतल पर जा उतरा था, वही पथरीली जमीन पर एक छोटी-सी पहाड़ी नदी वहती थी—चानन। वरसात में उसमें काफी पानी रहता। अभी सर्दी के दिनो मे उतना पानी नही था।

नवटोलिया मै पहली वार गया था। मामूली-सा घर था कचहरी का—रवड़ की छौनी, कसाल और झाऊ के डाल-पत्तों से तैयार की गई थी घेरे की टट्टियाँ। साँझ से कुछ पहले पहुँचा। जहाँ मै रहता था, वहाँ ऐसी करारी सर्दी नही थी, यहा वेर डूवने के पहले ही सर्दी से मानो जम जाने की नौवत आ गई।

प्यादों ने सूखी लकड़ियाँ वटोर कर आग जलाई, उसी के पास कैंप-चेयर पर मै वैठ गया—और-और लोग आग के चारो ओर गोल वना कर वैठे।

पटवारी जाने कहाँ से एक पाँच सेर की रोहू मछली जुगाड कर लाया था। अव समस्या यह सामने आई कि उसे पकाए कौन? मेरे साथ रसोइया नही था। मै अपने आप भी रसोई वनाना नही जानता था। सात-आठ आदमी वहाँ मुझसे मिलने आए थे। मेरे इन्तजार मे वे वहाँ पहले से ही वैठे थे। उन्ही में से कंटू मिश्र नाम के एक मैथिल ब्राह्मण को पटवारी ने रसोई के काम में लगा दिया।

मैंने पटवारी से पूछा—"यही लोग इजारे के लिए आए है?"

उसने कहा—"जी नही हुजूर, ये तो आए है खाने के लिए। आपके यहाँ आने की खवर जो हुई, सो ये आज दो दिन से यही पड़े हैं। इधर ऐसा ही होता है। कल शायद और भी लोग आएँ।"

ऐसी बात मैंने पहले कभी नहीं सुनी। कहा—"मगर मैंने तो इन्हें न्योता नही दिया है?"

—"हुजूर, ये बेचारे बेहद गरीब है। भात खाना इन्हे कभी नसीब ही नही होता। बारहो महीने ये उडद और मकई का सत्तू खाकर ही गुजारा करते है। सो भात इनके लिए बहुत बडी बात है। आपका आना सुना, समझा यहाँ दो मुट्ठी भात मिलेगा। इसी लोभ से आ धमके। कल तक देखिए, और न जाने कितने लोग आते है!"

मुझे लगा, इनके मुकाबले अपनी तरफ के लोग बहुत सभ्य हो गए है? कह नही सकता क्यो, उस रात मुझे भात के लोभी ये सीधे-सादे लोग बड़े भले लगे! आग के चारो तरफ बैठे वे आपस मे बातें करते रहे, मैं बैठा-बैठा उनकी बातें सुनता रहा। पहले तो वे मेरे पास की आग के समीप बैठना ही नही चाह रहे थे—सम्मान की दूरी रखने के लिहाज से। मैं खुद उन्हे बुला लाया। पास ही कटू मिश्र आसन की लकड़ियाँ झोंक कर मछली पका रहा था—धुएँ के साथ धूप-जैसी गंध उड रही थी। आग के पास से हटने पर ऐसा लग रहा था, कि मानो बर्फ की बारिश हो रही हो। इतनी सर्दी!

खाते-पीते रात बहुत बीत गई। कचहरी मे जितने भी लोग थे, सबने खाया। खा-पीकर फिर सब आग को घेर कर गोल होकर बैठे। सर्दी के मारे नसो का खून तक जैसे जमता आ रहा था। शायद खुली जगह होने से ऐसी कडाके की सर्दी थी, या हो सकता है, हिमालय पास पडता है इसलिए।

आग के पास हम सात-आठ आदमी बैठे थे। घर दो ही थे छोटे-छोटे, खड के। एक मे मुझे रहना था, दूसरे मे बाकी सबको। हमारे चारो तरफ फैला था अँधेरा जगल और मैदान, ऊपर तारों से भरा दूर-व्यापी अंधकार मे आच्छादित आकाश। मुझे बडा अजीब-सा लगा, मानो अपनी सदा की जानी-पहचानी दुनिया मे दूर महाशून्य की किसी गुहा मे एक अजानी और रहस्यमयी जीवन-धारा में मैं जा पडा हूँ।

इतनी वड़ी भीड़ मे से तीस-वत्तीस की उम्र के एक आदमी ने मुझे सवसे ज्यादा आकर्पित किया। नाम था उसका गनौरी तिवारी; साँवला रग, दोहरा वदन, वडे-वडे वाल, कपाल पर टीका। इस कड़ाके की सर्दी में भी उसके वदन पर मोटिया की एक चादर के सिवाय और कुछ नही था। इधर मिरजई पहनने का आम रवाज है, उसके वदन पर वह भी न थी। वडी देर से मै यह गौर से देख रहा था कि वह सबकी तरफ कैसे कुठित भाव से ताक रहा है। वह किसी के भी कहने का कोई प्रतिवाद नही करता था, गो कि वह वात किसी कद्र कम नहीं कर रहा था।

मै जो भी कहूँ, उसी पर वह कह उठता—"हुजूर!"

इधर के लोग जव किसी वडे या आधिकारी की वात माने लेते, तो महज आगे की तरफ को जरा सिर झुकाकर कहते—"हुजूर!"

गनौरी से पूछा—"तिवारीजी, तुम रहते कहाँ हो?" उसने मुझे कुछ इस तरह ताका, मानो मुझसे उसे इतना सम्मान पाने की उम्मीद न थी, वह सोचता ही न हो कि मै सीधे उससे कुछ पूछ भी सकता हूँ! वोला—"भीमदास टोला, हुजूर!"

उसके वाद उसने अपनी राम-कहानी कह सुनाई। एक साँस में जरूर नहीं सुनाई। मैंने जैसे-जैसे पूछा, वैसे-वैसे, रुक ठहर कर।

जव वह वारह साल का था, उसका वाप उसे छोड गया। वूढी फूफी उसे पालने लगी। पॉच-छ साल के वाद फूफी भी चल वसी। तव गनौरी भाग्य की खोज में दुनिया मे निकल पडा। दुनिया भी उसकी वहुत ही महदूद थी—पूरव में पूर्णियाँ शहर, पच्छिम मे भागलपुर जिले की सरहद, दक्खिन, यह फुलकिया वैहार और उत्तर मे कोसी नदी, वस। यही थी उसकी दुनिया की हद। इसी चौहद्दी के अन्दर इस-उस गाँव में कभी किसी के यहाँ पूजा करके, तो कभी किसी पठशाला मे गुरुअई करके वडी मुश्किल से उडद के सत्तू और मड़ए की रोटी जुटा कर वह अपना पेट पालता था। वहरहाल वह अव दो महीने से वेकार है। परवत्ता गाँव की पाठशाला उठ गई। दस हजार वीघे का यह फुलकिया वैहार जंगल-झाड से भरा, न वहीं

गाँव, न कोई बस्ती। इन जगलो मे जो भैसवाले भैस चराने आए थे, उन्हीं के बथानो पर माँग-माँग कर जीविका चला रहा था। उसे आज खबर मिली कि मै आ रहा हूँ, सो औरो के संग वह भी आ पहुँचा।

क्यो आ पहुँचा वह, यह बात और भी मजे की थी।

—"ये इतने लोग यहाँ क्यों आए है तिवारीजी?"

—"हुजूर, लोगो ने बताया कि कचहरी में मैनेजर बाबू आए हैं, यहाँ भात की जुगत बैठेगी। लोग-बाग इसीलिए आए है और मै भी उनके साथ आ गया हूँ।"

—"यहाँ के लोगो को क्या भात नही मिलता?"

—"भात कहाँ नसीब होता हैं हुजूर! नौगछिया के मारवाडी लोग रोज भात खाया करते हैं। यही समझिए कि मुझे आज कोई तीन महीने में भात के दर्शन हुए है। पिछले भादो की सकरात के दिन रासविहारी-सिंह राजपूत के यहाँ न्योता था। वही भात खाया था—बस।"

जितने भी लोग आए थे, कपडा उनमे से किसी के भी बदन पर न था। रात को आग ताप कर ही वे लोग रह लेते थे। रात की आखिरी घडियों मे जब सर्दी ज्यादा बढ जाती, किसी भी कदर नीद नही आती, तो वे आग के पास और सिमट जाते और जाग कर सबेरा करते।

जाने ये सब लोग अचानक मुझे इतने भले क्यो लगे! इनकी यह गरीबी, यह भोलापन और जीवन के इस कठोर-सग्राम मे जूझते रहने की ऐसी क्षमता। इस अँधेरी वन-भूमि और बर्फ बरसाने वाले आसमान ने इन्हें विलासिता की फूल बिछी राह पर नही जाने दिया—इन्हे वास्तविक मर्द बना दिया। दो मुट्ठी भात खाने की खुशी मे जो बेबुलाए नौ-दस मील की मंज़िल मार कर भीमदास टोला और परबत्ता से यहाँ आ गए—उनके आनन्द ग्रहण की शक्ति कितनी पैनी है—मै यह सोच कर दग रह गया।

बहुत रात बीते किसी की आवाज से नीद उचट गई। मारे सर्दी के मुह निकालना भी मुहाल था। चूँकि यह पता नही था कि यहाँ इस कदर

सर्दी पड़ती है, इसलिए जितने चाहिए थे, गरम कपडे और तोशक-लिहाफ साथ नही लाया था। कलकत्ता मे जो कंबल बराबर ओढ़ा करता था, उसी को लाया था। रात के चौथे पहर मे वह कन्कन् पानी-सा हो जाता। जिस करवट सोता, शरीर की गरमी से, उधर फिर भी किसी तरह का रहता, मगर जहाँ करवट बलदता, लगता पूस की रात मे किसी पोखर मे उतर पड़ा हूँ। पास ही जगल से पैरों की आहट आ रही थी—कुछ तो दौड़ते जा रहे थे, मानो—पेड़-पौधो, सूखे झाऊ के पौधों को पटापट तोड़ते हुए दौड़े जा रहे थे।

समझ नही सका कि आखिर माजरा क्या है। मैंने प्यादा विष्णु पांडेय और गुरुजी गनौरी तिवारी को आवाज दी। वे निंदियाई आँखों से दौड़े आए। जो आग रात जलाई गई थी, उसकी आखिरी आभा में उनके चेहरे का आलस, संभ्रम और नीद का भाव झलक उठा। जरा कान लगा कर गनौरी तिवारी बोल उठा—"वह कुछ नही हुजूर, नीलगायों का झुड जंगल में दौड़ रहा है।"

कहना खत्म करके वह फिर सो जाना चाहता था कि मैंने पूछा—"इतनी रात गए ये नीलगायें आखिर दौड़ क्यो रही है?"

मुझे ढाढस देते हुए प्यादे ने कहा—"किसी जानवर ने पीछा किया होगा, और क्या?"

—"किस जानवर ने?"

—"जानवर और क्या, जगली जानवर, शेर होगा या भालू—"

एकाएक मेरी नजर अपने कमरे के दरवाजे पर जा टिकी। कसाल की बनी महज एक टट्टी। इतनी हल्की कि बाहर से कोई कुत्ता भी मुँह मारे तो दूसरे दम अन्दर आ गिरे। ऐसे में यह कहना फिजूल है कि बगल के जंगल मे बाघ-भालू नीलगायो पर टूटे हैं, इस खबर से मैं निश्चिन्त नही हो सका।

कुछ ही देर मे सवेरा हो गया।

[तीन]

दिन जाने लगे और जगल की माया मुझे कसकर जकडती चली गई। इसके इस सूनेपन और साँझ के सिन्दूर बिखरे झाऊ-वन मे ऐसा कौन-सा जादू है, नही जानता। धीरे-धीरे मुझे ऐसा लगने लगा कि इस सुदूर प्रसारी वन-प्रातर को छोडकर, यहाँ की धूप से जली माटी की ताजी खुशबू, वन-फूलो की महक, यह आजादी और यह उन्मुक्तता छोड कर अब कलकत्ता की हलचल मे लौट सकना सभव नही।

ऐसा नही कि यह खयाल एक ही दिन मे हुआ हो। कितने रूप और बाने से मेरी मुग्ध और अनभ्यस्त दृष्टि के आगे आ-आकर जो इस वन्य प्रकृति ने मुझे लुभाया!—कितनी साँझ तो वह आई माथे पर अनुपम रक्तमेघ का मुकुट पहने, चिलचिलाती दोपहरियो मे आई उन्मादिनी भैरवी के वेश मे, कभी गहरी रात मे ज्योत्स्नावरणी सुर-सुन्दरी का रूप लिये हिमस्निग्ध वन-फूलो की गध मले—गले मे आकाश भरे तारो की माला—अँधेरी रात मे कालपुरुष का अग्निखड्ग हाथ मे लिये विराट् कालीमूर्ति के रूप मे।

[चार]

एक दिन की बात तो मै आजीवन न भूल सकूँगा। याद है, उस दिन होली थी। प्यादो ने छुट्टी ली थी और तमाम दिन ढोलक-झाँझ बजाकर होली खेलते रहे थे। शाम तक भी उनका नाच-गान खत्म नही हुआ था। यह देख कर मैने कमरे की बत्ती जलाई। और बडी रात तक अपने कार्यालय के पत्रादि लिखे। घडी देखी। एक बज रहा था। मारे ठढ के मानो जम रहा था। मैने एक सिगरेट सुलगाई और खिडकी से बाहर झाँका। बाहर जो झाँका, तो मुग्ध और विस्मित होकर खडा ही रह गया! जिस चीज ने मुझे इस कदर मोह लिया, वह थी पूनो की चाँदनी। ऐसी चाँदनी कि बयान नही किया जा सकता।

जब से आया, जाडो के दिन होने की वजह से शायद काफी रात गए

कभी वाहर नही निकला, या दूसरे जिस किसी कारण से भी हो, फुलकिया वैहार मे परिपूर्ण चॉदनी रात का रूप मैंने आज ही पहली वार देखा था।

दरवाजा खोल कर मैं वाहर जा खड़ा हुआ। कही कोई नही था। प्यादे सारे दिन के मौज-मजे के वाद थक कर सो गए थे। घनघोर सन्नाटा, निस्तव्ध और सूनी रात। उस चाँदनी रात का वर्णन नही हो सकता। वैसी छायाविहीन चाँदनी मैंने जिन्दगी मे कभी नही देखी, कभी नही। वडे-वडे पेड इधर कम ही है, झाऊ के छोटे-छोटे पौधे और कसाल। इनमें कुछ खास छाया नही होती। चकमकाती वालू मिली यहाँ की माटी और अधसूखे कास-वन पर उतर कर चाँदनी ने एक ऐसे अपार्थिव सौन्दर्य की सृष्टि की थी कि देख कर भय-सा हो गया। एक कैसा उदास, वधनहीन भाव मन मे जाग पड़ा, मन हाहाकार कर उठा। चारो ओर निगाह फैलाकर उस मौन निशीथ में, चाँदनी से धुले आसमान के नीचे खडे-खड़े ऐसा लगा कि जैसे मैं किसी अजाने परी-देश में जा निकला हूँ—यहाँ मनुष्य का कोई नियम-क़ानून नही लग सकता। ये जन-विहीन एकान्त कोने गहरी रात हुए चाँदनी के आलोक से परियों की क्रीडा-भूमि वन जाते है। मैंने यहाँ अनधिकार प्रवेश करके अच्छा नही किया।

इसके वाद तो फुलकिया वैहार की चाँदनी रात कितनी ही बार देखी—फागुन के वीचोवीच जव दुधली फूल खिल कर सारे मैदान में रगीन गलीचा विछा देते, तव वैसी कितनी ही चाँदनी से नहाई शुभ्र रातो मे मैं जी भर कर हवा से दुवली फूलो की मीठी सुवास लेता रहा हूँ। हर वार जी में यही आया किया कि चाँदनी भी ऐसी अपूर्व हो सकती है, यह ऐसा भी भय-मिश्रित उदासी का भाव मन मे जगा सकती है, अपनी तरफ रहते हुए कभी ऐसा सोच भी तो नही सका! उस चॉदनी की रूप-रेखा रखने की कोशिश भी न करूँगा, वैसे सौन्दर्य लोक का जव तक प्रत्यक्ष परिचय नही होता, तव तक कानो से सुन कर या पढ कर उसकी हर्गिज उपलव्धि नही हो सकती—होना मुमकिन नही। केवल वैसा ही मुक्त आकाश, वैसी ही निस्तव्धता, वैसा ही सूनापन, वैसी ही दिगंत विसर्पित वन-पक्ति के वीच

गाई। आग की आभा से झोपडे के अन्दर कभी-कभी पीतल का एकाध वर्त्तन झकमका उठता था। आग के चारो ओर गाढे अँधेरे का घेरा, घना जंगल। मैने कहा—"क्यों गोनू, इस घने जंगल मे अकेले रहते हो, जीव-जन्तु का डर नही लगता?" वह वोला—"डरने से क्या हम गरीवो का गुजारा है हुजूर, यही रोजी ठहरी। उस दिन रात को झोंपडे के पीछे वाघ आ निकला। भैस के दो वच्चे है। उन्ही पर उसकी नजर है। आहट पाते ही जग पडा। कनस्तर पीटता रहा, मशाल जलाई, चीख-पुकार मचाई, फिर तमाम रात सो नही सका हुजूर। जाड़ो मे तो ऐसा होता ही रहता है।"

—"खाते आखिर क्या हो यहाँ? दूकान तो है नही—चीजे कहाँ मिलती है? चावल, दाल—"

—"चीजे खरीदने को अपने पल्ले पैसे कहाँ है हुजूर और हमें क्या बंगाली वावुओं की तरह खानें को रोज भात नसीव होता है? पास ही जगल के पिछवाड़े दो वीघा जमीन है। खेडी उपजती है। जगल मे वथुआ मिल जाता है। खेडी और वथुआ उवाल लेता हूँ, थोड़ा-सा नमक ऊपर से। यही अपना खाना है। फागुन मे जगल मे गुरमी होती है, नमक से कच्ची गुरमी मजे की लगती है। लत्तड़ होती है उसकी-छोटा-छोटा फल। इधर के गरीव लोग महीना भर तो गुरमी खाकर ही काट देते है। गुरमी के लिए दुनिया-भर के लोग यहाँ आते रहते है।"

पूछा—"आखिर रोज-रोज खेड़ी और वथुआ उवाल कर खाना अच्छा लगता है?"

—"और दूसरा उपाय ही क्या है हुजूर? दोनो जून भात कहाँ से नसीव हो? इलाक़े-भर में केवल दो ही आदमी दोनो जून भात खाते हैं—रासविहारीसिंह और नन्दलाल पांडेय। तमाम दिन भैसो के पीछे दौडता है, शाम को लौटते-लौटते इतनी तेज भूख लग जाती है कि जो भी मिल जाता है, वही अच्छा लगता है।"

मैने पूछा—"तुमने कलकत्ता शहर देखा है गोनू?"

—"जी नही हुजूर, सुना है। भागलपुर एक बार गया हूँ—बड़ा भारी शहर है। हवागाड़ी देखी। अचरज की चीज है हुजूर। न घोड़ा, न कुछ और मजे मे चलती है।"

इस उम्र में उसकी ऐसी तन्दुरुस्ती देख कर ताज्जुब हुआ। उसमें हिम्मत भी है, यह भी मानना पड़ा।

गिनी-चुनी ये भैंसे ही गोनू के गुजारे का एकमात्र सहारा थी। जंगल में दूध तो खैर कहाँ बिकता, वह मक्खन निकाल कर घी गलाता। तीन महीने का घी जमा करके यहा से नौ मील दूर धरमपुर बाजार मे मारवाडियो के हाथ बेच आता। इसके सिवाय खेडी का दो बीघा खेत था। खेड़ी तो इधर के लगभग सभी गरीबो का प्रधान खाद्य ही ठहरा। गोनू मुझे कचहरी तक पहुँचा गया। मुझे वह इतना अच्छा लगा कि कितनी ही बार साँझ को मै वहाँ गया। झोपडे के सामने आग तापते हुए उससे बातें की। गोनू से उधर की जितनी खोज-खबर मिली, उतनी कोई नही दे सकता।

कितने ही अजीबो-गरीब किस्से गोनू से मैंने सुने। उडने वाले साँप की कहानी, जीते पत्थर की कहानी, तुरन्त पैदा होकर चलने वाले लडके की कहानी, और भी न जाने क्या-क्या। जंगल के उस निर्जन पारिपार्श्विक में वे कहानियाँ बडी उपयोगी और रहस्यमय मालूम होती—यो मै जानता हूँ कि अगर कलकत्ता में उन्हे सुनता, तो वे अनोखी और झूठी लगती। जो भी कहानी जहाँ-कही भी नही रुचती, कहानी का माधुर्य उसकी पृष्ठभूमि और पारिपार्श्वक पर कितना ज्यादा निर्भर करता है, यह कहानी-प्रिय प्रत्येक व्यक्ति जानता है। गोनू के सभी अनुभवो मे से जगली भैसो के देवता टॉडबारो का किस्सा मुझे बड़ा आश्चर्यजनक लगा।

लेकिन चूँकि उस किस्से का एक अद्भुत उपसंहार है, इसलिए उसे यथास्थान कहूँगा। एक बात बताए देता हूँ कि गोनू की ये कहानियाँ रूप-

कथा नही, उसकी अपनी अभिज्ञता थी। गोनू ने जिन्दगी को देखा है, मगर दूसरे ढग से। सारी जिन्दगी जगल मे बिता कर वह जंगली प्रकृति का विशेषज्ञ बन गया था। उसकी बाते यो ही उडा देने लायक नही। मुझे यह भी नही लगा कि इतनी बातें गढ कर कहने-जैसी कल्पना-शक्ति उसमें है।

तीसरा परिच्छेद

[एक]

गरमी के दिन आते ही पीरपैंती की तरफ से उडकर वगलो की जमात ने ग्राट साहव के वरगद पर अड्डा जमा दिया। दूर से ऐसा लगता था कि पेड़ की चोटी सफेद फूलो से लद गई है।

एक रोज मैं अवसूखे कास के वन के किनारे मेज लगाकर काम कर रहा था कि मुनेश्वरसिंह प्यादे ने आकर कहा—"हुजूर, नन्दलाल ओझा गोलावाला आपसे मिलने आए है।"

जरा ही देर में, प्राय पचास साल का एक वूढा आदमी मेरे सामने आया और सलाम करके खड़ा हो गया। मेरे इशारे से वह पास की तिपाई पर वैठ गया। बैठते ही उसने एक रेशमी वटुआ निकाला, फिर वटुए मे से एक वहुत ही छोटा सरौता और दो सुपारियाँ निकाल कर काटने लगा। दोनों हाथो मे कटी सुपारी रखकर आदर से मेरी ओर वढाता हुआ वह वोला—"लीजिए हुजूर!"

इस तरह से सुपारी खाने की मेरी आदत तो नही थी, पर भद्रता के नाते ले ली। पूछा—"आप कहाँ से आ रहे है। क्या काम है?"

उसने जवाव में वताया—उसका नाम नन्दलाल ओझा है, मैथिल व्राह्मण। यहाँ से ग्यारह मील दूर जगल के उत्तर-पूरव कोने मे सुंगठिया दीयरा में उसका घर है। काश्तकारी है, कुछ महाजनी भी। अगली पूर्णिमा के दिन मुझे अपने घर भोजन करने का न्योता देने आया है। उसने पूछा—"क्या आप मेरे घर अपने चरणो की धूल देने को कृपा करेंगे? यह सौभाग्य पा सकूगा मै?"

ग्यारह मील चल कर न्योता खाने की अपनी इच्छा नही थी, लेकिन

ओझा बुरी तरह पीछे पड़ गया। लाचार होकर मैंने हामी भर दी। इधर के लोगो के बारे में कुछ जानकारी पाने का लोभ भी छोडते न बना।

पूर्णिमा के दिन भरी दोपहरी मे कास की झुरमुटो से किसी का हाथी आता हुआ दिखाई पडा। हाथी मेरी कचहरी मे आकर रुका। महावत से मालूम हुआ, वह नन्दलाल ओझा का अपना हाथी है। मुझे लिवा लाने के लिए भेजा है।—"इसकी कोई जरूरत तो नही थी। अपने घोडे से मै इससे कम ही समय मे पहुँच सकता था। खैर।"

हाथी से ही रवाना हुआ। हरे-भरे वन का माथा मेरे पैरो तले और आकाश मानो मेरे माथे से आ लगा। दूर-दूर तक फैली गिरिमाला ने इस वनभूमि को घेर कर जैसे किसी मायालोक की रचना की हो और मै उसी मायालोक का अधिवासी होऊँ—स्वर्ग का देवता। कितनी ही मेघमालाओ के नीचे के श्यामल भूमि-खडो पर के नील वायु-मडल को पार करता हुआ मेरा यह अदृश्य आवागमन!

रास्ते मे चमटा की खाई मिली। सर्दियो का अन्त हो रहा था, फिर भी सिल्ली और बत्तखो के झुडो से खाई भरी थी। जरा और गरमी पडी नही कि ये उड भागे। जगह-जगह गरीब बस्तियाँ। काँटो से घिरे तम्बाकू के खेत और झोपड़े।

हाथी आखिर सुगठिया में पहुँचा। मैंने देखा—मेरे स्वागत मे रास्ते के दोनो ओर कतार बाँधे लोग खडे है। गाँव मे घुसते ही थोड़ी दूर पर नन्दलाल का घर था।

आठ-दस घर अलग-अलग एक बहुत बडे आँगन से सम्बद्ध। मै घर मे दाखिल हुआ कि अचानक बन्दूक की दो आवाजे हुई। मै चौक-सा गया। इतने मे सामने आकर नन्दलाल ने मेरा स्वागत किया। अन्दर ले जाकर एक बरामदे मे कुर्सी पर मुझे बिठाया। कुर्सी सीसम की लकडी और गाँव के ही कारीगर के हाथ की बनी थी। इसके बाद दस-ग्यारह साल की एक लडकी हाथ मे थाली लिए मेरे सामने आ खड़ी हुई—थाली मे कई तो थे पान के पत्ते, कई समूची सुपारियाँ, मधुपर्क के-से एक छोटे कटोरे मे जरा-

सा इत्र, दो-चार सूखे खजूर ; इनका क्या करना होता है, यह मुझे मालूम न था। मैं अनाड़ी जैसा हँसा और अँगुली की कोर डुबा कर केवल जरा-सा इत्र-भर लेकर रह गया। उस बच्ची से दो मीठी बातें की। वह थाली वहीं रखकर चली गई।

उसके बाद आई खाने की बारी। मैंने यह सोचा भी नही था कि नन्दलाल ने खाने का ऐसा जम कर इन्तजाम किया है। बैठने के लिए लकड़ी का एक बहुत बड़ा पीढ़ा। उसके सामने आई एक इतनी बड़ी पीतल की थाली, जैसी कि हमारी तरफ पूजा का प्रसाद बाँटने के लिए होती है। थाली में परसी गई हाथी के कान जितनी बड़ी पूरी, बथुआ का साग, खीरे का रायता, कच्ची इमली की तरकारी, भैस के दूध का दही, पेड़े। खाने की चीजों का ऐसा अनोखा मेल मैंने और कही नही देखा था। आँगन मे मुझे देखने वालो की भीड़ लग गई। सब मुझे कुछ इस तरह से ताकने लगे, मानो मै कोई अनोखा जीव हूँ। पता चला, ये सब लोग नन्दलाल की रैयत है।

साँझ से पहले जब मै चलने लगा, तो नन्दलाल ने एक छोटी-सी थैली मुझे थमाकर कहा—"हुजूर का नजराना।" मै हैरत में आ गया। थैली में काफी रुपए थे। पचास से कम न होगे। नजराने मे कोई किसी को इतने रुपये क्यो दे भला, फिर नन्दलाल तो अपनी रैयत भी न था। भेट लौटा देना भी शायद अपमान समझा जाता हो। सो मैंने थैली मे से एक रुपया निकाल लिया और थैली उसे देते हुए बोला—"इन रुपयो के बच्चो को पेड़े ला देना।"

नन्दलाल थैली लेने को किसी भी तरह राजी नही था। मैंने उसकी सारी अनसुनी कर दी और बाहर आकर हाथी पर सवार हो गया।

दूसरे ही दिन नंदलाल मेरी कचहरी में हाजिर ! साथ मे पहुँचा उसका बड़ा लड़का। मैंने उनकी बहुत आव-भगत की ; लेकिन वे खाने को हर्गिज राजी न हुए। पता चला कि दूसरे ब्राह्मण की बनाई रसोई मैथिल ब्राह्मण नही खाते। इधर-उधर की बहुतेरी बातें हुईं। अंत मे नंदलाल ने अपनी सुनाई कि उसका यह लड़का फुलकिया बैहार की तहसीलदारी

का उम्मीदवार है। कृपा करके इसकी बहाली करनी पडेगी। मैंने अचरज से कहा—"यहाँ का तहसीलदार तो पहले ही से है। वह जगह खाली कहाँ है?" जवाव में नदलाल ने कनखी मारकर कहा—"मालिक तो आप हैं हुजूर, आप चाहे तो क्या नहीं हो सकता?"

मुझे और भी अचरज हुआ—"कहते क्या है आप? बेचारा तहसीलदार अच्छा ही काम कर रहा है, उसे आखिर अलग किस कसूर पर करूँ।"

नदलाल वोला—"हुक्म फरमाएँ, हुजूर को पान खाने के लिए कितने रुपए पेश करूँ। आज ही साँझ को रुपए हाजिर हो जायँगे। मगर यह तहसीलदारी हुजूर मेरे वेटे को देनी ही पड़ेगी। कितने रुपए हाजिर करे—पाँच सौ?"

अव मेरी समझ मे आया कि नंदलाल के न्योते का वास्तव में मतलव क्या था। अगर मै यह जानता होता कि इधर के लोग ऐसे फरेवी है, तो हरगिज भी न जाता। यह तो अच्छी मुसीवत मोल ली मैंने!

मैंने नदलाल को साफ-साफ ही कहकर रुखसत किया। मगर यह भी मै समझ गया कि वह अभी ना-उम्मीद नहीं हुआ है।

और एक दिन देखा कि जंगल के किनारे खडा हुआ नन्दलाल मेरी राह देख रहा है।

किस वुरी साइत में इस कवख्त का न्योता खाने गया था। अगर मालूम होता कि दो पूरियाँ खिलाकर यह इस कदर मेरी नाक मे दम कर देगा, तो उसकी छाया भी न छूता!

मीठा हँसकर वह वोला—"नमस्ते हुजूर!"

—"हुँ। क्या खवर है?"

—"खवर क्या हुजूर से छिपी है। मै हुजूर को वारह सौ रुपए नकद देने को तैयार हूँ। मे` वेटे को उस जगह पर विठा दे।"

—"पागल हुए हो नदलाल। अरे, वहाल करने का मालिक मै थोडे ही हूँ। जिनकी जमीदारी है, उनके पास दरखास्त भेज सकते हो। फिर

बात यह भी है कि बहरहाल उस जगह पर जो काम कर रहा है, उसे किस कसूर पर छुड़ाया जाय ? ”

मैंने और ज्यादा कुछ न कहा—“ घोड़े को एड लगाई। अपने ऐसे रूखे व्यवहार से आखिर नंदलाल को मैंने अपना और जमीदारी का कट्टर दुश्मन बना लिया। तब भी मैं नहीं जान सका था कि वह कितना खौफनाक आदमी है। मुझे अच्छी तरह इसका फल भोगना पड़ा।

[दो]

उन्नीस मील दूर डाकघर से डाक लाना यहाँ की एक निहायत जरूरी घटना थी। इतनी दूर रोज-रोज आदमी भेज सकना तो सभव नही था, सो हफ्ते में दो बार डाक के लिए आदमी जाता था। मध्य एशिया की अपार और भयावनी मरुभूमि के तंबू में बैठे मशहूर पर्यटक सेवेन हेडिन भी शायद ऐसी ही बेसब्री से डाक का इतजार करते होगे। यहाँ आए आठ-नौ महीने हो गए। इस सूने वनप्रातर में सूर्यास्त, चद्रोदय, चाँदनी और नीलगायों की दौड़ को देखते हुए जिस बाहरी दुनिया से अपना सारा सबंध ही चुक गया था, डाक से आनेवाली कुछेक चिट्ठियों से कुछ हद तक वह संयोग स्थापित होता था।

जवाहर्रसिह डाक लाने गया था। आज दोपहर को उसे डाक लेकर लौटना था। मैं बार-बार अंदर-बाहर कर रहा था। मेरी और उस बगाली मुहर्रिर बाबू की निगाह दूर जगल की ओर अटकी हुई थी। यहाँ से कोई डेढ़ मील पर एक टेकरी थी। राह उसी पर से गई थी। उस पर पहुचते ही जवाहर्रसिह साफ दिखाई पडता था।

दोपहर हो गई, मगर उसका कही भी पता नही। मैं कभी अंदर जाता, कभी बाहर चहलकदमी करता। यहाँ काम कुछ कम था नहीं। अलग-अलग अमीनों का विवरण पढना, रोज के रोकड़ पर हस्ताक्षर करना, सदर से आई हुई चिट्ठियो का जवाब देना, पटवारी और तहसीलदार की वसूली का हिसाब, आई हुई दरखास्तों पर कार्रवाइयाँ, मुंगेर, पूर्णियाँ, भागलपुर

में जो मामले लगे थे, उनके बारे मे वकील और कारिंदों के ब्योरे देखना और जवाब देना—और भी बहुत-से बडे-छोटे काम। रोज का काम रोज निबटा न लिया जाता, तो इतने काम जमा हो जाते कि जान पर आ बनती। और डाक के साथ तो ढेरो नई जिम्मेदारियाँ आ जाती—तरह-तरह के खत, तरह-तरह के हुक्म—यहाँ जाइए, उनसे मिलकर अमुक जगह बदो-वस्त कीजिए इत्यादि-इत्यादि।

दिन के कोई तीन बजे दूर पर जवाहरसिंह की सफेद पगडी चमकती दिखाई पडी। बगाली मुहर्रिर बाबू ने आवाज दी—"मैनेजर साहब, आइए, डाक-प्यादा आ रहा है। वह, वहाँ—"

मै दफ्तर से बाहर निकला। इतने में जवाहरसिंह टेकरी से उतर कर फिर जगल मे धँस पडा था। मैंने ऑपेरा-ग्लास मँगवाकर गौर से देखा, जगल की आड-ओट मे वह आता दिखाई दिया। दफ्तर मे फिर जी नही लगा। उफ, कैसा बेसब्र इतजार है! जो चीज जितनी ही मुश्किल से मिलनेवाली होती है, मनुष्य के लिए वह उतनी ही ज्यादा कीमती होती है। यह जरूर है कि वह कीमत मनुष्य की अपनी आँकी हुई, कृत्रिम होती है, जिस चीज को हम चाहते है, उसकी अच्छाई-बुराई से हकीकत में उसका कोई लगाव नही होता। मगर दुनिया की ज्यादा-से-ज्यादा चीजो पर हम एक नकली कीमत थोपकर उसे बडी-छोटी समझने के आदी है।

कचहरी के सामने ही बलुआही जमीन के उस पार आ धमका जवाहर-सिंह। मै कुर्सी पर से उठ गया। मुहर्रिर साहब आगे बढ गए। जवाहर ने उन्हे सलाम किया और जेब में से चिट्ठियाँ निकालकर उन्हे दी।

दो-एक पत्र मेरे अपने भी थे—बहुत ही जाने-पहचाने अक्षर। उन्हे पढते-पढते अपने चारो ओर के जगल को ताक कर मै अवाक् रह गया। यह मै हूँ कहाँ! जिंदगी मे कभी स्वप्न मे भी नही सोचा था कि मै कभी ऐसी जगह भी रहूँगा, दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने गुजारूँगा। एक विदेशी पत्र का ग्राहक बन गया था। वह पत्र आज की डाक में आया था। ऊपर ही लिखा था—'हवाई डाक से'। जहाँ मारे आदमी के तिल धरने

की जगह नही, ऐसे कलकत्ता शहर में बैठकर क्या समझा जा सकता है कि बीसवी सदी के इस वैज्ञानिक आविष्कार की सहूलियत क्या है! यहाँ, इस सुनसान वियावान मे बहुत कुछ सोचने और सोचकर दंग रह जाने की गुंजाइश है—यहाँ की पारिपार्श्विक अवस्था वैसी अनुभूति ला देती है।

अगर सच कहूँ, तो कहूँगा कि जिंदगी में सोचने का सबक यही आकर पढा है। मन मे जाने कितनी ही बातें जगती, कितनी पुरानी बाते याद आतीं—अपने मन को इस तरह से उपभोग करने का मौका और कभी नही मिला। यहाँ हर असुविधा के बावजूद यह आनद नशे की तरह दिन-दिन मुझ पर सवार होता जा रहा था।

और सच पूछिए तो मैं प्रशात महासागर के किसी जन-हीन टापू में निर्वासित तो नही था! शायद बत्तीस मील पर रेल का स्टेशन था। चाहता तो महज घंटे भर मे पूर्णियां और तीन घंटे मे मुंगेर पहुँच सकता था; लेकिन एक तो स्टेशन तक जाना ही एक कठिन काम था, फिर वह कठिनाई झेली भी जा सकती, बशर्ते कि पूर्णियाँ या मुगेर जाकर कोई फायदा होता। जाकर लाभ भी क्या था, न वहाँ कोई मुझे पहचानता था, न मैं किसी को जानता था। जाकर भी क्या होगा?

कलकत्ता से आने के बाद किताबो और साथियो की कमी बेतरह खटकती रही। कितनी ही बार सोचा कि नही, यहाँ रहना अपने बस की बात नही। अपने लिए तो सर्वस्व कलकत्ता ही है। मुगेर और पूर्णियाँ में अपना पुरसाँहाल ही कौन है, जिसके पास जाऊँ? लेकिन सदर दफ्तर की इजाजत के बिना कलकत्ता जा नही सकता था, फिर खर्च इतना ज्यादा था कि सिर्फ दो-चार दिन के लिए जाना पुसाता नही था।

[तीन]

दुख-सुख से कई महीने गुजर जाने के बाद चैत खत्म होते-होते एक ऐसी घटना का सूत्रपात हुआ, जो मेरी अभिज्ञता में कभी थी ही नही।

पूस मे नाम-मात्र की बारिश हुई थी। उसके बाद ही से अनावृष्टि के आसार। माघ मे पानी नही पडा, फागुन में नही, चैत में नही, वैशाख मे नही। साथ ही जैसी पडी शिद्दत की गरमी, वैसा ही आया घोर जल-कष्ट।

केवल गरमी और जलकष्ट कहने से उस विभीपिका के प्राकृतिक विपर्यय का स्वरूप नही समझाया जा सकता। उत्तर मे आजमाबाद से दक्खिन मे किसनपुर तक, पूरब मे फुलकिया बैहार और नवटोलिया से लेकर पश्चिम मे मुगेर जिले की सरहद तक—सारे जगल मे जहाँ-जहाँ भी खाई, खदक, कुड थे, सब सूख गए। कुआँ खोदने से भी पानी नही मिलता था। बालू मे चुँआडी खोदने पर थोडा-बहुत पानी मिलता भी था; पर एक डोल पानी जमने मे घटा भर से ज्यादा लग जाता। चारो ओर हाहाकार मच गया। पूरब मे कोसी ही एकमात्र भरोसा थी, वह भी हमारे इलाके की पूरबी हद से सात-आठ मील पर थी—मशहूर मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट के उस पार। अपनी जमीदारी और मोहनपुरा होकर नेपाल की तराई से एक पहाडी नदी बहती थी, लेकिन इस समय बालू और चट्टानो मे उसके चरणचिह्न ही ढँके पडे थे। बालू खोदकर जो थोडा-सा पानी मिलता, उसी के लोभ से कितनी दूर-दूर के गाँवो से घडा लिये औरते जाती और तमाम दोपहर बालू-कीचड से माथा कूटकर आधा घडा कदोड पानी लिये घर लौटती।

किंतु यह पहाडी नदी, मिट्टी, हमारे किसी काम नही आती। बहुत दूर पडती थी। कचहरी मे पक्का बँधा कोई बडा कुआँ नही था। जो छोटा-सा कुआँ था भी, उससे पीने भर का पानी जुटा सकना एक समस्या हो उठी। महज तीन डोल पानी इकट्ठा होते-होते सबेरे से दोपहर हो जाती।

दोपहर मे बाहर खडे होकर ताँबे से तपे और आग उगलनेवाले आसमान तथा अधसूखे झाऊ और घास के जगल की ओर देखने में डर लगता। दिशाएँ जैसे धू-धू कर जल रही हो, बीच-बीच मे लहकती आग की लपटों से गरम हवा के झोके वदन को झुलसा देते। सूरज की ऐसी शकल, दोपहर

की धूप का ऐसा भयानक रुद्र-रूप न तो मैंने कभी देखा था और न इसकी कल्पना ही की थी। किसी-किसी रोज पश्चिम से वालू की आँधी उठती। इन इलाको मे चैत-वैशाख पछुवा हवा का समय है। कचहरी से सौ गज की दूरी की चीजें भी वालू और धूल के वादल से दिखाई नही पड़ती।

रामवनियाँ, टहलू प्राय. आकर वताता—"हुजूर, कुएँ मे पानी नही है। किसी-किसी दिन तो वह दिन मे घंटाभर उपछ-उपछ कर मेरे स्नान करने के लिए आवी वालटी गला हुआ कीचड़ ही ला देता। उस भयानक गरमी में उन दिनो वही अमूल्य था।

एक दिन दोपहर के वाद मैं कचहरी के पिछवाड़े एक वहेड़े के पेड़ की छाया में खड़ा था। सहसा चारों तरफ का नज़ारा देखकर मन मे आया, दोपहर की ऐसी शक्ल कभी देखी तो नही है, यहाँ से जाने के वाद कभी देख भी न पाऊँगा। वगाल की दोपहरी जनम-जनम से देखता रहा हूँ, जेठ की जलती हुई दोपहरी वहुत देखी, लेकिन उसकी ऐसी रुद्र-मूर्ति कहाँ! मुझे इस भीम-भैरव रूप ने मोह लिया। सूरज की तरफ ताका, जैसे एक विराट् आग का कुडा कैलसियम जल रहा है, हाइड्रोजन जल रहा है, निकेल और कोवाल्ट जल रहा है। जानी-अजानी सैंकड़ो प्रकार की गैसें और धातु एक करोड़ योजन व्यास की उस भट्ठी में एक साथ धधक रही है और उसी की धू-धू करती लपटे असीम शून्य के ईथर की परतों को पार करके फुलकिया वैहार और लोधर्ई टोले की दूर तक फैली तृणभूमि को छू रही हैं। उन लपटो ने हरियाली के रेशे-रेशे से रस को सोख लिया है और दिगंत को झुलसाकर नाश का तांडव नाचना शुरू कर दिया है। दूर तक आँखें दौड़ाईं, प्रातर में तमाम खेल रही थी तापतरगे और ताप से घिर आई थी। ऊपर-ऊपर धुवले कुहरे की परत। गरमी की दोपहरी मे यहाँ मैंने नीला आसमान क्यों नही देखा, देखा, ताम्राभ, मटमैला। एक भी गिद्ध या चील नही, चिडियाँ इलाके को छोडकर और कही चली गई हैं। इस दोपहर का कैसा अनोखा सौंदर्य निखर आया है! तीखे उत्ताप की उपेक्षा करके मैं वहेडे के नीचे कुछ देर तक खडा रहा। सहारा की मरुभूमि मैंने नही देखी, सेवेन हेडिन का

टकला-मकान रेगिस्तान नही देखा, गोवि नही देखी, मगर यहाँ दोपहर के इस रुद्र-भैरव रूप मे उन सभी जगहो की धुँधली झाँकी अवश्य मिल गई।

कचहरी से तीन मील पर पेड-पौधो की सघनता से घिरे एक कुड मे कुछ पानी था। सुना था, पिछले साल बरसात मे उसमे मछलियाँ खूब हुई थी। कुड मे गहराई थी। इसीलिए इस सूखे मौसम मे भी वह एक वारगी सूखा नही था। लेकिन उस कुड का पानी किसी के काम नही आता था। एक तो वहाँ से वडी दूर तक कही आवादी नही थी, दूसरे पानी तक पहुँचने मे वड़ी दलदल थी, पाँव रखिए कि कमर तक धँस जाय। घडा-भर कर किनारे पर लौट आने की उम्मीद ही न थी। एक वजह और भी थी कि उसका पानी अच्छा नही था, नहाने-पीने के बिलकुल योग्य नही। पानी मे क्या कुछ मिला था, पता नही , पर उसमे से एक अजीब-सी बू आती थी।

एक दिन जव पछुआ के हू-हू करनेवाले झोके धीमे पड़े और ताप कम हो आया, तो मै घोडे पर उस कुड के पास पहुँचा। पीछे ग्राट साहब के उस वडे बरगद की ओट मे सूरज डूब रहा था। कचहरी का थोड़ा-सा पानी वच जायगा, यह सोचकर मैने घोडे को वहाँ पानी पिलाना चाहा। जितनी ही दलदल चाहे हो, पानी पीकर घोडा जरूर निकल आयगा। सो मै झाडियाँ पार करके कुड के करीब गया। कुड के किनारे एक अद्भुत दृश्य नजर आया। कुड के चारो-तरफ आठ-दस छोटे-वडे साँप और तीन वड़े-वडे भैसे एक साथ पानी पी रहे थे। साँप सभी विषैले थे, करैत और शंखचित्ते, जो आम तौर पर इधर पाए जाते है।

ऐसे भैसे मैने और कभी नही देखे। वडे-वड़े सीग, वदन मे लंबे रोएँ और प्रकाड शरीर। पास मे न कोई वस्ती थी, न वथाना। फिर ये भैसे आए कहाँ से, कुछ समझ नही सका। सोचा—हो सकता है चरी की मालगुजारी न देनी पड़े, इस नीयत से चोरी-चोरी किसी ने कही आस-पास वथान रक्खा हो शायद! लौटकर कचहरी के पास पहुँचा कि मुनेश्वरसिह से भेट हो

गई। उससे जब इस सम्बन्ध मे पूछा तो वह चौंक उठा—"हनुमानजी की कृपा हुजूर कि सही सलामत लौट आए। वे पालतू नही, जंगली भैंसे थे हुजूर, खूँखार जंगली भैंसे! मोहनपुरा के जंगल से पानी की तलाश में आ गए होंगे। वहाँ कही पानी नही है।"

कचहरी मे तुरत ही यह बात फैल गई। एक स्वर से सब ने यही कहा—"भाग्य था कि बच गए हुजूर! बाघ से तो फिर भी बच सकते है आप, मगर जंगली भैंसे के हाथों पड़ने से खैर नही। और ऐसी साँझ को उस सुनसान मे अगर भैंसे टूट पड़ते, तो घोडे को भगाकर आप उनसे हर्गिज नही निकल सकते थे।"

उसके बाद से तो वह कुंड जंगली जानवरों के पानी पीने का एक प्रधान अड्डा बन गया। सूखा जितना ही बढ़ता गया, धूप की बढती हुई प्रखरता से दावदाह जितनी ही प्रचंड होती गई, क्रमश. खबर मिलने लगी कि उस कुंड में लोगों ने बाघ को पानी पीते देखा, जंगली भैंसे को पानी पीते देखा, हिरनो के झुंड को पानी पीते देखा—नीलगाय और जंगली सूअरों की तो बात ही क्या, ये दोनों जानवर तो यहाँ बहुत ही ज्यादा थे। एक दिन मैं खुद घोड़े पर सवार होकर चाँदनी रात में वहाँ शिकार को गया, साथ में तीन-चार प्यादे, दो-तीन बंदूकें भी थी। उस रात को जो दृश्य मैंने वहाँ देखा, वह जिंदगी भर नही भुलाया जा सकता। उसे समझने के लिए कल्पना में एक निर्जन चाँदनी रात और दूर तक फैले वन-प्रांतर की तसवीर आँक लेने की जरूरत है! जरूरत है कल्पना करने की—सारी वन-भूमि पर थमकते हुए एक अजीब सन्नाटे की। यद्यपि बिना अनुभव के वैसे सन्नाटे की कल्पना ही असभव है!

अधसूखे कसाल की गंध से सूखी बयार भर गई थी। बस्ती से बहुत दूर निकल आया था, दिशा का ज्ञान खो बैठा था।

कुंड में एक तरफ दो नीलगाये और एक तरफ दो हायना चुपचाप पानी पी रहे थे; कभी नीलगायें हायना को ताक लेती थीं, कभी हायना नील-गायों को। दोनों के बीच नीलगाय का दो-तीन महीने का एक नन्हा-सा

बच्चा खड़ा था। ऐसा करुणाजनक दृश्य मैंने कभी नही देखा—देखकर मुझे उन प्यास से आकुल निरीह जानवरो पर गोली चलाने की इच्छा नही हुई।

वैशाख बीत गया। बूद भर पानी का ठिकाना नही। एक नई मुसीबत आई। इस इतने बडे वन-प्रातर मे अक्सर राही भटक जाया करते थे। अब वैसे भटके हुओ की जान जाने की नौबत आ गई; इसलिए कि आस-पास कही पानी न था। फुलकिया वैहार से ग्रांट साहब के बरगद तक की विशाल वन-भूमि मे कही बूँद-भर भी पानी मिलने की गुंजाइश नही। एकाध जगह सूखे कुड थे भी, तो राह-भूले पथिको के लिए उन्हे ढूँढ निकालना आसान न था। एक रोज की घटना सुनाऊँ।

[चार]

दिन के चार बजे थे। गरमी के मारे किसी काम मे जी नही लग रहा था। न जाने कौन-सी किताब लेकर पढ रहा था कि रामविरिजसिह ने आकर इत्तला दी—"हुजूर, कचहरी के पश्चिम वाले उस टीले पर एक अजीब पागल-सा आदमी नजर आ रहा है, वह हाथ-पाँव के इशारे से कुछ बता रहा है।" मै बाहर निकला तो देखा, सचमुच ही टीले पर कोई खडा था। ऐसा लगा, शराबी की तरह झूमता-झामता वह इसी तरफ आ रहा है। कचहरी के जितने भी लोग थे, सब मुँह बाए उसी तरफ देख रहे थे। मैंने उसे लिवा लाने के लिए दो प्यादो को भेज दिया।

प्यादे उसे ले आए। उसके बदन पर कोई कपडा नही था। सिर्फ़ एक साफ धोती पहने था, चेहरा अच्छा था, रँग गोरा; लेकिन उसकी शकल बड़ी भयानक हो गई थी, गाल के दोनो किनारों से फेन छूट रहा था, दोनों आँखें गुडहल के फूल-जैसी गहरी लाल थी, और निगाह पागल-जैसी थी। बरामदे पर एक डोल मे पानी था—नजर पडते ही वह पागल की तरह उस पर टूट पडा। मुनेश्वरसिंह ने लपककर डोल को वहाँ से हटा लिया। उस आदमी को बिठाकर उसका मुँह खुलवाकर देखा, उसकी जीभ फूलकर

बड़ी घिनौनी-सी हो गई थी। बड़े कष्ट से उसकी जीभ को एक तरफ हटाकर बूँद-बूँद पानी उसके मुँह मे टपकाया गया। आध घंटे में वह कुछ होश में आया। नीबू का रस मिलाकर एक गिलास गरम पानी उसे पिलाया गया। धीरे-धीरे घंटे भर में वह चंगा हो गया। पता चला, घर उसका पटना है। लाह की खेती करने के इरादे से वह बेर के जंगल की खोज में इधर आया। पूर्णियाँ से दो दिन पहले ही चला है। आज दोपहर के लगभग वह इस हलके मे आया और भटक गया। जंगल का यहाँ एक-जैसा ही सिलसिला है, उसमे राह भूल जाना आसान बात है, खासकर किसी विदेशी के लिए। कल की उस खौफनाक लू-लपट में वह तमाम दोपहर भटकता फिरा, न किसी आदमी से कही भेंट हुई, न कही पानी की एक बूँद नसीब हुई। लाचार होकर रात में एक पेड़ के नीचे पड रहा। आज सुबह से फिर उसने चक्कर काटना शुरू किया। ठंढे दिमाग से जरा सूरज की तरफ देखकर सोचता तो दिशा का पता चल सकता था, कम-से-कम पूर्णियाँ तक तो लौट ही सकता था, लेकिन डर के मारे किंकर्त्तव्यविमूढ होकर कभी इधर, तो कभी उधर टकराता फिरा। दोपहर को देर तक जोर-जोर से चीखता-चिल्लाता रहा कि कोई आदमी मदद को मिल जाय ; मगर आदमी कहाँ ? फुलकिया बैहार मे बेर का जगल जिधर था, वहाँ से नवटोलिया, कोई दस-बारह वर्गमील के इलाके में कही बस्ती नही—सारा वन-प्रांतर जन-मानव-हीन और सुनसान। लिहाजा उसकी चीख-पुकार किसी ने नही सुनी, तो ताज्जुब क्या! उसके इस बेतरह डर जाने की एक वजह और भी थी। उसे लगा कि वह जिन (भूत) के चंगुल मे पड़ गया है। वह जान लिये बिना पिंड नहीं छोड़ने का। बदन पर उसके कुरता था। आज दोपहर के बाद मारे प्यास के सारे बदन मे ऐसी जलन शुरू हुई कि जाने कहाँ उसे उतार कर फेंक दिया। अगर इस कचहरी की महावीरी ध्वजा अचानक उसे दिखाई नही पड जाती, तो आज शायद वह जिंदा भी नही रह पाता।

ऐसी ही गरमी और जल-कष्ट के दिनो मे एक रोज दोपहर को खबर मिली कि मील भर दूर नैऋत कोने के जगल मे आग लग गई है। और

वह आग फैलती हुई इसी तरफ को वढती आ रही है। सुनते ही हम सव लपक कर वाहर निकल पड़े। देखा, धुएँ के वादल के साथ आग की लोल लपटे लपलपाती हुई आसमान को उठ रही है! उस दिन पछुआ के झोंके भी चल रहे थे। इस तीखी धूप से कसाल और घास तो अधसूखी होकर वारूद वन रही थी! किसी चिनगी ने छुआ नही कि सारी झाडी लहक उठी। चारो तरफ धुएँ के नीले वादल और आग की लपटे और चट्-चट् की आवाज। हवा के झोको के साथ-साथ आग की आड़ी-टेढी लपटे डाक-गाडी की तेजी से अपने फूस के इन घरों की तरफ मानो दौडी आ रही हो। सवके चेहरे पर हवाइयाँ उडने लगी। यहाँ रहने से तो झुल्स कर मरना होगा—आग आ ही धमकी!

सोचने का भी समय नही। कचहरी के कागजात, तहवील के रुपए, दस्तावेज, नक्शे—वहुत-कुछ थे। इनके अलावा हमारी निजी चीजें। सर्वस्व जाने की नौवत! सूखे चेहरे लिये डरी हुई आवाज मे प्यादो ने कहा—"आग तो आ गइल हुजूर!" मैंने कहा—"चीजे निकालना शुरू कर दो, सरकारी रुपए और कागजात सवसे पहले।"

कई आदमी उस जगल का सफाया करने में जुट पडे, जो आग और कचहरी के वीच में पडता था। जहाँ तक वन पडे, काटने की कोशिश की जाय। वथान वाले रैयतो ने आग को फैलते जो देखा, सो कचहरी को वचाने के लिए कुछ लोग दौड़ आए। पछुआ के झोको से ही उन्हे लगा कि कचहरी खतरे मे है।

एक अजीव नज्जारा था! पेड-पौधो को तोड़-मरोडकर अपनी जान लिये नीलगायें वेतहाशा भागी जा रही है, सियार सरपट भाग रहे है, कान खडे किए खरगोश दौड रहे है, जगली सूअरो का एक जत्था तो वच्चे-कच्चे के साथ घवराकर कचहरी मे होकर ही निकल गया! वथानो की वँधी भैंसे खोल दी गईं। प्राण लिये उनकी वह दौड, तोतो का एक दल इकट्ठा होकर माथे के ऊपर से उड भागा, उसके पीछे-पीछे निकला लाल वतखो का जत्था। तोतो की फिर एक जमात, उसी के पीछे कुछ

विल्ली। हैरत में आकर रामविरिजसिंह ने कहा—"पानी त कहीं नैं छै .. ई लाल वत्तख केरो जेरा कहाँ से ऐलै हो भाइ रामलगन ?" मुहर्रिर साहव आजिज़ आ गए। वोले—"अरे वावा छोड भी। यहाँ जान की पड़ी है और तुम्हें लाल वत्तख़ कहाँ से आए, इसकी कैफ़ियत चाहिए !"

वीस-एक मिनट मे आग पास ही आ पहुँची। घंटे भर तक दस-पद्रह लोग उससे इस क़दर जूझते रहे कि वयान नही किया जा सकता ! पानी का नाम नहीं, हरी डाले और वालू ही उससे लड़ने के औज़ार। धूप और आग के ताप से झुलस कर सवकी शक्ल राक्षस-जैसी खौफ़नाक हो उठी। सारे वदन मे राख और कालिख ! हाथ की नसे फूल उठी, कितनो के शरीर में फोले पड़ गए। इधर कचहरी के सारे असवाव—वक्से, खाट, आलमारी —निकाल-निकालकर वाहर फेंके जा रहे थे। कौन-सी चीज कहाँ गई, यह खवर किसे ? मैंने मुहर्रिर साहव से कहा—"नक़द और दस्तावेज आप अपने जिम्मे रक्खे।"

कोई लगाव न पाकर आग उत्तर दक्खिन होकर पूरव की तरफ़ दौड गई—किसी तरह से कचहरी तो वच गई। चीज़ें फिर से उठाकर अंदर रक्खी गई। पूरव आसमान को रँग कर वह प्रलयकर आग की लपटे रात-भर धधकती रही और भोर होते-होते मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट की सीमा पर जा धमकी।

दो-तीन दिन के बाद खवर मिली कि कारो और कोसी के किनारे दलदल में आठ-दस जगली भैंसे, दो चीते और कई नीलगायें गड़ी हुई मरी पडी है। आग के भय से ये जान लेकर मोहनपुरा जंगल से भागे और इस दुर्गत के शिकार हुए। वैसे कोसी-कारो से रिज़र्व फॉरेस्ट आठ-नौ मील पर होगा।

———

चौथा परिच्छेद

[एक]

वैशाख-जेठ बीता, आया आसाढ़। आसाढ मे कचहरी की तौजी। लोगो का मुँह इधर मुश्किल से ही देखने को मिलता, सो मेरी यह एक हार्दिक इच्छा थी कि तौजी के दिन न्योत कर काफी लोगो को खिलाऊँगा। आस-पास मे तो गाँव थे नही। मैंने गनौरी तिवारी को भेजकर दूर-दूर की बस्तियो में न्योता भिजवाया। तौजी के एक दिन पहले से ही आसमान वादलो से घिर गया। टिपटाप पानी भी पडता रहा। तौजी के दिन तो मानो आसमान ही फट पडा। और इधर दोपहर से न्योता खानेवालो का ताँता वँधा। भोज खाने के लोभ से वे बारिश झेलकर भी आने लगे। उन्हे बैठने की जगह देना भी मुश्किल हो गया। वाल-बच्चो को लेकर वहुतेरी औरतें भी आ पहुँची थी। औरतो के लिए दफ्तर में वैठने का इन्तजाम कर दिया। मर्द लोग जहाँ-तहाँ बैठ गए।

इधर के लोगो को खिलाने मे कोई झमेला नही। कोई मुल्क इतना भी ग़रीब हो सकता है, मै यह नही जानता था। वगाल वडा ही ग़रीब है, फिर भी इधर के आम लोगो के मुकाबले मे वहाँ के गरीब-से-गरीब भी सपन्न है। इस मूसलाधार वर्षा में भीगते हुए ये थोडा-सा माढा, खट्टा दही, गुड और लड्डू खाने को इतनी दूर आए थे। यही चीजे यहाँ आम तौर से भोज में खिलाई जाती थी।

सुवह से ही आठ-दस साल का एक छोटा लडका वडी मिहनत कर रहा था। चीन्हता नही था। नाम था उसका विगुआ। पास ही की किसी बस्ती से आया होगा। दस बजे के करीव उसने थोडा-सा जलपान माँगा। भंडार का भार था नवटोलिया के पटवारी पर। उसने उसके अँचरे में थोडा-सा माँढा और नमक दे दिया।

मैं पास ही खड़ा था। वह छोरा जामुन-जैसे रंग का था। मुखड़ा सुंदर, जैसे काले पत्थर की कृष्णमूर्ति हो ! अपने मोटिया कपड़े की कोर फैलाकर उसने जब वह मामूली जलपान लिया, तो उसके चेहरे पर खुशी की जो हँसी फूट उठी, कह नहीं सकता।

ब्राह्मणों का खिलाना तो किसी तरह निवट गया। तीसरे पहर मैंने देखा, अविराम वर्षा में तीन औरतें आँगन मे पत्तल डाले काँप रही हैं। पत्तल में माढ़ा था, दही गुड़ के लिए वे ताक रही थीं। मैंने पटवारी को वुलाकर पूछा—"इस तरफ़ परोस कौन रहा है ? और इन्हें वारिश में नीचे किसने वैठाया ?"

पटवारी वोला—"हुजूर, ये जात की दुसाध हैं। इन्हे वरामदे मे वैठाऊँ, तो सारी चीजें फेंक देनी पड़ेंगी, उन चीजों को फिर कोई भी ब्राह्मण, छत्री या गंगोता नही खा सकते। और, दूसरी जगह भी कहाँ है ?"

मैं खुद भीगता हुआ उन गरीबिन दुसाध औरतों के पास जा खड़ा हुआ। यह देखकर लोग जल्दी-जल्दी उन्हे परोसने लगे। वह माढ़ा, गुड़ और पनछा दही एक-एक ने इस कदर खाया कि अपनी आँखो देखे विना यकीन नही आ सकता। लोगों में भोज खाने की ऐसी धुन देखकर मैंने मन-ही-मन तै किया कि इन दुसाव औरतो को न्योता देकर और किसी दिन खूब अच्छी तरह अच्छा खाना खिला दूँगा। हफ्ते भर वाद दुसाधटोली की उन औरतों को वुलवाकर मैंने पूरी, मछली, माँस, खीर, दही, चटनी खूब खिलाया। जिंदगी में ऐसा भोज खाने की उन्होंने कल्पना भी न की होगी। उनके विस्मित और आनंदित आँख-मुंह की वह हँसी वहुत दिनों तक मुझे याद रही। वह छोकरा विशुआ भी उस भोज में था।

[दो]

उस दिन घोड़े पर सर्वे-कैंप से लौट रहा था। रास्ते के जगल मे कसाल की झाड़ी के पास वैठा एक आदमी उड़द का सत्तू सानते हुए मिला। उसके पास कोई वर्त्तन नही था, इसलिए मैले कपड़े के छोर मे ही वह उसे सान

रहा था। इतना-इतना सत्तू एक आदमी, चाहे वह कोई हो, कही का हो, कैसे खा सकता है, यह मेरी अकल मे आ सकने लायक बात नही थी। मुझे देखकर अदब से वह खडा हो गया और सलाम करके बोला—"माफ कीजिएगा मैनेजर साहब, जरा नाश्ता कर रहा हूँ हुजूर।"

मुझे यह भी समझ मे नहीं आया कि कोई एकात में बैठकर नाश्ता कर रहा हो, तो उसमे माफ करने की बात क्या आती है? मैंने कहा—"करो, अपना नाश्ता करो। उठने की कोई जरूरत नही। नाम क्या है तुम्हारा?"

वह बैठा नही। मेरा लिहाज करते हुए खडा-खडा ही बोला—"गरीब का नाम धौताल साहू है हुजूर।"

मुझे लगा, उमर उसकी साठ से ज्यादा ही होगी। दुबला लंबा बदन, रग काला, पहनावे मे मैला लट्ठा और मिरजई। पाँव नगा।

उससे मेरा यही पहले-पहल परिचय हुआ।

कचहरी मे पहुँचकर मैंने रामजोत पटवारी से पूछा—"धौताल साहू को पहचानते हो तुम?"

रामजोत बोला—"जी हुजूर! धौताल को इलाके मे कौन नही जानता? लखपती है हुजूर—बहुत बडा महाजन। इधर के सभी उसके कर्ज़दार है। नौगछिया में घर है।"

पटवारी की बात सुनकर मैं आश्चर्य-चकित होगया। लखपती आदमी और एक मैले कपडे में सत्तू सानकर खाता है! मुझे लगा, पटवारी ने दून की हाँक दी। मगर कचहरी मे जिससे भी पूछा, उसीने यह उत्तर दिया—"धौताल साहू? उसके रुपयो का कोई लेखा-जोखा नही हुजूर।"

बाद मे अपने काम से धौताल साहू कई बार मेरे पास आया। धीरे-धीरे पता चला कि एक अजीब लोकोत्तर चरित्र के आदमी से परिचय हुआ है। देखे बिना यह यकीन ही नही हो सकता कि बीसवी सदी में भी ऐसा आदमी है।

जैसा कि अंदाज था, उसकी उम्र तिरसठ-चौसठ की होगी। कचहरी

से पूरब-दक्खिन कोई बारह-तेरह मील दूर नौगछिया में उसका घर था। इलाके के क्या काश्तकार, जमींदार और क्या खेतिहर-व्यापारी सभी उसके खातक थे। मगर मजे की बात यह थी कि धौताल कर्ज देकर अदायगी के लिए कभी कड़ा तकाजा नहीं करता था। कितनों ने उसकी पूँजी डुबाई, यह नहीं कहा जा सकता। उसके जैसे निरीह और सज्जन आदमी को महाजनी करनी ही नहीं चाहिए थी ; लेकिन वह भी क्या करे, लोगों की आरजू-मिन्नत उससे टाले नहीं बनती। खास तौर पर उसका यही कहना था कि लोग जब सूद का वायदा करते हैं, तब व्यवसाय के लिहाज से भी तो कर्ज देना लाजिमी है। एक दिन वह बहुत सारे दस्तावेज कपड़े में बाँध कर मुझसे मिलने आया। बोला—"हुजूर, मिहरबानी करके जरा इन दस्तावेजों को देख दें।"

मैंने छानबीन की। देखा, समय पर नालिश नहीं किये जाने से कोई आठ दस हजार के दस्तावेज बेकार हो गये थे।

कपड़े के दूसरे छोर से उसने कुछ और भी पुराने कागज निकाले—"जरा इन्हें भी देख लें हुजूर। कभी-कभी जी में आता है, शहर जाकर वकीलों को दिखा दूँ और नालिश कर दूँ। मगर मुकदमा कभी लडा नहीं, लड़ना बनता नहीं। तकाजा करता हूँ—आज दूँगा, कल दूँगा करते-करते बहुतेरे देते ही नहीं।"

देखा, सारे-के-सारे दस्तावेज बेकार हो गए थे। ये सब भी चार-पाँच हजार से कम के न होंगे। भले को सभी धोखा देते हैं। कहा—"साहूजी, यह महाजनी आपके बस की बात नहीं। महाजनी तो इधर रासबिहारी-सिंह राजपूत-जैसा आदमी ही कर सकता है, जिसके आठ-आठ लठैत हैं, खुद घोड़े पर सवार होकर कर्जदारों के खेतों पर जाकर लठैतों को मुस्तैद कर आता है—जबर्दस्ती फसल पर कब्जा करके पूँजी और सूद अदा करके छोड़ता है। तुम जैसे भले को लोग बाकी रुपये नहीं दे सकते। आइन्दा किसी को देना ही नहीं।"

मगर धौताल को मैं समझा ही न सका। वह बोला—"सभी धोखा

नही दिया करते हुजूर। अभी भी चांद-सूरज उगता है, सिर पर दीन-दुनिया का मालिक अभी भी है। और रुपये को सूद पर लगाए बिना गुजारा नहीं हुजूर। यही हमारा पेशा है।"

सूद के लोभ से पूँजी से भी हाथ धो बैठना किस किस्म का रोजगार है, नही जानता। उसने मेरी ही आँखो के आगे उन पन्द्रह-सोलह हजार रुपयो के दस्तावेजो को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया। इस तरह से फाड़ फेंका, गोया वे निहायत बेकार कागज हों—बेकार की कोटि मे अब वे आ जरूर गए थे। न तो इसमें उसके हाथ सहमे, न आवाज काँपी।

बोला—"सरसों और रेंड़ी के बीए बेंच कर ये रुपए मैंने जोड़े थे, वरना बाप-दादों की विरासत मे तो फूटी पाई भी नही मिली थी। मैंने ही पैसे पैदा किए, मै ही गँवा रहा हूँ। रोजगार में नफा-नुकसान तो होता ही है।

नफा-नुकसान तो बेशक होता है, मगर ऐसे कितने लोग मिलेंगे, जो चेहरे पर शिकन लाए बगैर इतने बड़े नुकसान को सह लें, मै यही सोचने लगा। महज एक बात मे मैंने उसकी अमीरी देखी। लाल कपड़े के एक बटुए से जब-तब वह एक सरौता और सुपारी निकालता और काटकर खा लेता। मेरी ओर हँसते हुए देखकर बोला—रोज एक छटाँक सुपारी मै खा जाता हूँ हुजूर, सुपारी का बड़ा लम्बा खर्च है। धन से उदासीनता और बहुत बड़े नुकसान की परवाह न करना अगर दार्शनिकता है, तो धौताल साहू-जैसा दार्शनिक कम-से-कम मैंने तो नही देखा।

[तीन]

फुलकिया गाँव से होकर मै जब भी गुजरता, जयपालकुमार के जनेरे के पत्तों से बने घर के सामने से भी गुजरता। जयपाल जाति का भूमिहार ब्राह्मण था।

एक बड़े और पुराने पाकर के पेड़ के नीचे उसका घर था। दुनिया मे वह निपट अकेला था ; उमर वाला आदमी, दुबला बदन, माथे पर सफ़ेद

लम्बे बाल। जब भी मैं वहाँ से गुजरता, तब ही उसे अपने घर के दरवाजे पर बैठा पाता। तम्बाकू वह नहीं पीता था। उसे कभी कोई काम करते हुए भी देखा हो, ऐसा याद नही पड़ता। गीत भी गाते हुए नही सुना। कोई बिल्कुल निठल्ला-सा कैसे बैठा रह सकता है, नहीं कह सकता। उसे देखकर मुझे बड़ा ही अचरज और कुतूहल होता। हर बार वहाँ घोड़े को रोक कर उससे दो बातें किए बिना मैं आगे बढ़ ही नही सकता।

पूछा—"यों बैठे-बैठे तुम क्या करते हो?"

—"बस, यों ही बैठा हूँ हुजूर।"

—"उम्र क्या होगी तुम्हारी?"

—"उम्र का हिसाब तो रक्खा नही हुजूर। यो समझिए कि जिस साल कोसी पर पुल बना, मैं भैंस चराने लायक हुआ था।"

—"शादी की थी? बाल-बच्चे हुए थे?"

—"बीस-पच्चीस साल हुए, स्त्री चल बसी। दो बच्चियाँ थी। वे भी गुजर गई। उसको भी तेरह-चौदह साल हो गए। अब तो बस मैं ही हूँ।"

—"अच्छा यह तो कहो, ऐसे जो अकेले बैठे रहते हो, न कही जाते-आते हो, न किसी से बोलते-बतियाते हो, न ही कोई काम करते हो, यह सब तुम्हें अच्छा लगता है? ऊब नहीं आती इससे तुम्हे?"

वह अचरज से मुझे देखकर बोला—"अच्छा क्यों न लगेगा हूजूर? मजे मे रह लेता हूँ।"

उसकी बात मेरी समझ से परे थी। कलकत्ता के कालेज में पढ़कर बड़ा हुआ, या तो कोई काम-धंधा हो या दोस्त-अहबाबों के साथ गुलछर्रे, नहीं तो किताब, वह भी नहीं तो सिनेमा या सैर-सपाटे—इनके बिना आदमी रहता कैसे है, समझ नहीं सकता। दुनिया में कितना कुछ रद्दो-बदल हो गया इन बीस वर्षों में, अपने द्वार पर बैठने वाला जयपाल उसकी खबर भी क्या रखता है? मैं जब स्कूल में पढ़ रहा था, जयपाल तब भी ऐसा ही बैठा रहता होगा और अब जब मैंने बी० ए० पास कर लिया, जय-

पाल उसी तरह बैठा रहता है ! जो छोटी-बड़ी घटनाएँ अपने ही जीवन की अपने लिए खासे अचरज की चीज, थी उन्ही से मै जयपाल के इस वैचित्र्यहीन जीवन के बीते दिनों की बात मिलाकर सोचा करता ।

जयपाल का मकान था तो गाँव के बीच में ; पर पास मे काफी खाली जमीन थी, मकई के खेत थे ; इसलिए घर से सटी हुई कोई आबादी नही थी। यह फुलकिया निहायत छोटी-सी बस्ती थी। गिने-चुने दस-एक घर होंगे। सभी भैंस चराकर गुजर चलाते थे। दिन-भर सब-के-सब करारी मिहनत करते। शाम को उडद का भूसा जलाकर चारो ओर सब बैठ जाते—गप्प-सटाका करते, खैनी खाते या सखुए के पत्ते में तम्बाखू लपेट कर चुट्टी पीते। नारियल पीने का रिवाज इधर बहुत ही कम था ; लेकिन जयपाल के साथ कभी किसी को बोलते-बतियाते मैंने नही देखा।

उस पुराने पाकड पर बहुतेरे बगुलो ने बसेरा बना रक्खा था। लगता, पेड पर सादे फूलो की बहार आई है। छाँह-भरी और निर्जन जगह थी वह, फिर वहाँ खडे होकर जिधर भी आँखें जाती, उसी तरफ दूर दिगंत तक नन्हे बच्चे-बच्चियो-जैसी एक-दूसरे का हाथ पकड कर नील गिरिमाला मडलाकार खडी दिखती। मै पाकड़ की घनी छाया मे खड़ा-खड़ा जब जयपाल से बातें करता, तब उस प्रकाड पेड के नीचे की निविड शाति और मकान मालिक की अनुद्विग्न, निस्पृह और धीर जीवन-यात्रा धीरे-धीरे एक विचित्र प्रभाव मुझ पर डालती। आखिर यो मारा-मारा फिरने में लाभ क्या है ? कैसी मनोहर छाया है इस श्याम वशी-वट की, कैसी मधुरी चाल है यमुना की, अतीत की सैकड़ो सदियों को पार करके, समय के बहाव मे बह जाना कितना सुखकर है, कितना आरामदेह !

कुछ तो जयपाल की ऐसी जीवन-यात्रा का प्रभाव और कुछ आस-पास की उन्मुक्त प्रकृति मुझे भी धीरे-धीरे जयपालकुमार-जैसा ही निर्विकार और उदासीन बनाती जा रही थी। केवल इतना ही क्यों, मेरी जो आँखे खुली नही थी, अब खुल गईं, जो मैने कभी नही सोचा, बरबस वही सोचने को विवश किया। फलस्वरूप इस खुले मैदान और हरे-भरे जगल

को मैं इस हद तक प्यार कर बैठा कि यदि कभी काम से एक दिन को भी पूर्णिया या मुंगेर जाता, तो मन भाग-भाग करता रहता, हर्गिज जी नहीं लगता। लगता, कब उस जंगल को लौट जाऊँ, कब उस सुनसान में, उस अनोखी चाँदनी में, सूर्यास्त और दिगंत व्यापी काल वैशाखी के मेघों में, खचाखच तारों भरी निदाघ-निशीथ में अपने को डुबा दूँ!

पाँचवाँ परिच्छेद

[एक]

खूब रह-रह चाँदनी और वैसी ही हड्डी हिलाने वाली करारी सर्दी। पूस बीत चला था। नवटोलिया कचहरी के निरीक्षण के लिए गया हुआ था। खाते-पीते रात के ग्यारह बज जाते। एक रात खा-पीकर मैं रसोई से बाहर निकला। देखा, उतनी रात गए और वैसे हिमवर्षी आकाश के नीचे कोई औरत खिली चाँदनी मे कचहरी के अहाते मे खडी है। मैंने पटवारी से पूछा—"वहाँ वह कौन खड़ी है ?"

पटवारी ने कहा—"वह कुंता है हुजूर। कल मुझसे कह रही थी, मैनेजर बाबू आने वाले है। मैं उनका जूठन बटोर लाऊँगी। इन दिनों मेरे बच्चो को बड़ी तकलीफ है।"

मैंने कह दिया था—"अच्छा।"

मैं बाते ही कर रहा था कि नजर पड़ा, बलुआ टहलू ने मेरा सारा जूठन समेट कर उस औरत के एक ऊँची कोर के पीतल के बर्तन मे ले जाकर उँडेल दिया। वह चली गई।

उस बार आठ-दस दिनो तक नवटोलिया कचहरी में रहा। रोज ही रात को वह औरत मेरी जूटन के लिए इतनी रात गए, उस कन-कन सर्दी में महज अँचरा ओढ़े आकर कुएँ के पास खडी रहती। एक दिन मैंने आखिर कौतूहलवश पटवारी से पूछा—"अच्छा, यह रोज भात जो ले जाती है, वह कुंता है कौन ? इस जगल मे वह कहाँ रहती है ? दिन मे तो यह कभी भी नजर नही आती ?"

बटवारी बोला—"जी, बताता हूँ।"

शाम से कमरे मे गन्‌गन् आग जलाई गई थी। उसी के पास कुर्सी पर बैठा देर से किश्तों की वसूली का लेखा देख रहा था। भोजन करके

लौटा तो सोचा, आज दिन-भर का काम बहुत हो चुका। कागज-पत्तर समेट कर रख दिए और पटवारी का किस्सा सुनने को तैयार हुआ।

—"तो सुनिए हुजूर। दसेक साल पहले इस इलाके में देवीसिंह राजपूत का बड़ा दबदबा था। उसके डर के मारे यहाँ के सारे गंगोते, सभी किसान और चरी वाले रैयत थरथर काँपते रहते थे। उसका रोजगार था काफी मोटे सूद पर रुपया उधार देना और फिर लाठी के जोर से सूद समेत रुपए वसूल करना। आठ-नौ तो उसके लठैत थे। आज-कल यहाँ का जैसा महाजन रासबिहारीसिंह है, तब देवीसिंह था।

देवीसिंह जौनपुर जिले से पूर्णियाँ में आकर बस गया था। उसके बाद कर्ज दे-देकर और अपने जोर-जुल्म से इधर के सभी डरपोक गंगोतों को उसने मुट्ठी मे कर लिया। यहाँ बसने के कुछेक साल बाद एक बार वह काशी गया। वहाँ किसी तवायफ के कोठे पर गाना सुनने गया और उसकी चौदह-पन्द्रह साल की बेटी से उसे मुहब्बत हो गई। देवीसिंह उसे यहाँ भगा लाया। तब उसकी उमर सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की होगी। देवीसिंह ने उससे ब्याह कर लिया। आखिर जब लोगों पर यह बात जाहिर हो गई कि वह किसी तवायफ की लड़की है, तब बिरादरी के,लोगों ने देवीसिंह को बिरादरी मे निकाल दिया। देवीसिंह के पास पैसे की कमी तो थी नहीं। उसने इसकी परवाह न की। उसके बाद ऐश-मौज में रुपए उडा कर और रासबिहारीसिंह से मुकदमेबाजी मे वह कंगाल हो गया। चार साल हुए कि वह चल बसा। उसकी वही विधवा है यह कुता। कभी वह भी समय था कि किम्खाब की झालरवाली पालकी पर चढ़कर यह नवटोलिया से कोसी और कलबलिया नहाने जाया करती थी, बिकानी की मिसरी से पानी पीती थी—उसकी आज यह दुर्गत है! उस पर से मुसीबत यह कि सभी जानते है कि वह तवायफ की लड़की ह, सो क्या पति की अपनी बिरादरी राजपूतों मे और क्या गंगोतो मे, उसकी जात नही। गेहूँ की कटनी खत्म हो चुकने पर वह खेतों से गिरी-पड़ी बालियाँ चुन कर ले आती है। इसी से साल मे दो महीने बच्चों को अधपेट खिलाकर रखती है; मगर

हुजूर, आज तक कभी किसी ने उसे कही हाथ फैलाते हुए नही देखा। आप जमीदार के मैनेजर है, राजा के वरावर है, आपके यहाँ प्रसाद लेने मे वह अपनी हेठी नही समझती।"

मैंने पूछा—"और उसकी माँ, उस तवायफ ने फिर इसकी कभी खोज नही ली?"

पटवारी वोला—"मैंने कभी देखा तो नही हुजूर। कुता ने भी कभी अपनी माँ की पूछ-ताछ नही की। ऐसी ही दुख-तकलीफ से वह बच्चो को पालती आ रही है। और आज आप कुता को क्या देखते है हुजूर, कभी वह ऐसी खूवसूरत थी कि वैसी खूवसूरती इधर के इलाके मे कभी किसी ने देखी भी नही होगी। अव तो उम्र भी ढल गई, जिस पर विधवा होने के वाद से दु ख झेलते-झेलते उस रूप का रह ही क्या गया! वड़ी नेक और शात औरत है यह। मगर यहाँ कोई फूटी निगाहो भी उसे नही देखना चाहते, नाक-भौं सिकोड़ते है, नीचा देखते है, शायद इसीलिए कि वह एक तवा-यफ की लडकी है।"

मैंने कहा—"वह तो खैर है, मगर रात के वारह वजे वह घने जगल की राह अकेले नवटोलिया कैसे जायगी—नवटोलिया तो कोई तीन पाव जमीन होगी यहाँ से?"

—"हो, मगर डरे तो काम कैसे चले वेचारी का? उसे तो हरवक्त इस जंगल मे अकेली ही घूमना पड़ता है। न घूमे, तो है कौन जो चलाए?"

पूस का महीना था। उस किश्त की अदायगी का तकाजा करके मैं लौट आया। एक छोटे-से चरी महाल के इजारे के लिए माघ ही के वीचों-वीच मुझे फिर वहाँ जाने की जरूरत पडी।

सर्दी तव भी कम नही हुई थी। ऊपर से तमाम दिन पछुआ जो चलती, सो शाम के वाद दुगनी हो जाती। एक दिन घूमने निकला। महाल के उत्तरी हिस्से में वडी दूर तक निकल गया। उधर दूर-दूर तक केवल वेर का जंगल फैला था। इन जंगलो को वन्दोवस्त पर लेकर छपरा और मुजफ्फरपुर के कलवार-जातीय लोग लाह की खेती से काफी पैसा पैदा करते। वेर

के जंगल में मैं राह भूल-सा पड़ा था कि किसी औरत का आर्त्त-चीत्कार, वच्चों का रोना-धोना और मर्द की डाट-डपट, गाली-गलौज मेरे कानो मे पड़ी। मैं जरा आगे वढ़ा, देखा, लाह के इजारेदारों के नौकर झोंटा पकडे एक औरत को घसीटे ला रहे हैं। औरत मैला चीथरा पहने है, पीछे-पीछे दो-तीन छोटे-छोटे वच्चे रोते आ रहे हैं। जो दो छत्री नौकर थे, उनमें से एक के हाथ मे आधी टोकरी पके वेर। मुझे देखकर उन नौकरो ने जो कहा, थोड़े में उसका मतलव यह हुआ कि "यह गगोतिन हमारे जंगल मे वेर तोड रही थी। हम इसे पकड़कर पटवारी के पास फैसले के लिए ले जा रहे हैं। अच्छा ही हुआ कि हुजूर मिल गए।"

मैंने डाट वताकर सव से पहले तो उनके चंगुल से उस औरत को छुड़ाया। डर और लज्जा से सिमट कर वह एक वेर की झाडी की आड में जा खड़ी हुई। वेचारी की दुर्गत देखकर मुझे वेहद तकलीफ हुई!

वे भला उसे सहज ही कैसे छोड़ देते? मैंने समझाया—"देखो, एक गरीविन ने वच्चों को खिलाने के लिए ये खट्टे वेर थोड़े-से तोड़ ही लिये, तो तुम्हारी लाह की खेती मे कौन-सा नुकसान हुआ? वेचारी को अपने घर जाने दो।"

उनमे से एक वोला—"आप इस औरत को जानते नही हैं हुजूर। नाम है इसका कुंता। नवटोलिया मे रहती है। वेर चोरी करना इसका पेशा वन गया है। पिछले साल भी इसे रंगे हाथो पकडा था—इस वार इसे खासा सवक दिए विना—"

मैं लगभग चौंक पड़ा। कुंता! पहचान तो नही सका मैं; शायद इसलिए कि दिन में मैंने उसे कभी देखा ही नहीं, जव भी देखा रात मे। मैंने डरा-धमका कर उसे तुरन्त रिहाई दिलाई। वह लाज से गड़-सी गई। वाल-वच्चो को लेकर घर लौट गई। जाते समय वेर की टोकरी और लग्गी वहीं छोड गई। भय और सकोच से शायद। मैंने उन लोगों में से एक को कहा कि वेर की यह टोकरी और लग्गी कचहरी में पहुँचा दो। सुनकर वे वड़े खुश हो गए। सोचा, टोकरी और लग्गी जरूर ही जब्त कर ली जायगी।

कचहरी लौट आने के वाद मैंने पटवारी से कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग इतने निर्दयी क्यों होते है वनवारीलाल ? " वनवारी बड़ा दुखी हुआ। आदमी वह अच्छा था। इधर के दूसरे लोगों से उसके हृदय में सचमुच ही दया-माया थी। उसने प्यादे की मार्फत टोकरी और लग्गी उसी वक्त कुता के घर, नवटोलिया भिजवा दी।

उस रात कुता लाज से भात लेने के लिए कचहरी भी नही आई।

[दो]

जाड़ा वीत गया, वसन्त आया।

अपने इस महाल की पूरवी-दक्खिनी सरहद के सात-आठ कोस पर यानी सदर मुकाम से लगभग चौदह-पन्द्रह कोस पर फागुन में होली के दिन हर साल वडा मशहूर मेला लगता था। मैंने इस वार वहाँ जाने का निश्चय किया था। एक तो अरसे से कही इतने लोगो का समागम देखना नसीव नही हुआ था, दूसरे इधर के मेले-ठेले कैसे होते हैं, इसे जानने का भी कौतूहल था ; मगर कचहरी के लोग वारम्वार मना करते रहे। रास्ता वड़ा वीहड़ है, शुरू से आखिर तक जंगल और पहाड़—तमाम जंगली भैंसे और वाघ का खतरा। छुटपुट वस्ती है जरूर, लेकिन इतनी-इतनी दूरी पर है कि कोई आफत आन पडे, तो उनसे कोई मदद नही मिलने की।

जिन्दगी मे कभी साहस का छोटा-सा काम करने का भी मौका हाथ नही आया। यहाँ रहते-रहते जो कर सकूँ, गनीमत। कलकत्ता लौट जाने पर फिर कहाँ यह जगल और कहाँ जगली भैसे और वाघ ! मेरी आँखों में, भविष्यत् में मुझसे किस्सा सुनते हुए नाती-पोतों के चेहरे और उत्सुक तरण आँखें झूल गईं। और मुनेश्वर महतो, पटवारी और मुहर्रिर वावू लाख मना करते रहे, मैं मेले के दिन तड़के ही घोड़े पर सवार होकर निकल पड़ा। दो घंटे तो अपने ही महाल की हद पार करते करते लग गए, क्योंकि पूरव-दक्खिन सीमा पर ही जंगल ज्यादा घना था, रास्ता था ही नहीं

कहिए, घोड़े के सिवाय दूसरी किसी सवारी से चलना मुश्किल था। जहाँ तहाँ छोटी-बड़ी चट्टानें, सखुए का जंगल, झाऊ और कसाल का जंगल। ऊँची-नीची, ऊबड-खावड़ राह, बीच-बीच मे बालू के टीले, रंगीन मिट्टी की टेकड़ियाँ, छोटी पहाड़ी, पहाड़ी पर घने कँटीले पेड़ो का जगल। मै घोड़े को जब जैसा, कभी तेज, कभी धीमा हाँक रहा था। दुलकी चाल पर घोड़े को लिए चलने की गुजाइश न थी। रास्ता बुरा, फिर जहाँ-तहाँ चट्टानों के बिखरे रहने से थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही चाल टूट जाती। कभी गैलप, कभी दुलकी तो कभी पा-पा चल रहा था।

लेकिन मै कचहरी से कूच करते ही मगन मन हो गया था। जब से इस नौकरी पर यहाँ आया था, तभी से यहाँ का यह धू-धू करता हुआ आंतर और जंगल धीरे-धीरे मुझे अपना गाँव-घर भुलाए दे रहा था। सभ्य दुनिया के सैकड़ों आराम के उपकरण और आदतें भुलाए दे रहा था। बन्धु-बांधवो तक को भुला देने पर तुला था। घोड़ा आहिस्ते या धीरे, जैसे चाहे जाय, जब तक पहाड़ की तलहटी में बसंतागम से खिले पलाश के रंगीन फूलों का मेला लगा है, पहाड़ के नीचे, ऊपर, मैदान में तमाम नन्हे पौधों की फूलों के भार से झुकी ये डालियाँ है, गलगली के पत्रविहीन दूध-धवल कांडो पर सूरजमुखी जैसे इन पीले-पीले फूलों ने दोपहर की धूप को अपनी मीठी महक से अलस कर दिया है, ऐसी हालत में इसका लेखा कौन रक्खे कि कितनी दूरी तै हुई?

मगर कुछ-न-कुछ हिसाब रखना भी जरूरी था, नही तो प्रतिपल दिशा और राह भूल जाने का खतरा था। अपने जंगल की हद पार करने के पहले ही यह बात मेरी समझ में आई। जरा देर मैं अन्यमनस्क रहा। अचानक सामने दूर पर एक बहुत ही बड़े जंगल का ऊपरी हिस्सा नील रेखा-जैसा क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक फैला दिखाई दिया! आखिर इतना बड़ा जंगल यहाँ आया कहाँ से? कचहरी में तो किसी ने यह जिक्र तक भी नही किया था कि मैपंडी के मेले के आस-पास कहीं इतना बडा कोई जंगल भी है? दूसरे ही क्षण मुझे खयाल आया, हो न हो, वह

कचहरी लौट आने के बाद मैंने पटवारी से कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग इतने निर्दयी क्यों होते हैं वनवारीलाल ?" वनवारी बड़ा दुखी हुआ। आदमी वह अच्छा था। इधर के दूसरे लोगो से उसके हृदय में सचमुच ही दया-माया थी। उसने प्यादे की मार्फत टोकरी और लग्गी उसी वक्त कुंता के घर, नवटोलिया भिजवा दी।

उस रात कुता लाज से भात लेने के लिए कचहरी भी नहीं आई।

[दो]

जाडा बीत गया, वसन्त आया।

अपने इस महाल की पूरबी-दक्खिनी सरहद के सात-आठ कोस पर यानी सदर मुकाम से लगभग चौदह-पसन्द्रह कोस पर फागुन में होली के दिन हर साल वडा मशहूर मेला लगता था। मैंने इस बार वहाँ जाने का निश्चय किया था। एक तो अरसे से कही इतने लोगो का समागम देखना नसीब नही हुआ था, दूसरे इधर के मेले-ठेले कैसे होते हैं, इसे जानने का भी कौतूहल था ; मगर कचहरी के लोग बारम्बार मना करते रहे। रास्ता बड़ा बीहड़ है, शुरू से आखिर तक जग्ल और पहाड़—तमाम जंगली भैंसें और बाघ का खतरा। छुटपुट वस्ती है जरूर, लेकिन इतनी-इतनी दूरी पर है कि कोई आफत आन पडे, तो उनसे कोई मदद नही मिलने की।

जिन्दगी मे कभी साहस का छोटा-सा काम करने का भी मौका हाथ नही आया। यहाँ रहते-रहते जो कर सकूँ, गनीमत। कलकत्ता लौट जाने पर फिर कहाँ यह जगल और कहाँ जंगली भैंसे और बाघ ! मेरी आँखों में, भविष्यत् में मुझसे किस्सा सुनते हुए नाती-पोतों के चेहरे और उत्सुक तरुण आँखें झूल गईं। और मुनेश्वर महतो, पटवारी और मुहर्रिर बाबू लाख मना करते रहे, मैं मेले के दिन तड़के ही घोड़े पर सवार होकर निकल पड़ा। दो घंटे तो अपने ही महाल की हद पार करते करते लग गए, क्योंकि पूरब-दक्खिन सीमा पर ही जंगल ज्यादा घना था, रास्ता था ही नहीं

कहिए, घोड़े के सिवाय दूसरी किसी सवारी से चलना मुश्किल था। जहाँ तहाँ छोटी-बड़ी चट्टानें, सखुए का जंगल, झाऊ और कसाल का जंगल। ऊँची-नीची, ऊबड़-खाबड़ राह, बीच-बीच मे बालू के टीले, रंगीन मिट्टी की टेकड़ियाँ, छोटी पहाड़ी, पहाड़ी पर घने कँटीले पेड़ों का जंगल। मैं घोड़े को जब जैसा, कभी तेज, कभी धीमा हाँक रहा था। दुलकी चाल पर घोड़े को लिए चलने की गुंजाइश न थी। रास्ता बुरा, फिर जहाँ-तहाँ चट्टानों के बिखरे रहने से थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही चाल टूट जाती। कभी गैलप, कभी दुलकी तो कभी पा-पा चल रहा था।

लेकिन मैं कचहरी से कूच करते ही मगन मन हो गया था। जब से इस नौकरी पर यहाँ आया था, तभी से यहाँ का यह धू-धू करता हुआ आंतर और जंगल धीरे-धीरे मुझे अपना गाँव-घर भुलाए दे रहा था। सभ्य दुनिया के सैकड़ों आराम के उपकरण और आदतें भुलाए दे रहा था। बन्धु-बांधवों तक को भुला देने पर तुला था। घोड़ा आहिस्ते या धीरे, जैसे चाहे जाय, जब तक पहाड़ की तलहटी में वसंतागम से खिले पलाश के रंगीन फूलों का मेला लगा है, पहाड़ के नीचे, ऊपर, मैदान में तमाम नन्हें पौधों की फूलों के भार से झुकी ये डालियाँ हैं, गलगली के पत्रविहीन दूध-धवल काँडों पर सूरजमुखी जैसे इन पीले-पीले फूलों ने दोपहर की धूप को अपनी मीठी महक से अलस कर दिया है, ऐसी हालत में इसका लेखा कौन रक्खे कि कितनी दूरी तै हुई?

मगर कुछ-न-कुछ हिसाब रखना भी जरूरी था, नहीं तो प्रतिपल दिशा और राह भूल जाने का खतरा था। अपने जंगल की हद पार करने के पहले ही यह बात मेरी समझ में आई। जरा देर मैं अन्यमनस्क रहा। अचानक सामने दूर पर एक बहुत ही बड़े जंगल का ऊपरी हिस्सा नील रेखा-जैसा क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक फैला दिखाई दिया! आखिर इतना बड़ा जंगल वहाँ आया कहाँ से? कचहरी में तो किसी ने यह जिक्र तक भी नहीं किया था कि मैपंडी के मेले के आस-पास कहीं इतना बड़ा कोई जंगल भी है? दूसरे ही क्षण मुझे खयाल आया, हो न हो, वह

मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट है, जो कि अपनी कचहरी के उत्तर-पूरब के कोने पर पड़ता है। असल में मैं भटक गया हूँ। इधर जानी-पहचानी पगडडी शायद ही मिलती—लोग-बाग वही से ही आते-जाते है। जिधर देखिए, एक ही-सा दिखता है, एक ही-सी टेकडी, वैसे ही गलगली और धातुप फूलो का जगल और उनके साथ काँपती रहने वाली ताप-तरग। ऐसे मे अनाड़ी व्यक्ति को भटक जाने मे देर नही लगती।

फिर मै घोड़े का मुँह फेर दिया। सँभल कर अपने लक्ष्य को ठीक किया और उधर की दिशा का एक चिह्न चुन कर मन में रक्खा। अपार सागर मे जहाज को ठीक राह पर ले जाना, अनत आकाश मे हवाई जहाज के चालकों का काम और ऐसे दूर तक फैले किसी पथ-हीन जगल मे घोड़े पर चढकर ठिकाने पर पहुँचना, प्राय· एक ही-जैसे काम है। जिन्हे ऐसा साबका पडा है, उन्हे इसकी सचाई समझने मे देर न लगेगी।

फिर शुरू हुआ धूप से जले नंगे पेड़-पौधों का समूह, फिर जगली फूलो की मद-मधुर खुशबू, फिर रक्तपलाश की वही शोभा। समय काफी हो गया था। लगा, कि कही पानी पीने को मिलता तो अच्छा था। कारो नदी के सिवाय इधर कहीं पानी नही मिलता, यह मुझे मालूम था ; मगर अभी तो अपने ही जंगल की सीमा पार नही हो सकी थी, कारो तो अभी बहुत दूर रही—यह सोचते ही प्यास अचानक और तेज हो आई।

मुकुन्दी चकलादार से मैंने कहा था कि अपने महाल की हद पर बबूल या महावीरी झडे-जैसा कुछ, जो भी हो, सीमा की जानकारी के लिए गाड देना। इसके पहले सीमा पर कभी आने का मौका नही मिला। आज देखा, मेरे इस हुक्म की तामील नही हुई है। सोचा होगा, अरे, तुम भी क्या लेते हो, कलकत्ता के मैनेजर बाबू भला कभी इस सीमा पर आने के ! मुफ्त की बला कौन माथे ले। जैसा है, रहे।

अपनी हद से बाहर राह से कुछ हट कर एक जगह से धुआँ उठ रहा था। मैं वहाँ पर गया। कुछ लोग लकड़ियाँ जलाकर कोयला बना रहे थे। यही कोयला वे गाँवो में जा-जा कर बेचेगे। इधर के गरीब-गुरबे लोग

अँगीठी मे कोयला जलाकर उसी से ताप कर जाड़ा काटते हैं। पैसे का चार सेर कोयला विकता था, वह भी खरीदने की जुर्रत वहुतो की न थी ! मेरी समझ में यह भी न आया कि इस मशक्कत मे कोयला वना कर पैसे के चार सेर के भाव से वेच कर इन कोयले वालों को ही कौन-सा मुनाफा होता होगा ! मैंने शुरू से गौर किया है कि यहाँ पैसा और जगहो जितना सस्ता नही। कैत और आँवले के जगल मे एक छोटा-सा झोपड़ा था। कसाल और मावैं घास की छौनी। मै जव वहाँ पहुँचा, तव वे लोग उसी में खाने वैठे थे। मिट्टी की हँडिया में मकई को उवाल लिया था और सखुए के हरे पत्ते पर उसी को परोसा था। नमक के सिवाय दूसरा कोई उपकरण नही था। पास ही वड़े-वडे गढों में डाल-पत्ते जल रहे थे। एक छोकरा सखुए की डाल से आग पर पडी लकड़ियों को उलट-पलट रहा था।

मैंने पूछा—"उस गढ़े मे क्या जल रहा है ?" खाना छोड कर सव-के-सव उठ खड़े हुए। भयभीत नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए वे सकपका कर वोले—"लकडी का कोयला है हुजूर।"

मुझे घोड़े पर सवार देख कर वे डर गए थे—शायद उन्होंने मुझे जंगल-विभाग का कर्मचारी समझ लिया था। इधर के सारे जगल सरकार के खास महाल में पड़ते थे। इजाजत के विना वहाँ लकडी काटना या कोयला जलाना गैर-कानूनी था।

मैंने उन्हें दिलासा दिया—"घवराओ मत, मैं कोई सरकारी मुलाजिम नहीं हूँ। जी चाहे जितना कोयला तुम वनाओ। मुझे थोड़ा-सा पानी चाहिए। मिलेगा क्या ?" खाना छोड़ कर एक आदमी उठा। एक वडे से कटोरे में झट से उसने पानी ला दिया। खूव साफ पानी। पूछने पर पता चला, पास ही कोई झरना है, उसी का यह पानी है।

झरना ? मुझे वड़ा कौतूहल हुआ—"कहाँ है वह झरना ? मुझे तो खवर ही नही थी कि इधर भी कोई झरना है !"

उन्होने कहा—"झरना नहीं हुजूर, एक गढ़ा है। पत्थरो मे से पानी

धीरे-धीरे जमता रहता है। घंटे भर मे सेर आधेक पानी होता है। खूब साफ पानी, खूब ठंडा।"

मैं वह जगह देखने गया। कितनी सुन्दर और शीतल वन-वीथि! इस सूने जगल मे चट्टानो के नीचे शरत्-वसन्त मे या गभीर रात में चिड़ियाँ जल-केलि को उतरती होगी शायद! जगल वहाँ पर वड़ा ही घना। पिपार और केद की घनी डालो से घिरी एक गहराई, नीचे काले पत्थर की सतह; जैसे पत्थर की एक बहुत बड़ी वेदी घिसते-घिसते गहरी हो गई है। जैसे कुदरत का बनाया एक बहुत बड़ा पत्थर का कटोरा हो। पियार की फूली हुई डाले चारो ओर से उस पर झुक आई थी, जिससे वहाँ बड़ी शीतल छाया थी। पियार और सखुए के फूलों की खुशबू छाया में भुरभुरा रही थी। गढ़े में बूँद-बूँद पानी सिमट रहा था। अभी-अभी कोई वहाँ से पानी भर कर ले गया था, सो वहाँ आधी छटाँक भी पानी जमा नहीं हो पाया था।

उन लोगों ने कहा—"इस झरने का पता बहुतों को नही है हुजूर। हम आठों पहर जंगल की खाक छाना करते हैं, इसलिए हम जानते हैं।"

पाँचेक मील और जाने के बाद कारो नदी मिली। दोनों तरफ बालू के काफी ऊँचे कगारे, काफी खड़ी उतराई के बाद नदी का पाट। उसमे नाम को ही पानी था। दोनों तरफ दूर तक धू-धू करते बालू के किनारे। लगा, जैसे किसी पहाड़ से उतर रही हो। पार होते-होते एक जगह घोड़े के रिकाब तक पानी हो आया। पाँव समेट सम्हल कर पार हुआ। उस पार खिले रक्तपलाश का जंगल था। ऊँची-नीची रंगीन चट्टानें और जहाँ देखो पलाश-ही-पलाश। चारो तरफ लाल फूलों का अपार मेला। कुछ दूर पर धापुत फूल के जंगल से एक जंगली भैसा निकलता हुआ दिखाई दिया। रास्ते में खड़े होकर वह खुर से मिट्टी खुरचने लगा। लगाम सम्भाल कर मै भी ठहर गया। कहीं न आदमी, न आदमजाद—कही सीग सँभाल कर खेदना न शुरू कर दे? मगर भाग्य से वह रास्ते से उतर कर जंगल में गायब हो गया।

नदी से और कुछ दूर बढ़ जाने पर रास्ते का दृश्य कैसा हृदयहारी

हो आया ! वह भी तो समझिए कि चिलचिलाती दोपहरी थी, अपराह्न की न तो थी छाया, न थी रात की चाँदनी। निर्जन जलती हुई दोपहरी में वाई तरफ खड़ी थी वन से ढँकी गिरिमाला, दाएँ लोहा-पत्थर और पायोराहट विखरी ऊबड़-खावड़ जमीन मे केवल गलगली फूल के सफेद टहनियों वाले पेड़ और रंगीन धातुप फूल के जंगल। अद्भुत स्थान , वैसा रूखा फिर भी सुन्दर, फूलों की भीड़ से भरा फिर भी उद्दाम और इतनी ज्यादा जंगली शोभा मैंने कभी देखी ही नहो थी। ऊपर से दोपहर की खाँ-खाँ करती हुई धूप। माथे पर आसमान का नीला वितान। ऊपर कहीं कोई चिड़िया नही, एकदम सूना ; नीचे कोई आदमी या जीव-जन्तु नहीं, सन्नाटा, घोर सुनसान ! प्रकृति की इस एकान्त रूप-लीला को देखते हुए मैं खो गया—जानता ही न था कि भारतवर्ष में भी कही ऐसी जगह है ! यह तो मानो फिल्म में देखी हुई दक्खिन अमरीका की एरिजोना या नेवोजा मरुभूमि या हडसन की किताव मे जिसका जिक्र आया है, उस गिला नदी के मुहाने का इलाका हो।

मेले में पहुँचते-पहुँचते एक वज गया। वड़ा भारी मेला था। वाईं ओर जो गिरिमाला राह में लगभग तीन कोस से मेरे साथ-साथ चली आ रही थी, उसी के एक दारगी दक्खिन एक गाँव के पास पहाड की तलहटी में साल-पलाश के जंगल मे यह मेला लगा था। महिपावाड़ी, कड़ारी तिन-टंगा, लछमिनिया टोला, भीमदास टोला, महालिखारूप—इन दूर-पास के गाँवों के लोग, खासकर औरतें मेले में आई थीं। तरुणियो ने वालो में पियार या धातुप के फूल खोंस रक्खे थे, किसी-किसी के जूड़े में काठ की कंघी भी लगी थी। उनकी देह की वनावट वड़ी लावण्यमयी थी। मौज से वे नकुली मोती, जापान या जर्मनी के सस्ते सावुन, सीटी, आईना, निहायत निकम्मे एसेंस खरीद रही थीं; मर्द पैसे की दस वाली सिगरेट खरीद रहे थे। वच्चे वच्चियाँ तिलकुट, रेवड़ी, रामदाने के लड्डू और पकौड़ियाँ खरीद कर खा रहे थे।

अचानक किसी औरत के रोने की आवाज से मैं चौक पड़ा। एक टीले

पर कुछ युवक-युवतियाँ गप-सटाके और हँसी-खुशी मे मशगूल थी। उसी टोली मे से रोने की आवाज उठी। आखिर माजरा क्या है ? कोई एका-एक चल तो नही बसा ? एक आदमी से मैंने पूछा। पता चला, वैसी कोई बात नही। असल मे किसी बहू की अपने नैहर की किसी औरत से भेट हो गई है। इधर का रिवाज ही शायद ऐसा है कि किसी औरत को बहुत दिनों पर कही कोई नैहर की स्त्री, कोई सखी या कोई रिश्ते की औरत मिल जाय, तो वह जार-बेज़ार रोने लगेगी। जो न जानता हो, ऐसा आदमी देखे, तो जरूर यही सनझेगा कि उनका अपना कोई मर गया होगा , लेकिन हकीक़त मे यह उनके आदर-सत्कार का एक ढग है। न रोए तो शिकायत हो। अगर कोई लडकी नैहर के किसी व्यक्ति को देख कर न रोए, तो मतलब यह हुआ कि ससुराल मे वह खूब सुखी है—औरत के लिए यह एक बडी शर्मनाक बात है !

एक जगह एक दूकानदार टाट पर किताबे फैलाए बठा था—"गुलब-कावली', 'लैला-मजनू', 'बैताल पच्चीसी', 'प्रेमसागर' आदि-इत्यादि। एकाध बुजुर्ग किस्म के लोग उनके पन्ने पलट रहे थे। मैंने समझा, किताबों की दूकान पर खडे पाठक का जो हाल अनातोले फ्रास के पेरिस में है, कडारी तीनटंगा के होली के मेले मे भी वही है। मुफ्त में खडे-खडे पढ़ने को मिल जाय, तो किताबो पर शायद ही कोई कुछ खर्चना चाहे ; मगर दूकानदार भी बडा काइयाँ था। पढने में मशगूल एक आदमी से उसने कहा—"किताब खरीदनी है तो खरीदो ; नही तो और काम देखो।"

मेले से कुछ हटकर सखुओ की छाया मे बहुतेरे लोग खाने-पकाने मे लगे थे। ऐसो के लिए मेले मे एक तरफ सब्जियो का बाजार लगा था। सखुए के हरे-हरे पत्तो के दोनो मे सुगठी और लाल चीटे के अंडे बिक रहे थे। लाल चीटे के अडे इधर चाव से खाए जाते है। इसके अलावा कच्चे पपीते, सूखे बेर, कंद, अमरूद और जगली सेम भी बिक रहे थे।

अचानक किसी की आवाज सुनाई पडी—"मैनेजर बाबू—"

मैंने इधर-उधर देखा। देखा, भीड चीरता हुआ नवटोलिया के पटवारी

का भाई व्रह्मा महतो मेरी तरफ चला आ रहा है। उसने पूछा—"आप यहाँ कव आए हुजूर? साथ मे कौन आया है?"

मैंने पूछा—"तुम क्या यहाँ मेला देखने आए हो?"

—"जी नही। मै मेले का ठेकेदार हूँ। जरा मेरे तम्वू मे अपने चरणों की धूल दें।"

ठेकेदार का तम्वू मेले के एक किनारे पर था। व्रह्मा ने मुझे एक पुरानी वेंटउड् कुर्सी पर आदर से विठाया। वहाँ मैंने जो एक आदमी को देखा, वैसा आदमी पृथ्वी पर दूसरा शायद ही देखने को मिले कभी। पता नही, वह था कौन। व्रह्मा का ही कारिंदा होगा। उमर पचास-साठ की, खुला वदन, काला रंग, वाल सफेद-काले की खिचडी। हाथ में पैसो से भरी एक थैली, वगल मे एक वही। शायद मेले की वसूली का हिसाव देने आया होगा।

उसकी नजर और चेहरे का वेहद दीन-विनम्र भाव देखकर मै मुग्ध हो गया। उस निगाह में थोड़ा-वहुत भय का भाव भी मिला हुआ था। मगर क्यों? कोई राजा तो था नही व्रह्मा महतो, मजिस्ट्रेट भी नही था, किसी का वारा-न्यारा कर सके, यह भी जरंत न थी उसकी। खास महाल का एक वढ़ता हुआ रैयत था महज—वला से उसने मेले का ठेका ले रक्खा था, मगर वह आदमी उसके आगे इस वुरी तरह आखिर क्यों झुका था? फिर जव मैं तम्वू में पहुँचा और उसने व्रह्मा को मेरी इतनी खातिर करते देखा, तो अदव और दीनता से डरते-डरते एकाध वार से ज्यादा मेरी ओर ताकने का उसे भरोसा न हुआ। मैं सोचने लगा, इसकी दृष्टि इतनी दीन-हीन क्यों है आखिर? वेहद गरीव है क्या, निहायत वेचारा? उसके चेहरे पर ऐसा क्या था कि मैं वार-वार उसे देखने लगा—ब्लेसेड आर द मीक, फार दीयर्स इज दि किंगडम आफ हेवन। ऐसा वेचारा मुखडा मैंने सच ही कभी नहीं देखा।

व्रह्मा से मालूम हुआ—"वह कड़ारी तिनटंगा का है, जहाँ व्रह्मा महतो का घर है। जाति का गंगोता है, नाम है गिरधारीलाल। एक छोटे

पर कुछ युवक-युवतियाँ गप-सटाके और हँसी-खुशी मे मशगूल थी। उसी टोली मे से रोने की आवाज उठी। आखिर माजरा क्या है ? कोई एका-एक चल तो नही बसा ? एक आदमी से मैने पूछा। पता चला, वैसी कोई बात नही। असल मे किसी बहू की अपने नैहर की किसी औरत से भेंट हो गई है। इधर का रिवाज ही शायद ऐसा है कि किसी औरत को बहुत दिनों पर कही कोई नैहर की स्त्री, कोई सखी या कोई रिश्ते की औरत मिल जाय, तो वह जार-बेज़ार रोने लगेगी। जो न जानता हो, ऐसा आदमी देखे, तो जरूर यही समझेगा कि उनका अपना कोई मर गया होगा , लेकिन हकीक़त मे यह उनके आदर-सत्कार का एक ढग है। न रोए तो शिकायत हो। अगर कोई लडकी नैहर के किसी व्यक्ति को देख कर न रोए, तो मतलब यह हुआ कि ससुराल मे वह खूब सुखी है—औरत के लिए यह एक बडी शर्मनाक बात है !

एक जगह एक दूकानदार टाट पर किताबे फैलाए बठा था—"गुलब-कावली', 'लैला-मजनू', 'बैताल पच्चीसी', 'प्रेमसागर' आदि-इत्यादि। एकाव बुजुर्ग किस्म के लोग उनके पन्ने पलट रहे थे। मैने समझा, किताबों की दूकान पर खडे पाठक का जो हाल अनातोले फ्रास के पेरिस में है, कडारी तीनटंगा के होली के मेले मे भी वही है। मुफ्त मे खडे-खड़े पढने को मिल जाय, तो किताबो पर शायद ही कोई कुछ खर्चना चाहे , मगर दूकानदार भी बडा काइयाँ था। पढने मे मशगूल एक आदमी से उसने कहा—"किताब खरीदनी है तो खरीदो , नही तो और काम देखो।"

मेले से कुछ हटकर सखुओ की छाया मे बहुतेरे लोग खाने-पकाने में लगे थे। ऐसो के लिए मेले मे एक तरफ सब्जियों का बाजार लगा था। सलुए के हरे-हरे पत्तो के दोनो मे सुगठी और लाल चीटे के अडे बिक रहे थे। लाल चीटे के अंडे इधर चाव से खाए जाते है। इसके अलावा कच्चे पपीते, सूखे बेर, कंद, अमरूद और जगली सेम भी बिक रहे थे।

अचानक किसी की आवाज सुनाई पडी—"मैनेजर बाबू—"

मैने इधर-उधर देखा। देखा, भीड़ चीरता हुआ नवटोलिया के पटवारी

का भाई ब्रह्मा महतो मेरी तरफ चला आ रहा है। उसने पूछा—"आप यहाँ कब आए हुजूर? साथ मे कौन आया है?"

मैंने पूछा—"तुम क्या यहाँ मेला देखने आए हो?"

—"जी नहीं। मैं मेले का ठेकेदार हूँ। जरा मेरे तम्बू में अपने चरणो की धूल दें।"

ठेकेदार का तम्बू मेले के एक किनारे पर था। ब्रह्मा ने मुझे एक पुरानी बेटउड् कुर्सी पर आदर से बिठाया। वहाँ मैंने जो एक आदमी को देखा, वैसा आदमी पृथ्वी पर दूसरा शायद ही देखने को मिले कभी। पता नही, वह था कौन। ब्रह्मा का ही कारिंदा होगा। उमर पचास-साठ की, खुला बदन, काला रंग, बाल सफेद-काले की खिचडी। हाथ में पैसों से भरी एक थैली, बगल में एक वही। शायद मेले की वसूली का हिसाब देने आया होगा।

उसकी नजर और चेहरे का बेहद दीन-विनम्र भाव देखकर मैं मुग्ध हो गया। उस निगाह में थोड़ा-बहुत भय का भाव भी मिला हुआ था। मगर क्यों? कोई राजा तो था नही ब्रह्मा महतो, मजिस्ट्रेट भी नहीं था, किसी का वारा-न्यारा कर सके, यह भी जरत न थी उसकी। खास महाल का एक बढ़ता हुआ रैयत था महज—बला से उसने मेले का ठेका ले रक्खा था, मगर वह आदमी उसके आगे इस बुरी तरह आखिर क्यों झुका था? फिर जब मैं तम्बू मे पहुँचा और उसने ब्रह्मा को मेरी इतनी खातिर करते देखा, तो अदब और दीनता से डरते-डरते एकाध बार से ज्यादा मेरी ओर ताकने का उसे भरोसा न हुआ। मैं सोचने लगा, इसकी दृष्टि इतनी दीन-हीन क्यो है आखिर? बेहद ग़रीब है क्या, निहायत बेचारा? उसके चेहरे पर ऐसा क्या था कि मैं बार-बार उसे देखने लगा—ब्लेसेड आर द मीक, फार दीयर्स इज दि किंगडम आफ हेवन। ऐसा बेचारा मुखड़ा मैंने सच ही कभी नही देखा।

ब्रह्मा से मालूम हुआ—"वह कड़ारी तिनटंगा का है, जहाँ ब्रह्मा महतो का घर है। जाति का गंगोता है, नाम है गिरधारीलाल। एक छोटे

लड़के के सिवाय संसार में उसका और कोई नही। जैसा कि मैंने सोचा था, हालत उसकी वडी गई-वीती है। वहरहाल ब्रह्मा ने उसे मेले से टैक्स वसूल करने के लिए चार आने रोज और भत्ते पर रख लिया है।"

इस गिरधारीलाल से मेरी वाद में भी मुलाकात हुई थी। आखिरी भेंट के समय की हालत वडी दर्दनाक रही, वह फिर वताऊँगा। जिन्दगी में मैंने वहुत किस्म के लोग देखे, मगर उसके जैसा सच्चा आदमी नहीं देखा। जानें कितने दिन गुजर गए, इस वीच कितने ही लोगो की याद जाती रही; किन्तु जिनकी स्मृति सदा हृदय मे अंकित है, सदा रहेगी, ऐसे ही कुछ लोगों मे गिरधारीलाल एक है।

[तीन]

शाम होती जा रही थी और अब लौट पड़ना निहायत जरूरी था। सो मैंने ब्रह्मा महतो से विदाई माँगी। सुनकर वह तो मानो आसमान पर से गिर पडा। तम्बू मे और जो-जो लोग बैठे थे, सब-के-सब अचरज से मेरी ओर ताकते रह गए। तीस मील का रास्ता तै करना है—ऐसे समय चलना गैर मुमकिन है! दरअसल हुजूर ठहरे कलकत्ता के रहने वाले। इधर के रास्तों की हकीकत का पता नही, जभी ऐसा कह रहे हैं। दस मील जाते-न-जाते चक्का डूब जायगा। माना कि चाँदनी रात है, मगर जगल पहाड़ का रास्ता, बाघ निकल सकता है, जंगली भैंसा मिल सकता है। आज-कल वेर पकने के दिन है, भालू के निकलने में तो शक ही नही। अभी उस दिन कारो नदी के उस पार महालिखारूप के जंगल से एक वेचारे गाडीवान को वाघ ले ही गया घसीट कर। अकेला था—"नही हुजूर, यह नही हो सकता। जब दया करके इस गरीब के यहाँ आ पहुँचे है, तो रात-भर यही ठहर जायँ। यही भोजन-छाजन करे। सुवह न होगा तो चल देंगे।"

वासती पूर्णिमा की खिली चाँदनी मे जंगल-पहाड़ों की राह से घोड़े

की पीठ पर अकेले चलने का लोभ मेरे लिए दुर्दमनीय हो उठा। ऐसा मौका जीवन में शायद ही फिर कभी मिले, यही शायद अन्तिम अवसर हो—फिर जैसे अपूर्व नज़ारे तमाम राह देखता आया था! चाँदनी रात मे—खासकर पूनों की चाँदनी मे अगर उनकी छटा एक बार न देख सका, तो इतने कष्ट झेलकर आने का कोई मतलब भी हुआ भला?

सबकी मिन्नतें टालकर आखिर मैं चल ही पड़ा। ठीक ही कहा था ब्रह्मा महतो ने, कारो नदी तक पहुँचने से पहले ही सिन्दूरी सूरज पच्छिमी क्षितिज मे एक छोटी-सी पहाड़ी के पीछे डूब गया। कारो नदी के वलुआहे ऊँचे कगारे पर पहुँचा और ढाँलवें से घोडे को उतारने को ही था कि सूर्यास्त का वह दृश्य और पूरव में एक काली लकीर-सा दीखता मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट के माथे पर उगते हुए पूरे चाँद का दृश्य—एक साथ उदय और अस्त के ये दृश्य देखकर घोडे की लगाम सँभाली और मैं तनिक ठिठक गया। उस सुनसान आजाने नदी किनारे, सब कुछ मानों अलौकिक-सा लगने लगा—

रास्ते-भर मे पहाड़ों की उतराई और सपाट में जहाँ-तहाँ विखरा-विखरा जंगल, कही-कही पतली पगडंडी को मानो दोनों तरफ से दवोच देता हो, कही छोडकर अलग हो जाता हो। चारों तरफ कैसा खौफनाक सूनापन! दिन की रोशनी जब तक रही, तब तक फिर भी गनीमत थी, चाँदनी निकल आने के बाद लगने लगा कि मै अजाने और अनोखे सौंदर्यो से भरे परी-देश से चला जा रहा हूँ। बाघ का डर हो आया। ब्रह्मा महतो और अपनी कचहरी के सबने रात को इस राह से जाने की मुमानियत की थी—यह भी याद आया। नन्दकिशोर गुसाईं नाम के बथानवाले ने कोई दो-तीन महीने पहले कचहरी मे महालिखारूप के जंगल में किसी के बाघ का शिकार हो जाने का जो किस्सा सुनाया था, वह भी याद आया। जहाँ-तहाँ पके वेरों के भार से डाले झुक आई थी—नीचे वे हिसाब सूखे और पके वेर विखरे पड़े थे। भालू के निकलने का खासा खतरा था। इस जंगल में भैंसे जरूर नही है; पर मोहनपुरा के जंगल से एक-आध को निकलते

कितनी देर लगती है ! अभी भी पन्द्रह मील की ऐसी ही सूनी और भयावनी राह वाकी थी।

डर की इस अनुभूति ने चारो ओर की सुन्दरता को मानों और वढा दिया। कही-कही घुमावदार राह दक्खिन से सीधे उत्तर को चढ़ आई थी और उत्तर से सीधे पूरव को घूम गई थी। वाई तरफ सटी चल रही थी लगातार पहाडियो की कतार, जिसके नीचे गलगली और पलास के जंगल, चोटी की तरफ सखुओ के पेड और लम्वी घास। चाँदनी लावा जैसी फूटने लगी थी। पेडों की छाया छोटी-से-छोटी हो आई, जानें किस वन-फूल की महक से सारा प्रातर गमगमा उठा था। वडी दूर पर पतई जलाने के लिए संथालो ने पहाड में आग लगा दी थी—एक अनोखा ही दृश्य लग रहा था, जैसे किसी ने पहाडो पर दीपो की माला सजा दी हो !

मगर अपनी आँखों देखने का मौका नही मिला होता, तो किसी के कहने का यकीन ही नही आता कि वंगाल के निहायत ही पडोस में ऐसा जन-हीन प्रातर और गिरिमाला भी है, जो सौन्दर्य के लिहाज से अरिजोना के पथरीले मरुप्रदेश या रोडेशिया के वुशवेल्ड से किसी भी हालत मे कम नही है—भयानकता के लिहाज से भी यह इलाका कम नही। साँझ होते ही लोग वाघ-भालू के डर से रास्ते पर पैर नही धरते !

खुली चाँदनी मे जाते-जाते सोचने लगा—'यह जिन्दगी ही और है ! जो घरो की चहार दीवारी के अन्दर वँधे रहना पसन्द नही करते, घर-गिरस्ती करना जिनके लहू मे ही नही, ऐसे अजीवो-गरीब स्वभाव के लोगों को यही जीवन तो चाहिए। शुरू-शुरू में जव यहाँ आया था, तव यहाँ का यह भयकर सूनापन और जंगली जीवन-यात्रा मानो काटने दौडती थी, मगर अव लगता है, यही अच्छा है। इस वर्वर, रूखी वन्य प्रकृति ने मुझे अपने मुक्ति-मत्र से दीक्षित कर लिया; शहर में अव पिंजरे मे रहते भी वनेगा ? इस पथ-विहीन प्रातर की चट्टानो और साल-पलाश के वनों मे वेतहाशा घोडा दौडाए चलने के आनन्द को, मैं दुनिया की किसी भी दौलत से वदलने को तैयार नही।'

चाँदनी और भी निखर आई। खिली चाँदनी मे तारे लगभग खो गए। चारो तरफ निगाह दौड़ाई, तो लगा, यह वह धरती ही नही, जिसे मैं आज तक जानता रहा हूँ। यह एक स्वप्नो की दुनिया है। इस दिगन्त तक फैले हुए चाँदनी के पारावार में वहुत रात वीते अपार्थिव जीवों का विहार चलता है—वे स्वप्न और कल्पना के, तपस्या के धन है। जिन्हे वन-फूलों से प्यार नही, जो सुन्दर को नही चीन्हते, जिन्हे क्षितिज की रेखा इशारे से कभी वुलाती नही, यह धरती कभी भी उनके हाथों पकड़ मे नही आती, कभी नही।

महालिखारूप का जंगल खत्म हुआ और कोई चार मील चल कर अपनी सीमा शुरू हुई। रात के करीव नौ वजे मैं कचहरी पहुँचा।

[चार]

ढोलक की आवाज आई। झाँककर वाहर देखा। कचहरी के अहाते में जाने कहाँ से आकर कुछ लोग ढोलक वजा रहे थे। कचहरी के नौकर-प्यादे उनके चारों तरफ जा खड़े हो गए। माजरा क्या है, किसी को वुला कर पूछने की मैं सोच ही रहा था कि मुक्तिनाथसिंह जमादार ने आकर सलाम किया और वोला—

"हुजूर, जरा मिहरवानी करके वाहर चलेगे ?"

—"क्यो, वात क्या है ?"

—"इस साल दक्खिन मे अकाल पडा है हुजूर। धान की फसल हुई नही। गुजारा नही चलता, सो लोग पेट चलाने के लिए जहाँ-तहाँ नाच दिखाते फिर रहे है। एक दल हुजूर के सामने नाच दिखाने को यहाँ आया हुआ है। हुक्म हो, तो ये नाच दिखाएँ।"

नाच वाले मेरे दफ्तर के सामने आ खड़े हुए। मुक्तिनाथसिंह ने उनसे पूछा कि वे कौन-सा, नाच दिखायँगे। नाचवाली मंडली में-से साठ-वासठ साल का एक वूढा आगे निकल आया और सलाम करके विनीत भाव से वोला—"हो हो नाच और छोकड़ा नाच हुजूर।"

दल को देखने से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग नाच जाने चाहे न जाने, दो मुट्ठी भोजन पाने के आसरे, सव तरह के, सभी उमर के लोग उसमें शामिल हो गए हैं। वडी देर तक वे नाचते-गाते रहे। दिन ढले वे आए थे, और आसमान में चाँदनी विखर पडी, तव तक घूम-घूमकर, एक दूसरे का हाथ पकड कर नाचते रहे, गाते रहे। अजीव तर्ज के गीत। मुक्त प्रकृति के इस विशाल विस्तार और इस सभ्य जगत् से दूर, वहुत दूर, जंगल की पृष्ठ-भूमि मे इस दिगन्त परिप्लाविनी छाया-विहीन चाँदनी मे इनके ही ये नाच-गीत उचित लगते है। एक गीत का आशय था—

"छुटपने में मजे में था।

अपने गाँव के पीछे जो पहाड़ है, उसकी चोटी पर केंद का जंगल है। उसी जंगल में पके फल वीना करता गूँथा और था करता था पियार के फूलों की माला।

दिन सुख से ही वीतते थे, तव इसकी खाक भी खवर न थी कि प्यार क्या वला होती है।

उस दिन पचनहरी झरने के किनारे फर्रे के शिकार में गया। मेरे हाथो में वाँस का नल था।

तुम कुसुमी रंग की साड़ी पहने पानी भरने को आई थीं। कहा था—
'छिः, मर्द होकर यों चिड़ियों का शिकार?'

मैं शर्म से पानी-पानी हो गया था और शिकार के औजार फेंक दिए थे। वन की चिड़िया तो उड़ भागी; मगर मेरे मन की चिड़िया तुम्हारे प्रेम के फंदे में सदा-सदा के लिए फँस गई!

आखिर नलों से चिड़िया मारने की मनाही करके तुमने यह क्या किया? यह जो कुछ हुआ, वह अच्छा हुआ क्या?"

उनकी भाषा कुछ तो समझ में आती, कुछ-कुछ नहीं आती। उनके गीत शायद इसीलिए मुझे और भी अनोखे लगे। पहाड़ और पियार के वनों के सुर में वँधे हुए उनके ये गीत यही अच्छे लगने के है।

महज चार आने पैसे थी उनके नाच की दक्षिणा। सभी अमलो ने

मुझ से कहा—"ये चार आने भी इन्हे सभी जगह नही नसीव होते हुजूर ! आप ज्यादा पैसे देकर उनका लोभ न वढ़ाएँ, वाजार विगड़ जायगा । दर से ज्यादा मिहनताना देने से गरीव गिरस्थ अपने यहाँ नाच नही करा पाएँगे ।"

मैं तो दंग रह गया । कम-से-कम सत्रह-अठ्ठारह आदमी दो-तीन घंटे तक नाचते रहे थे । चार आने मे फी आदमी एक पैसा भी तो नही पडेगा ! नाच दिखाने के लिए यह घना जंगल और इतना वड़ा प्रांतर पार करके वेचारे इतनी दूर आए है । तमाम दिन की यही तो मजूरी है ! पास पडोस में और कोई वस्ती भी नही कि कही रात का भी ठिकाना हो सके ।

रात को उनके रहने-खाने का इतजाम मैंने कचहरी मे ही कर दिया । सुवह दल के मुखिया के हाथों पर जव मैंने दो रुपए रख दिए, तो वह टुकुर-टुकुर मेरी तरफ ताकता रह गया—अवाक् ! नाच के वदले खाना कोई नही देता, फिर ऊपर से दो रुपए नकद !

नाच वालों के साथ वारह-तेरह साल का एक लड़का था । ठीक जैसे यात्रा-दल* का कृष्ण हो । घुँघराले केश, वड़ा ही शात और सुन्दर चेहरा, वदन का रंग कसौटी की तरह काला । वही पहले गाना शुरू करता और जव पैरो मे घुँघरू वाँधकर नाचता, तो होठो के कोनों पर हँसी थिरक कर जा छिपती । हाव-भाव वताते हुए, हाथ हिला-हिलाकर वह गाता—

"राजा, लीजिए सलाम मैं परदेशिया ।"

महज एक जून भर-पेट खाने के लिए यह सलोना लडका उस मंडली के साथ लग गया था । पैसे का हिस्सा उसे नसीव नही होता था । और खाना भी क्या, माढ़ा और नमक ! वहुत हुआ, तो उसके साथ थोड़ी-सी तरकारी—आलू-परवल की नही, जगली गुरमी की भुजिया या सिझाया हुआ वथुआ या तिनुआ । इमी पर हँसी उसके होठो से सदा लगी है । खासी तंदुरुस्ती, अंग-अग मे लावण्य का निखार !

---

*विना पर्दे के नाटक खेलनेवाली मडली ।

मैंने दल के मुखिया से कहा—"सुनो, इस धतुरिया को यहाँ छोड़ जाओ। यही काम करेगा और खाएगा-पिएगा।"

दाढ़ीवाला वह बूढ़ा मुखिया एक अजीब आदमी था। बासठ की इस उमर में भी वह एक निरा बच्चा हो जैसे।

बोला—"वह यहाँ रह ही नही सकेगा हुजूर! गाँव के जाने-चीन्हें लोगों का संग-साथ है, इसीसे रह लेता है। अकेले कैसा तो करेगा जी उसका। बच्चा है, कैसे रहेगा? इसे आपके पास फिर ले आऊँगा हुजूर!"

छठा परिच्छेद

[एक]

जंगल के अलग-अलग हिस्सों की नाप-जोख चल रही थी। इसी नाप-जोख के सिलसिले मे रामचन्दरसिंह अमीन कुछ दिनों से बोमाइबुरू जंगल में रह रहा था। उस रोज सवेरे यह खबर मिली कि दो-तीन दिन हुए, रामचन्दरसिंह अचानक पागल हो गया है।

सुनते ही मैं कई लोगों के साथ वहाँ गया। बोमाइबुरू खूब घना जंगल नही, ऊँचे-नीचे खुले प्रांतर मे बड़े-बड़े पेड़, पेड़ों से रस्सियों-जैसी झूलती लताएँ, मानो जहाज के ऊँचे मस्तूलो में रस्सियाँ बँधी हो। कही भी लोगों की बस्ती नही।

पेड़-पौधों की भीड से परे एक खुली जगह मे कसाल की छौनी वाले दो झोंपड़े। एक कुछ बड़ा, जिसमे अमीन रामचन्दरसिंह रहता, उसी के पास दूसरे में रहता अशर्फी टंडेल। अपने झोपडे के अन्दर लकडी के मचान पर रामचन्दर आँखें बन्द किए सोया था। हम लोगो के जाते ही जल्दी-जल्दी उठ बैठा। मैंने पूछा—"क्यों, बात क्या है रामचन्दर? कैसे हो?"

रामचन्दर ने हाथ जोडकर नमस्कार किया और चुप हो रहा।

उत्तर दिया अशर्फी टंडेल ने। बोला—"बात बडे अचरज की है बाबू, सुनकर आप विश्वास नही करेंगे। मै खुद कचहरी जाकर इसकी इत्तला देना चाह रहा था; मगर इन्हे अकेला छोड कर जा ही कैसे सकता था? घटना यों है कि कई दिनों से अमीन साहब रोज ही कहते है कि रात को कोई कुत्ता उन्हे आकर तंग करता है। अमीन साहब यहाँ सोते है, मैं वहाँ, उस झोंपडे में सोता हूँ। दो-तीन दिन तो यो ही बीत गए। रोज ही वे कहते थे—रात को कही से एक कुत्ता आता है। मै मचान पर सोया रहता हूँ, वह कुत्ता मचान के नीचे काँउँ-काँउँ करता रहता है। चाहता है कि

वह मेरे पास आ जाय।' मैं उनकी बातें सुनता और उड़ा देता। चार दिन पहले बहुत रात बीते उन्होंने अचानक आवाज दी—'अशर्फी दौड़ कर आओ, वह कुत्ता आया है। लाठी लेते आना—मैंने उसकी दुम को दबा रक्खा है।'

"मैं जग पडा। लाठी और लालटेन लिए दौडा। जाते-जाते जो देखा हुजूर, कहने से विश्वास न होगा; मगर हुजूर के सामने झूठ कहूँ, इस नाचीज मे वैसी हिम्मत नही—उनके झोपडे से एक औरत निकल कर जगल मे चली गई। पहले तो मैं सकपका गया। बाद में अन्दर जाकर देखा, अमीन साहब बिस्तर टटोल कर दियासलाई ढूँढ रहे है। उन्होंने पूछा—'कुत्ते को देखा तुमने ?'

"मैंने कहा, 'कुत्ता कहाँ था बाबू, वह तो एक औरत थी।' वे बोले—'उल्लू कही का, मुझसे बेअदबी ? इस जगल मे आधी रात गए औरत कौन आ सकती है ?' कबख्त कुत्ते की मैंने दुम दबा रक्खी थी, उसका लंबा कान मेरे बदन से लगा था। मचान के नीचे को-को कर रहा था। लगता है, तुमने भंग पी रक्खी है। शिकायत लिख भेजूँगा सदर मे।'

"दूसरे दिन काफी रात तक मै चौकन्ना रहा। किसी वक्त आँख लगी नही कि अमीन साहब ने पुकारा। मै दौडता हुआ निकला। द्वार तक पहुँचा कि देखा, एक औरत उत्तरी घेरे से सटी-सटी जगल की तरफ जा रही है। लगा, जैसे मै भी जगल मे धँस पडा। इतनी ही देर मे वह कहाँ छिप सकती थी और जगल में ही वह कहाँ जाती ? हम नाप-जोख करने वाले लोग, जगल के अत्ते-पत्ते की खबर रखते है। लाख ढूँढा, कही पता नही। मुझे कैसा भ्रम हुआ। मैंने रोशनी पास ले जाकर जमीन को ध्यान से देखा। मेरे जूते के सिवाय उसके पाँवों का कहीं भी निशान न था।

"अमीन साहब से फिर मैंने इसका जिक्र ही नही किया उस दिन। इस भयानक जंगल मे हम ही दो आदमी रहते हैं। मारे डर के मेरे रोंगटे खडे हो गए। बोमाइबुरू जंगल की बदनामी भी है। मेरे दादा कहते थे—एक बार पूर्णियाँ से उडद बेचकर वे घोडे पर सवार होकर चाँदनी रात

में यहाँ से होकर घर लौट रहे थे। बोमाइबुरू पहाड पर, वहाँ वह जो बर-गद का पेड़ है न, उसी के नीचे उन्होंने कम उम्र की हसीन लडकियों की एक टोली को नाचते देखा था। इधर उन्हे लोग 'डामावानू' कहते है— एक किस्म की जिन्न कहिए। सूने जंगल में रहती है ये। इनका दाव चले, तो आदमी की जान ही ले लें।

"दूसरे दिन तमाम रात मैं अमीन साहब के ही झोपड़े मे रहा— जगकर नाप-जोख का हिसाब देखता रहा। धीरे-धीरे रात की आखिरी घड़ियों मे आँख लग गई। अचानक अपने बहुत ही पास कुछ आहट पाकर मै जग पड़ा और देखने लगा। अमीन साहब अपने बिस्तर पर सो रहे थे और उनके मचान के नीचे कोई घुस रहा था! मैंने झुककर नीचे जो देखा, तो चौंक उठा। अँधेरे के झिल-मिल प्रकाश मे पहले तो लगा कि एक औरत नीचे सिमट कर बैठी मेरी तरफ हँसती हुई ताक रही है—आपके पैरो पर हाथ रखकर कह सकता हूँ हुजूर, यह मैंने अपनी आँखों, बिल्कुल साफ देखा था। उसके बालो की लटें तक मैंने देखी। लालटेन छै-सातेक हाथ दूर पर रक्खी थी, जहाँ बैठकर मै हिसाब देख रहा था। और साफ देख सकूँ, इसके लिए मै ज्यो ही लालटेन लाने को गया कि कोई एक जीव अन्दर से निकल कर भागने लगा। लालटेन की आड़ी रोशनी दरवाजे पर पड रही थी। उस प्रकाश में मैंने देखा, एक कुत्ता है, मगर पूँछ से सिर तक एकदम सफेद—कही काला धब्बा तक नही।

"अमीन साहब जगकर चीख उठे—'क्या है?' मैंने कहा—'कुछ नही' कोई स्यार या कुत्ता होगा। अन्दर घुस रहा था।' अमीन साहब बोले—'कुत्ता? कैसा कुत्ता?' मैंने कहा—'सफेद था।' एक निराश भरे-से स्वर मे अमीन साहब बोले—'तुमने ठीक देखा, सफेद था? कि काला?' मैंने कहा—'सफेद ही था हुजूर।"

"मुझे कुछ अचरज-सा लगा। समझ नही सका कि कुत्ता सफेद के बजाय काला ही होता, तो अमीन साहब को कौन-सी शान्ति मिलती। वे सो गए, मगर मुझे इतना डर लग रहा था कि कोशिश करके भी आँखें न

वह मेरे पास आ जाय।' मैं उनकी वातें सुनता और उड़ा देता। चार दिन पहले वहुत रात बीते उन्होंने अचानक आवाज दी—'अशर्फी दौड़ कर आओ, वह कुत्ता आया है। लाठी लेते आना—मैंने उसकी दुम को दवा रक्खा है।'

"मै जग पडा। लाठी और लालटेन लिए दौडा। जाते-जाते जो देखा हुजूर, कहने से विश्वास न होगा; मगर हुजूर के सामने झूठ कहूँ, इस नाचीज में वैसी हिम्मत नही—उनके झोपड़े से एक औरत निकल कर जंगल मे चली गई। पहले तो मै सकपका गया। वाद में अन्दर जाकर देखा, अमीन साहव विस्तर टटोल कर दियासलाई ढूँढ रहे हैं। उन्होंने पूछा—'कुत्ते को देखा तुमने?'

"मैंने कहा, 'कुत्ता कहाँ था वावू, वह तो एक औरत थी।' वे वोले—'उल्लू कही का, मुझसे वेअदवी? इस जंगल मे आधी रात गए औरत कौन आ सकती है?' कंवख्त कुत्ते की मैंने दुम दवा रक्खी थी, उसका लंवा कान मेरे वदन से लगा था। मचान के नीचे को-को कर रहा था। लगता है, तुमने भग पी रक्खी है। शिकायत लिख भेजूँगा सदर मे।'

"दूसरे दिन काफी रात तक मै चौकन्ना रहा। किसी वक्त आँख लगी नही कि अमीन साहव ने पुकारा। मै दौडता हुआ निकला। द्वार तक पहुँचा कि देखा, एक औरत उत्तरी घेरे से सटी-सटी जंगल की तरफ जा रही है। लगा, जैसे मै भी जगल मे घँस पडा। इतनी ही देर मे वह कहाँ छिप सकती थी और जगल मे ही वह कहाँ जाती? हम नाप-जोख करने वाले लोग, जगल के अत्ते-पत्ते की खवर रखते है। लाख ढूँढा, कही पता नही। मुझे कैसा भ्रम हुआ। मैंने रोशनी पास ले जाकर जमीन को ध्यान से देखा। मेरे जूते के सिवाय उसके पाँवो का कही भी निशान न था।

"अमीन साहव से फिर मैंने इसका जिक्र ही नही किया उस दिन। इस भयानक जंगल मे हम ही दो आदमी रहते हैं। मारे डर के मेरे रोगटे खडे हो गए। वोमाइवुरू जगल की वदनामी भी है। मेरे दादा कहते थे—एक वार पूर्णियाँ से उड़द वेचकर वे घोडे पर सवार होकर चाँदनी रात

दूसरा उसका वेटा था—वीस-वाईस का। वलिया के थे वे। चरी के जंगल की कोशिश में आए थे कि कोई इलाका मिल जाय, तो यहाँ अपनी गाय-भैंस लेकर रहे।

चरी के जंगल सव-के-सव दिए जा चुके थे—एक वोमाइ-वुरू का जंगल ही वाकी वचा था। मैंने उसीको उनको सौंप दिया। वूढ़ा वेटे के साथ एक रोज जंगल को देख भी आया। वेहद खुश हुआ। वोला—"काफी लंवी घास है हुजूर—खासा जंगल है। हुजूर की मिहरवानी न होती, तो ऐसा जंगल मिलना मुश्किल था।"

रामचंदर अमीनवाली वात मुझे याद न थी। होती भी तो वूढ़े से मै नही कहता ; क्योकि सुनकर अगर वह भाग जाता, तो जमीदार का नुकसान होता। उस घटना के वाद से आस-पास के लोगो मे से कोई भी उस जंगल के प्रवन्ध के लिए आता ही न था।

महीना भर वाद वैशाख के आरंभ की वात है—एक दिन वह वूढा कचहरी आया। वड़ा ही क्षुव्ध । उसके पीछे सिकुडा-सिमटा-सा खड़ा उसका वही लडका।

मैंने पूछा—"माजरा क्या है ?"

गुस्से से काँपते हुए वूढ़े ने कहा—"इस शोहदे छोकरे को शासन के लिए हुजूर के पास ले आया हूँ। गिनकर इसे पचीस जूते लगाएँ, कि इसके होश ठिकाने आ जायँ ?"

—"क्यों, हुआ क्या है ?"

—"हुजूर से कहते शरम लगती है। यहाँ आकर यह दिन-दिन विगड़ता जा रहा है। कोई सात-आठ दिन से लगातार मैंने गौर किया है, कहते लाज लगती है हुजूर, वरावर घर मे से एक औरत निकलती है। एक ही तो झोपडी है—आठ एक हाथ की होगी। हम दोनो ही उसी में सोते है। मेरी आँखो मे धूल झोकना इतना आसान नही। लगातार दो दिन जव यही रवैया देखा, तो मैंने उससे पूछा। वह तो जैसे आसमान पर से गिर पडा। कहा—'मुझे तो कोई खवर नही !' उसके वाद भी दो

लग सकी। खूब तड़के जगा। जानें क्या सोच कर मैंने सावधानी से मचान के नीचे की तलाशी ली। नीचे मुझे वालो की एक लट मिली—वह लट मैंने रक्खी है, यह देखिए हुजूर। वाल औरत के ही सिर के थे। आखिर कहाँ से आए थे वाल ? घने काले और खासे मुलायम। कुत्ते के, खासकर सफेद कुत्ते के इतने लम्वे और काले वाल तो नही हो सकते ! यह पिछले इतवार यानी तीन दिन पहले की वात हैं। तव से अमीन साहव तो पागल ही हो गए है, मुझे डर हो रहा है, कही अव अपनी ही वारी न हो।"

चडूखाने की गप्प जैसी ही लगी। वालो की लट को मैंने अपने हाथ मे लेकर देखा, कुछ समझ नही सका। इसमे तो कोई शक ही नही कि वाल औरत के ही थे। और सवने यह भी वताया कि अशर्फी टंडेल कम-से-कम नशेवाज तो नही है।

अमीन का झोपड़ा ऐसे प्रातर और जंगल मे था कि वहाँ आदमी का नाम-निशान भी नही था। सवसे नजदीक पडनेवाली वस्ती नवटोलिया भी वहाँ से छै मील दूर थी। इतनी रात मे वहाँ कोई औरत आ कहाँ से सकती है, जवकि वाघ और वनैले सूअर के डर से साँझ होते ही कोई वाहर कदम तक नही रखता।

अगर अशर्फी टंडेल की वात को सही मान ले, तो यह मामला वडा रहस्यमय है ! या यह मानना होगा कि इस पाँडव-वर्जित प्रदेश मे वीसवी सदी को तो घुसने की राह नही ही मिली, उन्नीसवी सदी को भी नही मिली।

मैंने वहाँ का पड़ाव उठवा दिया। अमीन और अशर्फी टंडेल को सदर कचहरी ले आया। रामचन्दर की हालत दिन-दिन बिगडती ही गई—धीरे-धीरे वह घोर पागल हो गया। तमाम रात चीखता-चिल्लाता, वकझक करता, गीत गाता। मैंने डाक्टर वुलवाकर दिखाया। कोई नतीजा न निकला। आखिर उसका एक भाई आकर उसे घर लिवा ले गया।

इस घटना के छै मास वाद चैत महीने में एक दिन दो आदमी मुझसे मिलने आए। एक वूढा था—साठ-पैसठ से कम उम्र नही होगी उसकी।

तो आपने मुझसे यह क्यों पूछा था कि तुमने घर मे कभी कुछ घुसते देखा है या नही ?"

"आखिर क्यों पूछना चाहते हो ?"

—"आजकल मेरी नीद वडी पतली हो गई है हुजूर—चाहे वावूजी के विगड़ते रहने से भय के कारण या और किसी वजह से हो। सो आज-कल मैं रोज ही देखता हूँ कि किही से एक सादा कुत्ता आ जाता है। काफी रात होने पर आता है। किसी-किसी दिन आँख खुलते ही उस पर नजर पड़ जाती है। लगता है, यही कही था। धत्-धुत् करते ही भाग जाता है। कभी मेरी आँख खुलते ही चल देता है। जाने कैसे तो जान जाता है कि मैं जग पड़ा हूँ। ऐसा तो खैर कई दिनो तक होता रहा। कल एक अजीव-सी वात हो गई। वावूजी तक को इसकी खवर नही है, मै आपसे चुपचाप कहने चला आया हूँ। कल वहुत रात हुए जव आँख खुली, तो देखा, कुत्ता वहाँ है। कव घुस आया था, पता नही। धीरे-धीरे वह निकल रहा था। उधर जो कमाल का घेरा है, उसमे खिडकी जैसा फाँक वना है। उसमे से कुत्ता निकला और पलक मारने मे जो देर लगती है, उतने ही मे मैंने देखा, एक औरत खिड़की के वगल से जगल की तरफ चली जा रही है। मै लपककर वाहर निकला, मगर कही कुछ नही दिखाई दिया। वावूजी से मैंने कुछ नही वताया। वूढे आदमी, सो रहे थे वे। मै तो कुछ समझ नही पाता। हुजूर कि माजरा क्या है।"

मैंने भरोसा दिया—"वह आँखों का भ्रम है"—मैंने कहा—"अगर वहाँ अकेले रहते हुए डर लगता हो, तो रात को यही आकर सोया करो।" अपनी कायरता के खयाल से वह शर्मिन्दा हो गया और चला गया ; लेकिन मेरे जी की वेचैनी न गई। निश्चय किया कि अव यदि वैसा कुछ सुनूँ, तो दो प्यादो को वहाँ सोने के लिए भेज दिया करूँगा।

तव भी मै यह नही समझ सका कि वात कैसी संगीन है। और अत्यंत ही अचानक अप्रत्याशित भाव से दुर्घटना हो गई, इसके तीन दिन वाद।

सवेरे नीद से जगा ही था कि समाचार मिला—'वोमाइवुरू के वूढ़े

दिन देखा—वही हाल। फिर मैंने इसकी खूब खबर ली। मेरी आँखों के सामने इस कदर विगड़ जायगा? लेकिन परसों जब फिर से देखा, तो हुजूर के पास ले आया, जरा इसे सजा दें आप।"

मुझे अचानक रामचदर अमीनवाली बात याद आ गई। पूछा—"कितनी रात बीतने पर तुमने देखा?"

—"रात के आखिरी पहर मे ही ज्यादातर, यही दो-एक घडी रात रहते।"

—"तुमने ठीक ही देखा है, औरत थी?"

—"मेरी आँखों की जोत अभी उतनी मंद नही पड़ी है हुजूर। बेशक औरत थी। उम्र भी ज्यादा नही। पहनावे मे कभी सुफैद साड़ी, कभी लाल तो कभी काली। एक दिन मैंने उसका पीछा भी किया था। कसाल के जंगल मे वह कहाँ जो गायब हो गई, पता न चला। लौटकर देखा, यह लडका जैसे सोने का वहाना बनाए पडा है। आवाज देते ही चौककर उठ बैठा मानो नीद से जगा हो। मैंने समझा, इस मर्ज की दवा यहाँ के सिवाय और कही नही होगी, इसीलिए हुजूर के पास—"

मै उस लड़के को अलग ले गया। पूछा—"तुम्हारे बारे मे यह सब क्या सुन रहा हूँ?"

उसने मेरे पाँव पकड़ लिए—"मेरी बातो पर यकीन करे हुजूर! मुझे खाक भी खबर नही इसकी। तमाम दिन भैंसो के पीछे जंगल की खाक छानता हूँ—रात में सोता हूँ तो मुर्दे की तरह। सुबह होने पर ही आँख खुलती है। घर को चाहे आग ही क्यों न लग जाय, मुझे होश नहीं रहता।"

मैंने कहा—"तुमने घर मे कभी किसी को घुसते नही देखा?"

—"जी नही। सो जाने पर वहदवास हो जाता हूँ मै तो।"

आगे और कोई वात नही हुई। बूढ़ा खुश हो गया। उसने समझा ओट मे ले जाकर मैंने लडके को डाट-फटकार दिया है। इसके कोई पंद्रह दिन वाद वह लड़का मेरे पास आया। उसने कहा—"एक वात आपसे पूछने आया हूँ हुजूर। पिछली वार जब मै वाबूजी के साथ यहाँ आया था,

उम्र उसकी कोई पचपन-छप्पन की होगी ; पर उसे बूढा बताना गलत होगा, क्योंकि उसके जैसा गठीला वदन बंगाल के वहुतेरे युवकों का भी नही। ललाट पर तिलक, वदन पर एक सफेद चादर और हाथ मे एक छोटी-सी पोटली।

मेरे पूछने पर उसने वताया कि वह वड़ी दूर से आया है। यहाँ थोडी-सी जमीन-लेकर खेती करने का इरादा रखता है। वड़ा ही गरीव है। सलामी देने की जुर्रत नही। उसने पूछा कि अववटैया पर थोड़ी-सी जमीन मिल सकेगी या नही ?

कुछ इस किस्म के आदमी होते है, जो अपने वारे में ज्यादा कुछ कहना नहीं जानते ; पर उनकी शक्ल देखने से ही मालूम पड़ जाता है कि ये सचमुच ही वडे दुखी हैं। राजू पाँडे की सूरत देखकर ही मुझे लगा, थोड़ी-सी जमीन के लोभ से यह धरमपुर परगने से इतनी दूर आया है। जमीन न मिलने पर लाचार लौट तो जायगा, मगर सारी उम्मीदो पर पानी फिर जायगा, दिल टूट जायगा वेचारे का।

नवटोलिया के उत्तर जगल मे मैंने राजू को दो वीघे जमीन दी—विना सलामी लिए ही कहिए। कह दिया—"खेत वनाकर जोतो-वोओ। शुरू के दो साल तुम्हें कुछ भी नही देना पडेगा। तीसरे साल से चार आना वीघा मालगुजारी देनी पड़ेगी।" तव भी यह कल्पना नही कर सका कि कैसे एक विचित्र आदमी को मैंने जमीदारी मे वसाया !

वह भादों या कुआर के महीने मे आया, जमीन वदोवस्त लेकर लौट भी गया। झमेलों में उसकी वात मैं कतई भूल गया। दूसरे साल सर्दियो के आखीर मे एक दिन नवटोलिया कचहरी से लौट रहा था कि अचानक नजर पडा। पेड तले वैठकर कोई किताव पढ रहा है। मुझे देखकर झट से उसने किताव वद कर दी और खड़ा हो गया। वह राजू पाँड़े था, मैं पहचान गया। सोचा, वात क्या है कि पिछले साल जमीन वदोवस्त लेने के वाद से यह भूलकर भी कभी फिर कचहरी की तरफ झाँकने न आया ? मैंने कहा—"क्यों पाँडेजी, आप यही है ? मैं तो सोच रहा था, जगह-जमीन

इजारादार का लडका मारा गया।' घोडे से हम उसी वक्त चल पडे। वहाँ पहुँचकर देखा कि उनके झोपडे के पीछे कसाल और झाऊ के जंगल मे नौ-जवान की लाश अभी भी पडी है। चेहरे पर भीषण भय और आतक की निशानी—मानो कोई विभीषिका देखकर दम घुटकर मर गया है। बूढे ने वताया—"रात की आखिरी घडियो मे वह अपने विछावन पर नही था। मैने लालटेन लेकर उसकी खोज शुरू की ; मगर सुवह से पहले तक उसकी लाश देखने को न मिली। लगता है, बिछावन से उठकर उसने किसी चीज का पीछा किया था—क्योकि लाश के पास ही लाठी और लालटेन पडी थी। किसका पीछा किया था, यह कह सकना कठिन है। वालू पर सिर्फ उसी के पाँव के निशान मिले और किसी के नही, न आदमी के, न जानवर के। लाश पर भी चोट का कही दाग न था।" इस घटना के रहस्य की कोई मीमासा न हो सकी। पुलिसवाले आए। उनसे भी कुछ करते न बना—लौट गए। इससे लोगों में एक ऐसा डर घर कर गया कि साँझ से वहुत पहले भी उधर कोई नही जाता था। कई दिनो तक तो ऐसा हो गया कि कचहरी मे अकेले सोए-सोए वाहर की थप् थप् धुली चाँदनी रात की उदासी और निर्जनता को देखकर एक अजाने आतक से प्राण काँप उठते। लगता, अव कलकत्ता भाग चलूँ, यह जगह अच्छी नही, यहाँ की चाँदनी रात रूप-कथा की राक्षसी रानी जैसी है, कभी भुला-फुसला कर मार डालेगी। यह मनुष्य की वास-भूमि तो नही ही है, है किसी और ही लोक के रहस्यमय, अशरीरी जीवो का राज्य। वही यहाँ युगो से वसते आ रहे है। आज यहाँ मनुष्यो का यह जो अनधिकार प्रवेश हो गया है, वह उन्हें नही सुहाता! मौका मिलने पर वे इसका वदला चुकाए विना वाज नही आएगे।

[दो]

राजू पाँड़े से जव अपनी पहली वार भेट हुई थी, उस दिन की मुझे आज भी खूब याद है। मै कचहरी मे वैठा हुआ काम कर रहा था। एक गोरा-गोरा-सा सुदर ब्राह्मण मेरे सामने नमस्कार करके आ खडा हुआ।

उम्र उसकी कोई पचपन-छप्पन की होगी ; पर उसे बूढा वताना गलत होगा, क्योंकि उसके जैसा गठीला वदन वंगाल के वहुतेरे युवको का भी नही। ललाट पर तिलक, वदन पर एक सफेद चादर और हाथ मे एक छोटी-सी पोटली।

मेरे पूछने पर उसने वताया कि वह वड़ी दूर से आया है। यहाँ थोडी-सी जमीन-लेकर खेती करने का इरादा रखता है। वड़ा ही गरीव है। सलामी देने की जुर्रत नही। उसने पूछा कि अववटैया पर थोड़ी-सी जमीन मिल सकेगी या नही ?

कुछ इस किस्म के आदमी होते है, जो अपने वारे में ज्यादा कुछ कहना नही जानते , पर उनकी शक्ल देखने से ही मालूम पड़ जाता है कि ये सचमुच ही वड़े दुखी है। राजू पाँडे की सूरत देखकर ही मुझे लगा, थोड़ी-सी जमीन के लोभ से यह धरमपुर परगने से इतनी दूर आया है। जमीन न मिलने पर लाचार लौट तो जायगा, मगर सारी उम्मीदो पर पानी फिर जायगा, दिल टूट जायगा वेचारे का।

नवटोलिया के उत्तर जंगल मे मैंने राजू को दो वीघे जमीन दी—विना सलामी लिए ही कहिए। कह दिया—"खेत वनाकर जोतो-वोओ। शुरू के दो साल तुम्हें कुछ भी नही देना पडेगा। तीसरे साल से चार आना वीघा मालगुजारी देनी पडेगी।" तव भी यह कल्पना नही कर सका कि कैसे एक विचित्र आदमी को मैंने जमींदारी में वसाया !

वह भादों या कुआर के महीने मे आया, जमीन वंदोवस्त लेकर लौट भी गया। झमेलों में उसकी वात मै कतई भूल गया। दूसरे साल सर्दियो के आखीर में एक दिन नवटोलिया कचहरी से लौट रहा था कि अचानक नजर पड़ा। पेड़ तले वैठकर कोई किताव पढ रहा है। मुझे देखकर झट से उसने किताव वंद कर दी और खड़ा हो गया। वह राजू पाँड़े था, मै पहचान गया। सोचा, वात क्या है कि पिछले साल जमीन वदोवस्त लेने के वाद से यह भूलकर भी कभी फिर कचहरी की तरफ झाँकने न आया ? मैंने कहा—"क्यों पाँडेजी, आप यही है ? मै तो सोच रहा था, जगह-जमीन

छोड़-छाड कर आप चल दिए! खेती की है कि नही?" देखा, राजू के चेहरे पर हवाइयाँ उडने लगी। रुक-अटककर कहने लगा—"जी, खेती तो...जी, इस वार..."

मुझे क्रोध-सा हो आया। ऐसे लोग जवान के बड़े मीठे होते है, भुला-फुसलाकर अपना उल्लू सीधा कर लेने मे कुशल। मैंने कहा—"डेढ साल गुजर गया, कभी आपकी चोटी के भी दर्शन नही हुए। जमीदार को अँगूठा दिखाकर मजे मे सारी फसल हजम किए लेते है। शायद भूल गए कि उपज का हिस्सा देना है?"

अचरज से राजू बडी-वडी आँखो से मुझे ताकता हुआ बोला—"फसल हुजूर? मै सोच भी नही सका कि उसका हिस्सा कैसे दूँ—चीना दाना...."

मुझे यकीन न आया। कहा—"पिछले छै महीने से आप चीनादाना खाकर ही गुजारा कर रहे है? और कुछ नही उपजाया है? मकई?"

—"नही हुजूर, वड़ा जंगल है। अकेला आदमी, कितना काटूँ आखिर! बड़ी-वडी मुश्किल से पद्रह कट्ठा तैयार किया है। आइए न हुजूर, एक वार चरणों की धूल दे।"

मैं उसके पीछे हो लिया। कही-कही जंगल इतना घना था कि घोडे को भी चलने में तकलीफ हो रही थी। थोड़ी दूर पर बीघा-भर साफ-सुथरी जगह, उसी के बीच मे घास की दो छोटी और नीची झोंपड़ी। एक मे वह आप रहता, दूसरी में फसल। न थैला, न बोरा। जमीन पर ही चीना-दाना का ढेर लगा था। मैंने कहा—"आप इतने आलसी है पाँडेजी, मुझे मालूम न था। दो साल मे आप दो वीघा जगल भी नही काट सके?" सकपकाते हुए राजू ने कहा—"समय ही वहुत कम मिलता है हुजूर!"

—"क्यो, आखिर तमाम दिन करते क्या है आप?"

शर्माकर राजू चुप हो रहा। उसकी झोंपड़ी मे ज्यादा चीजे नही थी। लोटे के सिवाय दूसरा कोई बर्तन भी न था। लोटा कुछ वडा था, उसी में उसकी रसोई बनती थी। रसोई मे भात कहाँ, चीना-दाना उवाल लेता।

हरे सखुए के पत्ते पर उँडेल कर खाता, वर्तन की फिर जरूरत भी क्या थी! पानी का कुंड पास ही था। और क्या चाहिए उसे।

झोंपड़ी के पास ही एक तरफ सिंदूर लगी राधाकृष्ण की काले पत्थर की मूर्ति थी। समझा, राजू भक्त आदमी है। पत्थर की वेदी को फूलो से सजा रक्खा था, पास ही दो-चार पोथियाँ और कितावे धरी थी। समय कम मिलता है, यानी तमाम दिन शायद वह भजन-पूजन मे ही लगा रहता होगा। खेती कव करे?

राजू को आज ही मैंने पहली वार समझा।

हिंदी राजू पाँडे अच्छी तरह जानता था, थोडी-वहुत संस्कृत भी। सो भी सव समय पढ़ता नही, समय मिलने पर कभी-कभी हिंदी की कोई किताव लेकर वैठता जरा देर—ज्यादातर वह ऊपर आसमान और पहाड़ की तरफ चुपचाप ताकता रहता। एक दिन देखा—छोटी-सी वही लेकर सरपत की कलम से वह न जाने क्या लिख रहा है। अच्छा, पाँडेजी कविता भी लिखते है क्या? मगर ऐसे लजीले और दुवके-से आदमी कि उनसे कोई वात निकाल लेना वड़ा कठिन काम था। अपने वारे में कुछ भी कहना गवारा नही। एक दिन मैंने पूछा—"आपके और कौन-कौन है पाँडेजी?"

—"सभी हैं हुजूर। तीन लड़के, दो लड़कियाँ, विधवा वहन।"

—"उनका गुजारा कैसे चलता है?"

आसमान की ओर हाथ उठाकर वह वोला—"सव भगवान् चलाते है। उनके मुँह में दो दाने दे सकूँ, इसीलिए तो हुजूर की शरण में आया हूँ। जमीन तैयार कर लूँ—"

—"तैयार भी कर ले, तो दो वीघे से उतने वडे परिवार का भरण-पोषण हो सकेगा? और उसमे भी तो आप जी-जान से जुटते नही?"

पहले तो राजू ने इसका जवाव ही न दिया, फिर वोला—"जिंदगी के दिन ही वड़े थोड़े है हुजूर। जंगल काटते-काटते जानें कितनी वातें जी मे आती है, वैठकर सोचने लगता हूँ। यह जो वन-जंगल है, वहुत ही अच्छी

जगह है यह। जाने कब से तरह-तरह के फूल खिलते हैं, चिड़ियाँ चहकती हैं। यहाँ हवा के साथ-साथ स्वर्ग के देवता मिट्टी पर कदम रखते हैं। जहाँ कौड़ी का लोभ है, जहाँ लेन-देन का लेखा-जोखा चलता है, वहाँ की हवा जहरीली हो उठती है। वैसी जगह देवता नही रहते ; इसलिए जब-जब मै यहाँ कुल्हाडी उठाता हूँ, देवता उसे हाथ से छीन लेते है। कानो में चुप-चाप ऐसी-ऐसी बाते कहते है, जिससे धन-जायदाद से मन हटकर बहुत दूर चला जाता है।"

मैंने समझा—राजू कवि तो है ही, दार्शनिक भी है।

मै बोला—"लेकिन पाँडेजी, देवता यह तो नही कहते कि घर खर्च मत भेजा करो, सारे घरवाले फाके किया क ें। ये बेकार की बातें है। आप जी से काम कीजिए, नही तो मै जमीन छीन लूँगा!"

कुछ महीने यो ही बीत गए। बीच-बीच मे राजू के पास भी जाता रहा। बडा ही भला लगता था वह मुझे! नवटोलिया बैहार के उस निर्जन और घने जगल मे एक फूस की झोपड़ी मे वह कैसे दिन काटता था। समझ नही पाता।

सचमुच ही वह सात्त्विक प्रकृति का आदमी था। चीना के सिवाय और कुछ वह नही उपजा सकता। सात-आठ महीने का अरसा उसी पर काटता रहा। कभी किमी से भेट-मुलाकात नही, दो बातें करे, ऐसा कोई आदमी नही। फिर भी उसे कोई असुविधा नही थी। मजे मे रह रहा था। जब कभी भी दोपहर के समय मै उधर से गुजरता, उसे खेत पर काम करते पाता। साँझ को प्राय उसे उस बहेडे के पेड के नीचे चुपचाप बैठा पाता—कभी हाथ मे बही लिए, कभी यो ही।

एक दिन मैंने उससे कहा—"पाँडेजी, आपको थोडी-सी जमीन और दिए देता हूँ, आप ज्यादा खेती करे, नही तो घर के लोग भूखो मरेंगे।"

बडा ही शात प्रकृति का था वह। उसे कोई बात समझाने मे दिक्कत नही पडती थी। उसने जमीन तो ले ली, मगर अगले छै महीनों मे खेत नही तैयार कर सका। सुबह से पूजा और गीता-पाठ में ही दस बज जाते,

फिर काम पर निकलता। कोई दो घंटे मेहनत के बाद रसोई और भोजन तैयार करता, उसके बाद दोपहर भर जी-तोड़ मेहनत—साँझ के पाँच बजे तक। लौटकर पेड़-तले बैठा जाने क्या-क्या सोचता। साँझ के बाद फिर पूजा-पाठ।

उस साल राजू ने थोडी-सी मकई उपजाई। वह फसल उसने खुद नही रक्खी। घर भेज दी। उसका बडा लडका आकर मकई ले गया। उसका लडका मुझसे मिलने आया था। उसे मैंने डाट बताई—"शरम नही आती तुम्हें, बूढे बाप को इस सूने जंगल में भेजकर आप घर बैठे गुलछर्रे उड़ाते हो? तुम लोग कुछ कमाने की कोशिश क्यो नही करते?"

[तीन]

उस बार सूअरमारी गाँव मे जोरो का हैजा फैला। मुझे खबर मिली। वह गाँव अपने इलाके में नही पडता। कोई आठ-दस कोस दूर पर था—कोसी और कलबलिया नदी के किनारे। रोजाना इतने लोग मरने लगे कि कोसी नदी मे लाशे फेंकी जाने लगी—जलाने का कोई इतजाम नही। एक दिन यह भी पता चला कि राजू पाँडे वहाँ इलाज करने के लिए गया है। मै यह नही जानता था कि राजू चिकित्सक भी है। मैंने कुछ दिनों तक होमियोपैथी दवाओ से नाता रक्खा था। सोचा, ऐसे मे अगर लोगों के कुछ काम आ सकूँ तो अच्छा है। यहाँ तो डाक्टर-वैद कुछ है ही नही। मेरे साथ-साथ कचहरी से और भी कुछ लोग वहाँ गये। राजू पाँडे से भेंट हुई। एक बटुए में कुछ जड़ी-बूटी लिए वह इसके-उसके घर घूम रहा था। उसने मुझे नमस्कार किया और कहा—"हुजूर बडे रहमदिल है। आप आ गए, कुछ लोग शायद बच जाएँ।" उसने कुछ ऐसा भाव दिखाया, मानो मैं जिले का सिविल सर्जन होऊँ। वही मुझे रोगियों के घर-घर ले जाने लगा।

राजू सबको उधार ही दवा दे रहा था। चगा होने पर दाम चुकाने की शर्त थी। झोंपड़ो मे गरीबी की कैसी दर्दनाक तसवीर। फूँस या खपड़े

के घर, वडे ही तंग कमरे, खिडकी नदारद—धूप-हवा आने-जाने की कोई गुजाइश ही नही। जो भी घर थे, लगभग सव मे एक-दो रोगी मैले-कुचैले बिस्तर पर पडे। न डाक्टर, न दवा, न पथ्य। राजू मे जितनी शक्ति थी, वह कोशिश कर रहा था। विना बुलाए ही वह हर रोगी के घर जा-जाकर अपनी जडी-वूटी पिला रहा था। एक रात तो वह किसी रोगी वच्चे को जगकर तीमारदारी भी करता रहा। लेकिन वीमारी घटने के वजाय वढती ही चली जा रही थी।

वह मुझे एक घर मे लिवा ले गया। घर क्या, महज एक कमरा। फूँस की छौनी। रोगी जमीन पर ताड़ की चटाई पर सोया था। उमर पचास से कम नही होगी। दरवाजे के पास एक सत्रह-अठारह साल की लड़की वैठी जार-वेजार रो रही थी। राजू ने उसे दिलासा देते हुए कहा—"रो मत विटिया, हुजूर आ पहुँचे है, अव कोई खतरा नही। रोगी भला-चंगा हो जायगा।"

अपनी वेवसी को सोचकर वडा शर्मिदा हुआ मै। मैने पूछा—"यह लडकी वूढे की वेटी है, क्यों?"

राजू वोला—"नही हुजूर, यह उसकी वीवी है। इसके दुनिया मे कोई नही है। विधवा माँ थी, इसे व्याहते ही चल वसी वेचारी। इस वूढे को वचा लीजिए हुजूर, नही तो यह लडकी कही की न रह जायगी।"

कुछ जवाव देने ही जा रहा था कि मेरी नजर रोगी के सिरहाने के पास के ताख पर पडी। लकडी का ताख, रोगी के विस्तर से दो-तीन हाथ की ऊँचाई पर। उस पर पत्थर के वर्तन में थोडा-सा वासी भात खुला पडा था! मक्खियाँ भिनक रही थी उस पर! क्या गजव था! घर मे एशियाटिक कालरा का रोगी और उसके पास ही विना ढँका वासी भात!

दिन-भर रोगी के सेवा-जतन से थककर यह गरीविन शायद नमक-मिर्च मिलाकर उसी वासी भात को चाव से खा लेगी! यही जहरीला भात, जिसके एक-एक दाने मे मौत के वीज है। उस लडकी की आँसू-भरी दो

भोली आँखो की ओर देखकर मैं सिहर उठा। राजू से मैंने कहा—"उससे कहो, यह भात उठाकर फेंक दे। इस घर में कोई खाने की चीज नही रखनी चाहिए।"

भात फेंक देने की जो बात आई, तो वह लड़की अचरज से हमारा मुँह ताकने लगी। आखिर वह भात फेक कैसे दे? खायगी क्या? वह थोड़ा-सा भात कल रात उसे ओझाजी के यहाँ से खाने को मिला था।

मुझे याद आया, अपनी तरफ जैसे पूडी-पुलाव होता है, भात इधर का वैसा ही कीमती खाना है। फिर भी मैंने जरा कड़क कर कहा—"तुम इसे उठाकर फेक दो—अभी, तुरत।"

डरती-डरती वह उठी और भात को ले जाकर बाहर फेक दिया।

लाख जतन करने पर भी उसके पति को बचाया न जा सका। साँझ के बाद ही बूढे ने आखिरी साँस ली। वह लडकी बेजार रोई। राजू भी उसके साथ रोते-रोते बेदम था।

राजू मुझे एक और घर मे ले गया। वह उसके दूर के रिश्ते मे साला लगता था। यहाँ आने पर राजू पहले यही ठहरा था। यही खाता-पीता था। इस घर मे माँ और बेटा, दोनो को हैजा हो गया था। दोनो अगल-बगल के कमरे मे थे। यह उसे और वह इसे देखने को बेचैन। लड़का महज सात-आठ साल का।

पहले लडका गुजरा। माँ के कानो में इसकी खबर तक नही होने दी गई। मेरी दवा से माँ की हालत धीरे-धीरे सुधरने लगी। वह बार-बार अपने बेटे की खोज करती—बगल के कमरे से उसकी कोई आहट क्यो नही मिलती? कैसा है मेरा बच्चा?

हम बताते—"उसे नीद की दवा दी गई है। सो रहा है वह।"

बच्चे की लाश छिपाकर धीरे-धीरे बाहर निकाली गई।

गाँव के लोग स्वास्थ्य के नियमो के सम्बन्ध मे कुछ जानते ही न थे। एक ही पोखर, उसी में कपडे फीचते, उसी में नहाते। मैंने लाख सिर मारा, मगर यह बात उनके दिमाग में न घुसा सका कि नहाना और पानी पीना,

बात एक ही है। जाने कितने लोग कितने परिवारो को यो ही छोडकर भाग गए। एक घर मे सिर्फ एक रोगी को ही पाया—दूसरा कोई न था। वह रोगी उस घर का घरजमाई था—बीते साल उसकी बीबी मर गई। फिर भी वह वही था—बुरी दशा थी उसकी, इसलिए या और किसी कारण से हो, ससुराल से वह कही नही गया। अभी उसे हैजा जो हुआ, तो ससुराल वाले उसे छोडकर जाने कहाँ चल दिए। राजू रात-दिन उसकी सेवा करने लगा। दवाई की व्यवस्था मैंने कर दी। आखिर वह बच गया। मै समझ गया, उसके भाग मे ससुराल के अन्न पर पलने का अभी बहुत दु ख लिखा है। राजू को अपने इलाज की कमाई बटुए मे से निकाल कर गिनते हुए देखकर मैंने पूछा—"कितनी रकम जोडी है ?" गिनकर राजू ने बताया—"एक रुपया तीन आने हुजूर।"

इतनी ही रकम से वह मगन था। इधर के लोग मुश्किल से एक पैसा देख पाते है, उस हिसाब से एक रुपया तीन आने की कमाई कम न थी। पंद्रह-सोलह दिनो से राजू को बेहद काम करना पडा—डाक्टर भी वही, नर्स भी वही।

काफी रात बीते गाँव में से रोने की आवाज उठी। फिर कोई मरा। रात को मुझे नीद नही आई। गाँव के बहुतेरे लोग नही सोए। घर के आगे लकडी के कुंदे जलाकर गधक जलाते रहे, आग के पास बैठ-बैठे बाते करते रहे। रोग और मौत, प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर इसके सिवा कोई बात ही नही। सबके चेहरो पर भय और आतक की झलक—न जाने कब किसकी बारी आ जाय!

आधी रात को समाचार मिला, साँझ के समय जो लडकी विधवा हो गई थी, अब उसको हैजा हो गया। मैं देखने गया। पास ही किसी दूसरे के घर की गोशाला में वह पडी थी। मारे डर के वह अपने घर नही सो सकी, लेकिन चूंकि उसने हजे के रोगी को छूआ था, इसलिए किसी ने उसे अपने घर पनाह तक न दी। गोशाला के एक ओर गेहूँ की बिचाली पर एक पुराना टाट बिछा था। वह उसी पर पडी तडप रही थी। राजू और मैंने

उस अभागिन को बचाने की बहुतेरी कोशिशे कीं। कहीं कोई लालटेन नही मिली, पानी नही मिला। कोई झाँककर देखने तक नही आया। कुछ ऐसा आतंक फैल गया था कि किसी को हैजा होने पर उसकी घर की सीमा तक में कोई पैर नही रखता था।

सवेरा होने को आया।

राजू को नाडी की बडी पहचान थी। हाथ देखकर बोला—"हुजूर, लक्षण तो कुछ अच्छा नही दीखता।"

मैं ही क्या करता। डाक्टर तो था नही। पानी चढ़ा पाता, तो कुछ उम्मीद थी। इधर वैसा कोई डाक्टर भी नही।

नौ बजे वह लड़की गुजर गई।

हम नही होते तो उसकी लाश निकाली भी जाती या नही, नही कह सकता। बड़ी आरजू-मिन्नत के बाद दो अहीर आए। बाँस से ढकेलते हुए वे लाश को नदी तक लुडका ले गए।

राजू बोला—"जी गई बेचारी। विधवा, फिर छोटी-सी लडकी। क्या खाती बेचारी और उसकी देख-भाल ही कौन करता।"

मैंने कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग बड़े निर्दयी होते हैं।" मुझे एक कचोट रह गई कि मैंने उस बेचारी लड़की को जतन से रक्खा हुआ दो मुट्ठी भात भी क्यो नहीं खाने दिया।

[चार]

सुन-सान दोपहरी में सुदूर महालिखारूप के पहाड़ और जंगल अजीव रहस्यमय से लगते। कितनी ही वार सोचा कि पहाड़ की सैर कर आऊँ, मगर फुर्सत नही निकल सकी। सुनता आ रहा था कि वह पहाड़ दुर्गम जगलों से भरा है, शंखचूड साँपों की वहुतायत है। मुश्किल से पाई जाने वाली जंगली चद्रमल्लिका तथा भालुओ के अड्डे भरे हैं। पहाड पर पानी नही मिलता, फिर खौफनाक शखचूड़ साँपो का खतरा! सो लकडहारे भी वहाँ जाने की हिम्मत नही करते।

क्षितिज की अंतिम रंगीन आभा से महालिखारूप की चोटियाँ ऐसी ही अनुरजित हुई थी, जैसी कि आज मेरी आँखों के सामने हो रही है। जानें कितने दिन पहले, जिस दिन चंद्रगुप्त राजगद्दी पर पहली बार बैठे, ग्रीस के राजा हेलिओडोरस ने गरुड़ध्वज स्तंभ का निर्माण किया, जिस दिन राजकुमारी सयुक्ता ने स्वयवर-सभा मे पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में वरमाला डाल दी ; सामूगढ़ की लडाई मे मुँहकी खाकर अभागा दारा शिकोश जिस दिन आगरा से दिल्ली भागा, चैतन्य महाप्रभु ने जिस दिन श्रीवास के यहाँ कीर्त्तन किया ; जिस रोज पलासी के मैदान मे घनघोर लडाई हुई—महालिखारूप की ये चोटियाँ, यह जंगल, सब-कुछ ऐसा ही था—ठीक ऐसा ही। उन दिनो यहाँ कौन लोग रहते थे ? यहाँ से कुछ ही दूरी पर फूँस के कुछ घरों का एक गाँव देख आया था। लकड़ी के दो-एक टुकडों के सहारे बना हुआ ढेकी-जैसा कुछ था, जिससे लोग महुए का तेल निकाला करते थे। वहाँ एक बुढिया को देखा, अस्सी-नब्बे की उम्र होगी उसकी, सारा सिर सन-जैसा सफेद, तमाम बदन रूखा। धूप मे बैठी शायद वह माथे से जूँ बीन रही थी—ठीक कवि भारतचद्र द्वारा वर्णित अन्नपूर्णा जैसी। बैठे-बैठे मुझे उस बुढिया की याद हो आई। इस वन्य अचल की पुरानी सभ्यता की प्रतीक वही बुढिया है—उसी के पुरखे हजारो साल से इस इलाके मे बसते आ रहे है। जिस रोज महात्मा ईसा क्रूस से मारे गए थे, उस रोज भी वे लोग जिस तरह महुए के बीजो से तेल निकाल रहे थे—आज भी उसी तरह निकाल रहे है। अतीत के घने कुहरे मे हजारो साल की अवधि गुम हो गई है, मगर ये आज भी बाँसो की नलियों से उसी तरह चिडियो का शिकार कर रहे है। ईश्वर या ससार के बारे मे उनकी विचार-धारा जहाँ-की-तहाँ है, तिल-भर भी इधर-उधर नही हुई। उस बुढ़िया की विचार-धारा क्या है, यह मालूम हो सके, तो मै अपनी साल-भर की सारी कमाई देने को तैयार हूँ।

मेरी समझ में नही आता कि किसी-किसी जाति मे सभ्यता का ऐसा कौन-सा भेद छिपा रहता है कि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते है, उन्नति

की राह से वह आगे निकलती जाती है। फिर दूसरी जाति हजारों साल के अरसे में भी जड़ की तरह जहाँ-की-तहाँ क्यो रह जाती है? चार-पाँच हजार वर्षों की अवधि मे वर्वर आर्य जाति ने वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य, ज्योतिर्विद्या, ज्यामिति, चरक-सुश्रुत की चर्चा की, देशो को जीता, साम्राज्यों की नीव डाली, वेनस द्यमिलो की मूर्ति, पर्थिनन, ताजमहल और कोलों कैथिड्रल का निर्माण किया, दरवारी कानड़ा और फिफ्थ सिम्फोनी की सृष्टि की—हवाईजहाज, जहाज, रेल, वेतार, विजली का आविष्कार किया—लेकिन पपुआ, न्यूगिनी, आस्ट्रेलिया के आदिम अधिवासी हमारे यहाँ के मुडा, कोल, नागा, कुकी लोग इन पाँच हजार वर्षो मे भी वही-के-वही क्यो रह गए है?

आज मैं जहाँ वैठा हूँ, किसी अतीत युग मे यहाँ महासमुद्र लहराता था—उस पुराने महासमुद्र की लहरे कैंवियन युग के इस वालुकायम तीर पर आकर पछाड़ें खाती थी, जो आज पहाडो में बदल गया है। घने जंगल के वीच वैठकर मैं अतीत के उस नीले समुद्र का सपना देखने लगा—

पुरा यतः स्रोतः पुलिन मधुना तत्र सरिताम्

वालुका-प्रस्तर के इस शिखर पर भूले अतीत का वह सागर अपनी उन्मत्त लहरो की निशानी छोड गया है—वह निशानी वहुत ही साफ है—भूतत्त्वविद् उस निशानी को पहचान सकते है। उन दिनो आदमी नही थे, इस तरह के पेड-पौधे भी नही थे। जैसे जीव-जंतु और पेड-पौधे उन दिनो थे, इन पत्थरो की छाती पर वे अपनी छाप छोड गए है—जिस किसी भी जादूघर में उनके नमूने देखे जा सकते है।

महालिखारूप पहाड़ के माथे पर तीसरे पहर की धूप रगीन हो उठी। हरसिंगार के वन से आने वाली महमहाती हवा मे हेमत का हलका आभास। यहाँ और देर करना उचित न था, कृष्णा एकादशी की अँधेरी रात सामने थी। जगल मे कही स्यारों का दल हुक्का-हुआ कर उठा—कही वाघ-भालू राह न रोक ले।

लौटते समय एक चट्टान पर मैंने जंगली मोर देखा। वह जोड़ा था।

घोड़े से डर कर मोर तो उड भागा, लेकिन मोरनी टस-से-मस न हुई। मुझे बाघ के खतरे से चलने की जल्दी थी, देखने का अवकाश न था। फिर भी मोरनी के सामने मै ठिठक गया। जगली मोर मैंने देखा नही था। लोग-बाग कहते थे कि इधर मोर है ; पर यकीन नही आता था। ज्यादा देर रुकने की हिम्मत नही हुई। क्या पता, यहाँ के बाघो की जो चर्चा है, कही वह भी मोरों की बात-जैसी ही सच न निकल आए!

सातवाँ परिच्छेद

[एक]

अपने गॉव जाने के लिए जी का छटपटाना एक अजीव अनुभूति है। जो आजीवन एक ही जगह रह जाते हैं, अपने गाँव को छोड़कर कही नहीं जाते, ऐसे लोग इसके वैचित्र्य को हर्गिज नही समझ सकते। जो किसी दूर देश में , सगे-सम्वन्वियो से अलग लम्वे दिनों तक रह चुके है, वे खूब समझ सकते हैं कि अपने देश जाने के लिए, देशभाइयो से मिलने के लिए, मन किस तरह हाहाकार करता है। ऐसे में एक निहायत मामूली-सी घटना भी अनोखी हो उठती है। लगता है, जो कुछ गुजर चुका है, वह फिर कभी नही होने का—और तव सारी दुनिया उदास-सी दीखती है, अपने यहाँ की एक-एक चीज वेहद प्यारी लगने लगती है।

वरसों इवर विताने के वाद अपनी भी ठीक वही हालत हो गई है। छुट्टी के लिए लिखने की वात वहुत वार मन में आई, लेकिन जिम्मेदारी इतनी ज्यादा रही कि लिखने में संकोच अनुभव किया ; परन्तु इस वीरान जंगल-पहाड़ों में महीनों और वरसों वाघ-भालू और नीलगायो के वीच विताना भी एक कठिन वात है! कभी-कभी जी हाँफ-सा उठता। अपनी वंग-भूमि को भूल वैठा था। जाने कितने दिन हो गए दुर्गापूजा देखे, जमाने से चड़क पूजा का ढोल भी नहीं सुना। मन्दिरो से उठने वाली धूप-गुगल की गंव तक नही मिली। वैशाखी के प्रभात का विहग कल-कूजन सुनने को नही मिला—वंगाल की वह गिरस्ती, शात-पूत काम, चौकी पर काँसे-पीतल के वर्तन, पीढ़े पर आँकी आल्पना, ताखो पर रक्खी लक्ष्मी की पिटारी— ये मानो सुदूर अतीत के भूले हुए जीवन-स्वप्न हों।

जाड़ो के वाद गरमी के दिन आए तो मेरा मन और भी उचाट हो गया।

ऐसे ही समय मैं घोड़े पर सवार होकर सरस्वती कुंड की तरफ घूमने गया। घोड़े से उतर कर एक उपत्यका पर मैं चुपचाप खड़ा हो गया। मेरे चारो तरफ माटी के ऊँचे-ऊँचे टीले थे तथा टीलो पर झाऊ और कसाल के घने जगल। ठीक मेरे माथे पर टँगा था थोड़ा-सा नील आसमान। काँटो से भरे एक पौधे मे बैंगनी रग के फूलो के गुच्छे लगे थे, देखने मे ठीक विलायती कार्न फ्लावर के समान। उनमे से अलग एक फूल मे खास कोई शोभा नही, इकट्ठे बहुत-से फूल एक बैंगनी साडी-से दिख रहे थे। वर्ण वैचित्र्यहीन अधसूखी कास के इस वन मे ये थोडे-से फूल मानो वसन्तोत्सव मे मतवाले हो रहे थे और झाऊ के नीरव, रूखे अरण्य इन्हें निहायत अवज्ञा और उपेक्षा की निगाहो से देखकर मुँह फिराए प्रवीणता के धीरज से उसे बर्दाश्त कर रहे थे। उन्ही जगली बैंगनी फूलो ने मेरे कानो में वसत-आगमन की वाणी सुनाई। फूल भी, कुछ नीबू के नही, आम की मजरी नही, कामिनी फूल, रक्तपलाश या सेमर के फूल नही, एक नाम-गोत्र-हीन तुच्छ बेढगे जंगली कँटीले फूल! वही फूल मुझे बाग-बगीचो मे भरे वसत के कुसुम-संभार के प्रतीक से प्रतीत हुए। देर तक वहाँ निमग्न खडा रहा। मै था बग-भूमि की संतान, कुछ जगली फूलो द्वारा डाली सजाकर वसत का मान रखना मेरे लिए बिल्कुल नई बात थी। मगर उस ऊँची उपत्यका के जंगल की शोभा कैसी मनोरम थी! कैसे ध्यान-निमग्न, उदासीन, विलास-हीन, सन्यासी-जैसा रूखा चेहरा था उसका, लेकिन कितना विराट्! उस अधसूखे फूल-पत्तो से रहित वन की निस्पृह आत्मा और नीचे के इन वन्य बर्बरो तरुणो के वसन्तोत्सव की आडम्बर-हीन प्रचेष्टा के उच्छ्वसित आनन्द से मेरा मन एकाकार हो गया।

अपने जीवन का वह भी एक अद्भुत क्षण था। कुछ देर तक मै यो ही खडा रहा। ऊपर के उस एक टुकडे नीले आसमान पर दो-एक नक्षत्र उग आए। ऐसे मे अचानक घोडे की टाप सुनाई पड़ी। मैंने देखा, पूरनचन्द अमीन नाढा बैहार से नाप-जोख का काम खत्म करके कचहरी लौट रहा

है। मुझे देखकर वह घोड़े पर से उतर पड़ा। बोला—"हुजूर यहाँ कहाँ ?"

मैंने कहा—"यों ही घूमने आ गया था।"

वह बोला—"साँझ के समय यहाँ हर्गिज अकेले न रहें, कचहरी लौट चलिए। यह जगह अच्छी नहीं है। मेरे टंडेल ने अपनी आँखो देखा है—उधर के उस काम-वन में बहुत बड़ा बाघ था। चलिए हुजूर यहाँ से।"

पूरनचन्द के टंडेल ने दूर पर गाना शुरू कर दिया था—

दया होई जी !

उस दिन से उन बैंगनी फूलों पर नजर पड़ते ही मेरा मन बंगाल जाने के लिए न जाने क्यों रो उठता। और रोज साँझ को अमीन पूरनचन्द का टंडेल छट्टूलाल रोटी बनाते समय इसी गीत को शुरू कर देता—

दया होई जी !

मुझे लगता, फागुन के आते-आते मँजराये आमों की गंध-भरी छाया में खिले सेमरों वाले नदी के इस पार खड़े होकर कोयल की कूक सुनने का सुअवसर शायद इस जीवन में कभी भी नहीं मिलने का—किसी दिन इसी वीरान जंगल में बाघ-भैंसों के हाथ यों ही जान गँवानी पड़ेगी।

झाऊ के जंगल वैसे ही स्थिर खड़े रहते, सुदूर वन के माथे से मिला हुआ क्षितिज वैसा ही धुँधला और उदास दीखता।

ऐसे ही एक दिन, जब कि गाँव जाने के लिए जी न जाने कैसा-कैसा हो रहा था, रासबिहारीसिंह के यहाँ से होली का न्योता आया। रासबिहारीसिंह इस इलाके का बड़ा ही जाबिर महाजन था। जाति का रजपूत, कारो नदी के किनारे खासमहाल का रैयत था। अपनी कचहरी से बारह-चौदह मील उत्तर-पूरब कोने पर मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट से सटा हुआ गाँव था उसका।

न्योता न मानना भी ठीक न था ; मगर उसके घर जाने की भी मेरी इच्छा न थी। इधर के जितने भी गंगोते रैयत थे, सब का महाजन वही था। गरीबों का लहू चूस-चूस कर वह आप बड़ा आदमी बना था। उसके

रौव-दाब के आगे किसी को चूँ तक करने की मजाल नही थी। तनखाह पाने वाले या जमीन जोतने वाले लठैत उसके तकाजे में घूमा करते। हुक्म करते ही लोगो को बाँध कर हाजिर करते थे। रासबिहारी को कभी अगर यह खयाल हो जाता कि फलॉ आदमी ने उसकी इज्जत नही की, या जैसा चाहिए था उसका सम्मान नही किया, तो उस बेचारे की शामत ही आगई जानिए। फिर वह छल-बल-कौशल से उसे खासा सवक सिखाकर ही दम लेता था।

यहाँ आने के वाद मुझे तो लगा था कि वही इस इलाके का राजा है। गरीब रैयत उसके डर से थर-थर काँपा करते, सपन्न लोगों को भी उसके सामने कुछ कहने की हिम्मत नही पड़ती, क्योकि उसके लठैत वडे खूँखार थे, मार-पीट और लडाई-दगे मे कुशल। पुलिस के लोग भी उसके हाथ में थे। खास महाल के सर्किल अफसर या मैनेजर उसके घर पर आतिथ्य कबूल किया करते थे। फिर इस जगल में अपने आगे वह लगाये भी किसे?

उसने मेरे रैयतो पर भी प्रभुत्व दिखाने की कोशिश की थी, मगर मैंने उसे वैसा करने से रोक दिया था। साफ शब्दों में कह दिया था—"अपने इलाके मे जो जी मे आवे करो, अगर मेरे रैयतो का बाल भी बाँका हुआ, तो मै उसे हर्गिज वर्दाश्त न करूँगा।" वीते साल ऐसी ही बात को लेकर उसके लठैतो और मेरे मुकुन्दी चकलादार तथा गणपत तहसीलदार के मुलाजिमो मे मारपीट हो गई। पिछले सावन के महीने मे भी कुछ गोल-माल हो गया। वात पुलिस तक पहुँच गई। दरोगा ने आकर तसफिया कर दिया। तव से रासबिहारीसिंह मेरे रैयतो से छेड-छाड़ नही करता।

उसी रासबिहारीसिंह के यहाँ से न्योता आया है। यह सुनकर मुझे हैरत हुई।

मैंने गनपतसिंह तहसीलदार को वुलवा कर उससे राय ली। वह वोला—"कहा नही जा सकता हुजूर, वह आदमी यकीन करने लायक नहीं। कोई ऐसा काम नही, जो वह नही कर सकता। किस मतलव से उसने हुजूर को वुलाया है, राम जाने। मेरे खयाल मे आप न ही जायँ तो अच्छा।"

मगर मुझे गनपत की यह राय जँची नही। न जाने से रासबिहारी

अपने को अपमानित मानेगा ; क्योंकि होली राजपूतो का एक मुख्य त्योहार है। शायद वह यह भी सोच बैठे कि मैं डर के मारे उसके यहाँ नही गया। ऐसा सोचना भी मेरा अपमान है। उँहूँ, नसीब में चाहे जो हो, जाना जरूरी है।

कचहरी के लगभग सभी आदमियो ने मुझे रोकने की कोशिश की। बहुतेरा समझाया-बुझाया भी। बूढ़े मुनेश्वरसिंह ने कहा—"हुजूर, जा तो रहे हैं आप ; पर इधर के रीति-रिवाज आप नही जानते। यहाँ जरा-सी बात पर लोग खून कर बैठते है। जाहिलों का इलाका है यह। सब काला अच्छर भैंस बराबर हैं। फिर रासबिहारीसिंह तो बड़ा ही जालिम है हुजूर। अपनी जिन्दगी मे उसने कितने खून किए हैं, उसका कोई लेखा-जोखा नहीं है! वह क्या नहीं कर सकता—खून, अगलगी, जालसाजी—हर काम में वह पक्का है।"

सब कुछ सुनी-अनसुनी करके मैं रासबिहारीसिंह के घर गया। ईंट की दीवारें, खपड़ो की छौनी। आम तौर से जैसे घर इधर के संपन्न लोगों के होते है, वैसा ही उसका घर भी था। सामने बरामदा, बरामदे में कोल-तार से रगे लकड़ी के खंभे। रस्सी से बुनी दो खाटे वहाँ बिछी थीं। दो-एक आदमी बैठे हुए नल से तम्बाकू पी रहे थे।

जैसे ही मेरा घोड़ा दरवाजे पर पहुँचा जाने कहाँ से दो बार बन्दूक की आवाज हुई। रासबिहारी के कारिन्दे मुझे पहचानते थे। मैं समझ गया, यह मेरा स्वागत किया गया है ; मगर खुद मकान-मालिक कहाँ है? उसके आए बिना अतिथि के घोड़े से उतरने का रिवाज नही है।

जरा देर बाद रासबिहारी के बड़े भाई रासउल्लाससिंह आए। विनीत भाव से दोनों हाथ उठाकर उन्होंने कहा—"आइए, गरीब के झोपड़े में चरण रखिए। मेरे मन की हलचल खत्म हो गई। सोचा, राजपूत जिसे एक बार अतिथि मान लेते है उसका कभी बुरा नही करते। अगर आदर से कोई मुझे घोड़े से उतारने नहीं आता, तो मैं बैरंग वापस हो जाता।

आँगन मे बहुत-से लोग इकट्ठे थे। उनमें से ज्यादा गंगोते थे। जो

मैले कपड़े उनके वदन पर थे, सव पर रंग के छींटे पड़े थे। न्योता मिला हो या न मिला हो, अपने महाजन के घर सभी होली खेलने को आ गए थे।

कोई आधे घटे के बाद रासविहारीसिंह आया और मुझे देखकर वह अवाक् हो गया। मतलव यह कि उसे स्वप्न मे भी यह भरोसा न था कि मैं न्योते पर उसके घर जाऊँगा। जो भी हो, उसने मेरी खासी आव-भगत की।

जिस कमरे मे वह मुझे ले गया, उसमें गँवई बढ़ई के हाथ की बनी वेढंगी दो-तीन कुर्सियाँ और एक वेंच थी। दीवार मे सिन्दूर और चन्दन से पुती गणेश की एक मूर्ति।

कुछ ही क्षणो मे एक लड़का एक थाली लेकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उस थाली मे थोड़ी-सी रोली थी, थोड़े-से फूल, कुछ रुपए, चीनी के लायचीदाने, एक ढेला मिसरी और फूल की माला थी। रासविहारी ने मेरे कपाल पर थोडी-सी रोली मल दी, मैंने भी उसके अवीर लगाया और थाली से माला उठा ली। इसके वाद क्या करना चाहिए, यह न जानने के कारण मैं अनाडी की नाईं थाली की तरफ ही ताकता रहा। रासविहारी वोला—"ये रुपए आपकी भेट हैं हुजूर, यह तो लेने ही पड़ेंगे।" मैंने अपनी जेब से कुछ रुपये निकाल कर उन रुपयो मे डाल दिए और कहा—"इनसे मिठाई मँगा कर सबको बाँट दीजिए।"

उसके बाद वह मुझे अपना ऐश्वर्य दिखाता फिरा। उसकी गोशाला म साठ-पैंसठ गाएँ थी और अस्तवल मे सात-आठ घोडे। घोडो में से दो शायद वहुत सुन्दर नाचते हैं। उसने मुझे किसी दिन उनका नाच दिखाने की वात कही। हाथी नही था, लेकिन जल्दी-से-जल्दी वह हाथी खरीदने की सोच रहा था, क्योंकि इधर हाथी न होने पर लोग सपन्न नही माने जाते। उसके यहाँ आठ सौ मन गेहूँ होता है। दोनो जून मे कोई अस्सी पिचासी आदमियो का खाना बनता है। खुद वह सुवह डेढ़ सेर दूध और एक सेर मिस्री का जलपान करता है। वाजार की रद्दी मिसरी वह नही

खाता। जो यहाँ मिसरी का जलपान करते है, वे वड़े लोगो मे गिने जाते हैं। यहाँ वड़प्पन का यह भी एक लक्षण माना जाता है।

उसके वाद मैं एक दूसरे कम` मे ले जाया गया। इस कमरे मे दो-ढाई हजार भुट्टे लटक रहे थे। ये भुट्टे अगले साल वोने के लिए रक्खे गए थे। लोहे की चदरों को कीलो से जोड़-जोड़ कर वनाई गई एक कडाही मुझे दिखाई गई, जिसमे डेढ़ मन दूध उवाला जाता है। इतना दूध उसके यहाँ रोज लगता है। एक छोटे-से कमरे में लाठी, ढाल, वरछा-भाले, गँडासे, तलवारों की ढेरी थी। उसे वखूवी अस्त्रागार कहा जा सकता है।

रासविहारी के छै लड़के थे। सव से वड़े की उम्र तीस से कम न होगी। पहले चार वेटे वाप-जैसे ही लम्वे-तगडे जवान, अभी ही उनकी मूँछ और गलपट्टे की वहार देखने लायक हो आई थी। उसके हथियारखाने और इन जवान वेटों को देखते ही मेरे जी में आया, ये अधभूखे और कमजोर गगोते अगर रासविहारीसिंह के डर से थर-थर काँपते है, तो इसमें ताज्जुव ही क्या!

रासविहारी वडा ही घमडी और कठिन वात का आदमी था। फिर अजीव सजग था उसका मान का ज्ञान। पान मे जरा चूने की कमी क्या हुई, रासविहारी का मान गया जानिए। लिहाजा उससे आचार-व्यवहार में हमेशा चौकस रहना पडता था। वेचारे गगोते रैयत तो हर पल दुविधा में ही पड़े रहते, न जाने कव मालिक की मानहानि हो जाय!

वर्वर प्राचुर्य मे जो कुछ समझा जा सकता है, उसके जलते उदाहरण मुझे रासविहारी के घर देखने को मिले। भरपूर दूध, भरपूर गेहूँ, भरपूर भुट्टे, भरपूर मिसरी, भरपूर मान और भरपूर लाठी-सोटे; मगर इस सव का उद्देश्य आखिर क्या हुआ? इतने वडे घर में न तो एक अच्छी-सी तस्-ीर थी, न एक किताव थी अच्छी-सी, अच्छी कोच-आरामकुर्सियो की कौन कहे, साफ-सुथरे तकियो से सजा कोई विछावन तक न था। दीवार में जहाँ-तहाँ चूने के दाग, पान की पीक। घर के पीछे-पीछे जो पनाला था, उसमे गंदे पानी और कूडो का ढेर; घर की वनावट भद्दी। वच्चो को पढने-लिखने से कोई वास्ता ही नही। कपडे-जूते निहायत मोटे और गन्दे।

पिछले साल एक ही महीने के अन्दर चेचक से तीन-चार बच्चे जाते रहे। आखिर यह ऐश्वर्य आता किस काम है? सीधे-सादे गंगोते रैयतों को पीट-पीट कर जमा की गई इस दौलत से किसे कौन-सी सुविधा मिली? हाँ, रासविहारीसिह का मान अवश्य वढा है।

खाने की सामग्रियों का बाहुल्य देखकर मै अवाक् रह गया। भला एक आदमी इतना सारा सामान खा सकता है? थाली मे हाथी के कान-जैसी कोई पन्द्रह पूरियाँ, कटोरो मे तरह-तरह की तरकारी, दही, लड्डू, माल-पूए, पापड़, इतनी तो मेरी चार जून की खूराक थी। रासविहारी शायद अकेला ही इससे दूना खाना एक वार खा लेता है।

भोजन करके जव मै अन्दर से निकला, शाम हो रही थी। आँगन मे गगोते रैयतो की पाँत वैठ गई थी और लोग मजे मे माढा-दही खा रहे थे। सब के कपडे लाल रग से रँगे, सवके चेहरे पर थिरकती हँसी। रास-विहारी के भाई उन्हे खिलाने में त्रुटि न हो, इसकी निगरानी कर रहे थे। निहायत ही मामूली खाना था, मगर उसी मे लोगो की खुशी का ठिकाना न था।

वडे दिनों के वाद यहाँ धतुरिया का नाच देखने का मौका मिला। धतुरिया अव कुछ वडा हो गया था, उसका नाच भी पहले से ज्यादा सुधरा हुआ था। होली के लिए वह खास तौर से यहाँ वुलाया गया था।

धतुरिया को मैंने अपने पास बुलाया। पूछा—"मुझे पहचान रहे हो?"

वह हँसा। सलाम करके बोला—"जी, आप मैनेजर साहव है हुजूर! अच्छे है आप?"

उसकी हँसी वडी ही मीठी लगती थी मुझे और उसे देखते ही न जाने एक अनुकम्पा और करुणा का उद्रेक होता था। उसका अपना कोई न था। नाच-गाकर दस-वीस को रिझाकर उसे इसी उम्र में अपनी रोजी कमानी पडती थी और वह भी रासविहारीसिंह जैसे धन के मद से चूर रहने वाले अरसिक के आँगन मे!

मैंने पूछा—"यहाँ तो आधी-रात तक यह जश्न रहेगा। मजूरी क्या मिलेगी तुम्हे?"

वह बोला—"चार आने पैसे और भरपेट खाना।"

—"खाने को क्या मिलेगा?"

—"माढ़ा, दही और चीनी। शायद लड्डू भी दे। पारसाल तो लड्डू दिए थे।"

खाने का वक्त आ रहा था। धतुरिया मारे खुशी से फूला न समाता था। मैंने पूछा—"क्या सब जगह यही मजूरी मिलती है?"

वह बोला—"जी नहीं हुजूर। रासविहारीसिंह चूँकि बड़े आदमी है, इसलिए खाना और पैसा, दोनों देगे। गंगोतो के यहाँ दो आने पैसे मिलते है। खाना तो नहीं मिलता; पर वे आध सेर मकई का सत्तू दे देते है।"

—"इतने से ुजारा हो जाता है क्या?"

—"नाच से कुछ होता-हवाता तो नही हुजूर, पहले जरूर कुछ हो जाता था। आज-कल लोग खुद ही तकलीफ मे है, नाच कौन देखता है? जब नाचने का बुलावा नही आता, तो खेत-खलिहानों मे मजूरी कर लेता हूँ। आखिर करूँ भी क्या हुजूर, पेट तो चलाना ही है। बड़े शौक से मैंने गया जाकर छोकड़ा-नाच सीखा था। कोई देखना ही नही चाहता—ज्यादा मजूरी जो देनी पड़ती है।"

मैंने धतुरिया को नाच दिखाने के लिए अपने यहाँ बुलाया। वह कलाकार था, सच्चे कलाकार में जो एक निस्पृहता होती है, वह उसमे थी।

चाँदनी जब खूब निखर आई, तब मै रासविहारीसिंह के यहाँ से विदा हुआ। मेरा घोड़ा जैसे ही अहाते से बाहर निकला, मेरे सम्मान में बदूक की फिर दो आवाजें की गईं।

फागुन का महीना, पूनो की रात। खुले मैदान मे बालू की राह चाँदनी मे झकमका रही थी। जाने कहाँ, दूर पर एक झींगुर चाँदनी मे ऐसे बोल रहा था, मानो इस विशाल सूने प्रातर मे किसी पथ-भूले पथिक का आकुल कंठ-स्वर हो।

पीछे से किसी ने मुझे पुकारा—"हुजूर, मैनेजर साहब. . ." मैने लौट कर देखा। देखा कि धतुरिया मेरे घोड़े के पीछे-पीछे दौडा आ रहा है।

मैंने घोडे को रोक लिया—"क्यो, क्या है धतुरिया ?" वह हाँफ रहा था। जरा रुककर उसने साँस ली। और फिर आगा-पीछा करते हुए लजाते-लजाते वोला—"एक विनती थी हुजूर. . . "

मैंने सान्त्वना के स्वर मे कहा—"कहो, कहो।"

—"मुझे अपने साथ एक बार कलकत्ता ले चलेगे क्या हुजूर ?"

—"वहाँ जाकर तुम क्या करोगे ?"

—"मै कलकत्ता कभी गया नही। सुना है, वहाँ गीत-नाच की बडी कद्र है। ऐसे-ऐसे नाच सीखे मैंने, मगर यहाँ उस जौहर को देखने वाला कोई है ही नही। बडा दु ख होता है। जमाने से छोकडा-नाच नाचने का ही मौका न मिला—भूल जाने की नौबत आ पड़ी है। उसे किस मुसीवत से सीखा था मैंने, वह एक सुनने ही लायक कहानी है।"

गॉव से हम वाहर निकल आए थे। चॉदनी से सारा प्रातर भरा हुआ था। मै समझ गया, देखने से रासविहारीसिह विगडेगा, इस डर से धतुरिया मुझसे छिप कर मिलना चाहता है। पास ही फूलो से लदा सेमल का एक पेड़ था। मै उसी पेड़ के नीचे घोड़े से उतर पडा और एक चट्टान पर वैठ गया। वोला—"अच्छा, तुम अपनी कहानी सुनाओ।"

—"सवसे सुना करता था, गया जिले के किसी गाँव मे कोई विट्ठल दास है। गुणी आदमी है—छोकडा-नाच का वहुत बड़ा उस्ताद। मुझे यह धुन सवार थी कि चाहे जैसे भी हो, यह नाच मै जरूर सीखूँगा। मै गया की यात्रा पर गया। विट्ठलदास की खोज मे गाँव-गाँव की खाक छानी। किसी से पता न चल सका। आखिर एक रोज शाम को मै एक स्थान मे ठहरा। देखा, लोग आपस मे उसी नाच की वाते कर रहे है। रात काफी जा चुकी थी। सर्दी भी पड़ रही थी करारी। मै जमीन पर पुआल डाले एक कोने मे पड़ा था। छोकड़ा-नाच का जिक्र जो सुना, सो उछल कर उठ वैठा। उनके पास जा बैठा। कितनी खुशी हुई, कहने की वात नही हुजूर !

मानो कोई रियासत मिल गई। उनसे विट्ठलदास का पता मिल गया। वहाँ से सत्रह कोस दूर तिनटंगा नाम की बस्ती में उनका घर था।"

एक तरुण शिल्पी की शिल्प-शिक्षा के आकुल आग्रह की कहानी सुनने में बहुत अच्छी लग रही थी। मैंने कहा—"फिर?"

—"मैं पैदल ही वहाँ पहुँच गया। देखा, बूढ़े-से थे वे। चेहरे पर सफेद दाढ़ी। मुझसे उन्होंने पूछा—"तुम्हे क्या चाहिए?" मैंने कहा—"मैं छोकड़ा-नाच सीखने आया हूँ।" सुन कर वे हैरान-से हो गए। बोले—'आज-कल के लड़के इसे पसन्द भी करते हैं? इसे तो लोग कब के भुला बैठे हैं।' मैंने उनके पाँव पकड़ लिए। कहा—'मैं इसी के लिए बहुत दूर से आपकी सेवा मे आया हूँ—मुझे तो सिखाना ही पड़ेगा।' उनकी आँखों मे आँसू भर आए। कहा—'मेरे वंश में सात पुश्त से इस नाच की परम्परा चली आ रही है। मगर मेरे कोई संतान नही। इतनी उम्र हो आई, इस बीच कोई दूसरा मुझसे सीखने को भी नही आया। तुम्ही पहले आदमी हो। खैर, तुम्हें मैं अवश्य सिखाऊँगा।' कितनी कठिनाइयों से तो मैंने उसे सीखा, उसे इन गगोतों को दिखाकर होगा भी क्या? कलकत्ता में गुण की कद्र होती है। वहाँ मुझे आप ले चलेंगे हुजूर?"

मैंने कहा—"किसी दिन मेरे यहाँ आना, तब बातें होगी।"

धतुरिया आश्वस्त होकर लौट गया।

जी मे आया कलकत्ता मे इतने कष्ट से सीखा हुआ इसका यह गँवई नाच देखेगा ही कौन और यह बेचारा अकेले वहाँ कर भी क्या सकेगा?

———

आठवाँ परिच्छेद

[एक]

प्रकृति अपने भक्तो को जो दान देती है, वह अनमोल होता है ; मगर उसका दान बहुत दिनों तक उसकी सेवा किए बिना नही मिल सकता। और प्रकृति ईर्ष्यालु भी कितनी होती है—अगर आप उसे चाहते है, तो महज उसी को चाहते रहिए, कहीं दूसरी तरफ निगाह गई कि वह अपना घूँघट नही खोल सकती।

लेकिन प्रकृति में ही डूबे रहिए, तो उसके सर्वविध आनन्द का, सौन्दर्य का, अनोखी शाति का वरदान आप पर इतनी वर्षा करेगा, इतनी वर्षा करेगा कि आप पागल हो उठेंगे। दिन-रात नाना रूपो मे उसकी मोहिनी प्रकृति आपको मुग्ध करती रहेगी, नई दृष्टि देगी, मन की आयु को बढ़ा देगी, अमरलोक के आभास से अमरत्व तक ले जायगी।

कुछेक बाते बताऊँ। इन अनुभूतियों के लिए पन्ने-पर-पन्ने लिख जाइए; पर वे पूरी नही लिखी जा सकती। कहने की बाते रह ही जाती है। और इन बातो के सुनने वाले भी कम ही होते है। हृदय से प्रकृति को प्यार करने वाले आज-कल है भी कितने ?

इस वनभूमि के नवटोलिया बैहार मे जहाँ-तहाँ दुधली के फूल बिखेर कर वसन्त अपने आगमन की सूचना देता। देखने मे ये फूल होते भी बड़े खूबसूरत है—नक्षत्र-जैसी आकृति, पीला रग , लत्तड़-जैसी उसकी डठलें माटी को जकड़े दूर तक फैली रहती है और उसकी गाँठ-गाँठ में फूल उठते है ये फूल ! सुबह मैदान मे, रास्ते के दोनो किनारो पर इन फूलो से प्रकाश बिखरा रहता ; लेकिन जैसे-जैसे धूप तेज होती जाती, सिमट कर ये फूल फिर कली की शक्ल मे आ जाते और दूसरे दिन फिर वही कलियाँ खिल पड़ती।

पलाशो की बहार मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट मे या अपनी जमींदारी की हद से बाहर महालिखारूप की तराई में देखने योग्य होती। अपने यहाँ से ये जगहें काफी दूर थी—घोड़े से जाने मे तीन-चार घंटे लग जाते। उन जगहो में सखुए के फूलो की खुशबू हवा को मतवाली बनाए रखती, फूले सेमल के वन क्षितिज की रेखा को रंगीन किए रहते ; मगर कोयल की कूक, पपीहे की पुकार यहाँ सुनने को नही मिलती। इस वीरान, जन-हीन प्रांतर में रहना शायद नहीं भाता।

कभी-कभी बंगाल के लिए मन तडप उठता। बंगाल के गाँवों मे होने वाली वसंत की शोभा कल्पना मे आती—याद आती पोखर से नहाकर भीगी कपडो मे लिपट कर लौटती हुई किसी तरुणी वधू की तसवीर—खेतों के पास फूलो से भरा घेटूवन, नीबू-फूलो की खुशबू से मोहमयी छाया भरा अपराह्न। बाहर जाकर अपने देश को कितना ज्यादा पहचान सका! देश में रहते हुए उसके लिए ऐसी मनोवेदना का कभी अनुभव नही कर सका। यह अनुभूति जीवन की एक मूल्यवान अनुभूति है, जिसे इसका स्वाद न मिला, समझिए कि वह अभागा एक बहुत बडी अनुभूति से वंचित रह गया।

लेकिन जो बात मैं वास्तव मे बताना चाह रहा हूँ, तरह-तरह से कहकर भी उसे बता नही पा रहा हूँ। वह है इस प्रकृति की रहस्यमयी असीमता, दुरविगम्यता, विराटत्व और डर से बदन को छम-छम कराने वाले सौन्दर्य की बात। जिसने उसे नही देखा, उसे कैसे समझाऊँ कि वह क्या होता है ?

नवटोलिया बैहार के सुदूर व्यापी झाऊ और कसाल के जंगल में अकेले घोड़े की पीठ पर जाते-जाते निस्तब्ध दुपहरिया के माहौल मे यहाँ की प्रकृति के इस रूप ने मेरे सारे हृदय को एक रहस्यमयी अनुभूति के आच्छन्न कर दिया है; कभी तो वह आई भय के रूप में, कभी एक निस्पृह, उदास और गंभीर मनोभाव के रूप मे, तो कभी आई जाने कैसे-कैसे मधुर सपनो एवं देश-विदेश की नर-नारियो की वेदना के रूप में। मानो वह कोई मौन

संगीत हो—नक्षत्रो की क्षीण ज्योति मे है जिसका ताल, चाँदनी रात की अलौकिकता, झीगुरो की तानो और वेगवान उल्कापुच्छ के प्रकाश मे है जिसकी लय-संगति।

जिन्हे अपनी दुनिया बसानी हो, उनके लिए उस रूप का न देखना ही बेहतर है। प्रकृति के उस मोहक रूप की माया मनुष्य को संसार-विरागी बना देती है, उसे लापरवाह, खानाबदोश, हैंटी जान्सटन, मार्कोपोलो, हड्सन, शैकलटन बना देती है—घर-गिरस्ती नही करने देती। जिसने भी एक बार उसकी पुकार सुनी, उस अनवगुंठिता मोहिनी को एक बार आँखो देखा, उसके लिए घर-गिरस्ती करना नामुमकिन है, एकदम असम्भव।

काफी रात गए कमरे से बाहर निकल कर मैंने अँधेरे प्रांतर या छाया-हीन चाँदनी रात के रूप को प्राय. देखा है। उसके उस सौन्दर्य पर पागल हो जाना पडता है—कहने मे मैं अतिरंजना नही कर रहा, मेरा खयाल है, कमजोर दिलवालो को वह रूप देखना ही नही चाहिए ; वह रूप सर्व-नाशी है, सबके लिए उसका धक्का सँभालना संभव नही।

मगर यह बात भी सही है कि प्रकृति का वह रूप देखना एक सौभाग्य की बात है। जहाँ-तहाँ ऐसा सुनसान विशाल वन-प्रांतर, पहाड़ियों की दूर प्रसारी पंक्ति, झाऊ और कसाल के जंगल मिलते भी कहाँ है? फिर कही मिले भी, तो उनके साथ गहरी निशीथिनी की नीरवता और उसके अंधकार या ज्योत्स्ना का संयोग भी होना चाहिए। अगर इतने सुयोग सबको सुलभ होते, तो यह दुनिया कवि और पागलो से भर नही गई होती?

एक घटना सुनाऊँ कि मै ने एक दिन किस तरह प्रकृति के उस रूप के दर्शन किए। पूर्णियाँ से मुझे वकील का तार मिला कि दूसरे दिन मुझे वहाँ हाजिर रहना है, नही तो एक बहुत बडे मामले मे अपनी हार हो जायगी।

पूर्णियाँ वहाँ से पचपन मील दूर था। रात को गाडी सिर्फ एक ही जाती थी और जब तार मिला, उसके बाद कटोरिया स्टेशन जाकर उस गाडी को पकड सकना संभव ही नही था।

तै किया कि घोड़े से तुरन्त रवाना हो जाऊँ। लेकिन एक तो बड़ी लम्बी दूरी, फिर खतरों से भरी राह, खासकर रात को। लिहाजा यह भी निश्चय किया कि मेरे साथ तहसीलदार सुजनसिंह भी चलेगा।

शाम होते ही दोनों घोड़े से रवाना हो गए। कचहरी के अहाते से निकल कर जंगल में पहुँचते ही जरा देर में तीज वदी का चाँद उग आया।- मद्धिम चाँदनी में वन-प्रांतर और भी अद्भुत दिखने लगा। मैं और सुजन-सिंह। दोनों पास-पास चल रहे थे। ऊबड़-खाबड़ राह। सफेद बालू चाँदनी में चिकचिक कर रहा था। कहीं-कहीं झाड़ियाँ मिलतीं—झाऊ और कसाल का ही जंगल यहाँ-वहाँ। सुजनसिंह बातें करता जा रहा था। चाँदनी निखरती आ रही थी और जंगल, रेती, धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही थी। जंगल का मस्तक-प्रदेश बड़ी दूर तक किसी एक सरल रेखा-सा दौड़ गया था, जहाँ तक निगाह जा रही थी, एक ओर धू-धू प्रांतर और दूसरी ओर जंगल और जंगल। बाईं तरफ पहाड़ियों की कतार। निर्जन, नीरव। आदमी का नाम तक कहीं नहीं। न कोई शोर, न कोई शब्द। मानो किसी अचीन्हे ग्रह की सूनी वन-वीथी में हम दो, महज दो जीव चले जा रहे हों।

एक जगह अचानक ही सुजनसिंह ने घोड़े को खड़ा कर दिया। क्यों आखिर? बगल के जंगल से एक सूअरी अपने नन्हें बच्चों की जमात लिए हमारा रास्ता काटकर सामने से दूसरी तरफ चली गई। सुजनसिंह ने कहा—"फिर भी गनीमत है हुजूर, मैंने तो समझा था, जंगली भैंसा न हो कहीं।" हम मोहनपुरा जंगल के करीब जा पहुँचे थे। यहाँ जंगली भैंसों का पल-पल पर खतरा था। उस दिन भी एक आदमी का काम तमाम कर दिया था भैंसे ने।

जरा ही दूर गए होंगे कि चाँदनी में दूर पर काला-काला सा सचमुच ही कुछ दिखाई पड़ा।

सुजनसिंह बोला—"घोड़े को रोक लें हुजूर, भय से भड़क जायगा।"

रुका। मगर देर तक देखकर पता चला, वह न तो हिलता है, न डुलता है। सँभल-सँभल कर समीप पहुँचा। देखा, वह कसाल की एक झोपड़ी

थी ! हमने घोडे को एड लगाई। निखरी-बिखरी चाँदनी से खिली दुनिया—न जाने कौन-सी साथी-विहीन चिड़ियाँ जगल मे या कहीं टी-टी पुकार रही थी—घोडो के खुर से बालू बेतरह बिखर रहा था , मगर रुकने की गुंजाइश न थी—दे दौड, दे दौड

देर तक लगातार बैठे रहने से रीढ की हड्डी दुखने लगी थी, जीन गरम हो गई थी, घोडा छाडतक से दुलकी चाल पर आ उतरा था। फिर मेरा घोड़ा डरता भी बहुत था, लिहाजा सावधानी से दूर तक निगाह रखते हुए चलना पड रहा था। कही एक-ब-एक अगर रुक पडे, तो उसकी पीठ से छिटक कर दूर न जा पड़ूँ, इसकी आशंका थी।

इस जंगल मे राह का कोई ठीक-ठिकाना नही। कसाल के माथे पर गाँठे बाँध कर राह का निशान बना दिया गया था। उसी से राह का अंदाज किया जाता। एक बार सुजनसिंह ने कहा—"लगता है, राह यह नही है हुजूर, हम भटक गए है।"

मैंने सतभैये को देखा और ध्रुवतारे का पता किया। पूर्णियाँ अपने यहाँ से ठीक उत्तर पडता था। सुजनसिंह को समझा कर कहा—"हम ठीक जा रहे हैं।"

वह बोला—"जी नही, कोसी पार करनी है, पार करके तब उत्तर सीधे उत्तर जाना है। अभी हमे उत्तर-पूरब कोने से कतरा कर निकलना चाहिए।"

आखिर राह मिल गई।

चाँदनी और भी निखर आई थी। कैसी अद्भुत थी चाँदनी ! कैसा रूप रात का ! निर्जन रेती में, जगली झाऊ की वनवाहिनी मे, जिसने कभी उसे नही देखा, वह जान भी कैसे सकता है कि क्या शक्ल होती है उस चाँदनी की ! ऐसे उन्मुक्त आकाश के नीचे—छायाविहीन उदास गंभीर चाँदनी रात मे वन, पहाड और प्रातर के पथ पर, रेती में इस ज्योत्स्ना को देखा ही कितनो ने है ? और उसमें जो दौड लगा रहा

था ! दोनो घोड़े दौडते-दौडते हाँफ उठे। सर्दियो की रात मे भी हमारे वदन मे पसीना छूट रहा था।

एक सेमल के नीचे दसेक मिनट रुक कर हमने साँस ली। सिर्फ दस मिनट। एक छोटी-सी नदी पास ही कोसी से जा मिली थी। सेमल का पेड फूलो से लदा था। यहाँ पर जगल ने हमें कुछ इस तरह घेर लिया था कि कही कोई राह नही दिखाई पड रही थी, यद्यपि वहाँ पेड़-पौधे निहायत ही छोटे-छोटे थे। एक सेमल ही उन सव मे ज्यादा ऊँचा था और जगल मे सव से ऊँचा सिर किए खडा था। हम दोनों को वेहद प्यास लग आई थी।

चाँदनी फीकी पडने लगी थी। वन-वीथी मे अँधेरा—पच्छिम क्षितिज मे शैलमाला के पीछे आखिरी रात का चाँद छिपने लगा। छाया लम्वी हो आई। चिडियो चुनमुन की कोई काकली नही, केवल छाया और छाया। प्रातर अन्वकार—जंगल अधकार। सुवह के आस-पास की हवा काफी सर्द हो उठी। रात के करीव चार वज रहे थे। शंका हो रही थी कि इस अँधियारी मे कही जंगली हाथियो की कोई टोली न आ धमके ! मधुवनी के जगल मे हाथी भी रहते है।

अव दो पहाडियो के वीच-वीच से राह थी। पहाड़ियो पर पत्र-विहीन पौव्रों की नगी डालो पर फूलो की वहार, कही-कही रक्तपलाश के पेडो की भीड। सुवह के समय चाँद डूवे अँधियारे में अजीव-सा दीख रहा था जंगल। पूरव की तरफ लाली हो आई। प्रभाती हवा, चिडियो का कल-रव सुनाई देने लगा। घोडे पसीने से लथ-पथ थे। वह तो गनीमत थी कि घोड़े अच्छे थे, तव ही तो ऐसे रास्तों पर लगातार दौडते ही आए। साँझ के चले-चले सुवह हो आई, मगर राह का कही अन्त नही था। वस वैसे ही जगल और पहाड, पहाड और जगल।

सामने जो पहाड़ था, उसके पीछे से सिंदूर के गोले-सा सूरज निकलने लगा। पास ही एक वस्ती मिली। वहाँ हमने थोड़ा-सा दूध खरीद कर पिया। और दो घंटे चलकर हम पूर्णियाँ पहुँचे।

वहाँ मैंने काम अनमना-सा ही निवटाया, क्योंकि चित्त तो लगा था राह की शोभा में। सुजनसिंह काम खत्म होते ही चल पड़ना चाहता था ; मगर चाँदनी रात मे राह की विचित्र शोभा देखने के लोभ से मैंने उसे रोका।

आखिर शाम को ही रवाना हुआ। उस दिन चाँद जरा देर से उगा जरूर, मगर भोर-भोर तक चाँदनी रही। और क्या गजव की चाँदनी! कृष्णपक्ष के स्तिमित आलोक मे वनो, पहाड़ो पर चाँदनी ने मानो एक शांत किन्तु अद्भुत और अजाने स्वप्नलोक की रचना कर दी हो! कास के वही, वैसे ही जगल, वही ऊँचे-नीचे रास्ते, पहाड़ो की तलहटी पर वही पीले-पीले फूलो का मेला—मानो वहुत दूर का कोई नक्षत्रलोक हो, मानो हम मृत्यु-पार के किसी अनचीन्हे देश मे अशरीरी होकर उडे जा रहे हो—उड़े जा रहे हो भगवान् वुद्ध के उस निर्वाणलोक में, जहाँ चाँद तो नहीं उगता, मगर जहाँ अँधेरा भी नही होता।

वहुत वहुत दिनो के वाद जव इस लापरवाह और आजाद जिन्दगी को छोड़कर दुनियादारी मे पैठा, तो कलकत्ता की तग गलियों में भाड़े के मकान मे वैठा अपनी स्त्री की सिलाई की मशीन की घिच-घिच मे जाने कितनी ही वार इस रात की वात सोचता रहा, सोचता रहा इस अपूर्व आनन्द की, चाँदनी नहायी रहस्यमयी इन वन-पक्तियो की वात, रात के अतिम प्रहर मे चाँद-डूवे अँधियारे मे पहाड पर सफेद डठलों पर फूले इन फूलो की वात, सूखे कास-वन से उड़कर आती हुई सौंधी-सौंधी महक की वात! जाने कितनी वार कल्पना मे घोड़े की पीठ पर सवार होकर चाँदनी रात मे मैं पूर्णियाँ गया हूँगा।

[दो]

आधा चैत वीता होगा कि एक दिन समाचार मिला—सीतापुर वस्ती में कोई राखाल वावू वंगाली डॉक्टर थे, वे रात को एकाएक मर गए।

इसके पहले इनका नाम मैंने कभी नही सुना था, न ही यह पता था

कि ये उस वस्ती मे रहते थे। अव जाना कि वे वीस वर्षो से इसी गाँव में है। इलाके में उनका नाम-गाम अच्छा था, घर-द्वार भी वनवाया है न, वाल-वच्चे भी वही हैं।

अवंगाली इलाके मे एक वंगाली सज्जन का देहान्त हो गया। उनके वाल-वच्चो की क्या हालत है, कौन उन सवकी देख-भाल करता है, उनके संस्कार या श्राद्ध-शान्ति का क्या हो रहा है, इन वातो को जानने के लिए मेरा जी मचल उठा। वहाँ जाकर उस शोक-संतप्त परिवार की खोज-खवर लेना मुझे अपना कर्त्तव्य-सा लगा।

पता चला, वह वस्ती यहाँ से कोई वीस मील दूर है। तीसरे पहर मै वहाँ पहुँचा। पूछ ताछ करके डॉक्टर के घर तक गया। दो तो वडे-वडे कमरे थे, तीन छोटे-छोटे। वाहर एक बैठक थी, जैसी कि इधर आम तौर से होती है। उसके तीन ओर दीवारें न थी। देखकर जान सकना कठिन था कि यह किसी वंगाली का घर है। बैठक की रस्सी की चारपाई से लेकर महावीरी झंडा तक, सव इसी देश के ढग के थे।

मैने आवाज दी। एक वारह-तेरह साल का लडका बाहर निकला। मुझसे उसने ठेठ हिन्दी में पूछा—"आप किसे ढूँढ रहे है ?"

उसकी शक्ल से जरा भी पता नही चलता था कि वह किसी वंगाली का लड़का है। माथे पर यह लम्बी चुटिया ! हाव-भाव तक विहारी वालकों-जैसा कैसे हो गया ?

मैने अपना परिचय दिया। कहा—"तुम्हारे घर मे जो वड़े आदमी हों, उनको वुला लाओ।"

उसने वताया, "लड़को मे वडा वही है। उससे छोटे और दो भाई है। घर में दूसरा अभिभावक नही।"

मैने कहा—"मै तुम्हारी माँ से कुछ वातें करना चाहता हूँ। उनसे पूछ आओ।"

जरा देर मे वह लड़का वाहर आया। मुझे अन्दर लिवा ले गया। डॉक्टर वाव की पत्नी की उम्र कम ही लगी, कोई तीस के करीव। अभी-

अभी विधवा हुई है। रोते-रोते आँखें सूज गई थी। निहायत गरीब की गिरस्ती-जैसे सरो-सामान। एक तरफ अनाज रखने की छोटी-सी कोठी; बरामदे मे दो-एक खाट, फटी-पुरानी कथरी, पीतल की कलसी, एक गडगड़ा, टीन का बक्स। मैंने कहा—"मैं एक बगाली हूँ। पडोस में ही रहता हूँ। राखाल बाबू के देहान्त की खबर सुनकर आया हूँ। यह मेरा कर्त्तव्य था। मेरे लायक कोई सेवा हो, तो आप नि संकोच कहे। किवाड की आड में खडी हुई वह चुपचाप रोने लगी। मैंने उन्हे दिलासा दिया और फिर से अपने आने का कारण बताया। अब वह मेरे सामने आई। रोते-रोते बोली—"आप मेरे बडे भाई के समान है। हमारे इस घोर सकट काल में ईश्वर ने आपको यहाँ भेजा है।"

बातो-ही-बातो मे मैंने जाना कि यह परिवार यहाँ बिल्कुल असहाय है। राखाल बाबू साल-भर से ज्यादा बीमार रहे थे। जो भी कुछ घर की जमा-पूँजी थी, सब उनके इलाज और गिरस्ती के खर्च मे चुक गई। अब श्राद्ध हो सके, इसका भी ठिकाना नही।

मैंने पूछा—"राखाल बाबू यहाँ है तो बरसों से, कुछ जोडा नही था क्या उन्होने ?"

उनकी स्त्री का लाज-संकोच बहुत हद तक जाता रहा था। उनके चेहरे से लगा, इस प्रयास मे और सकट में मुझे पाकर उन्हे मानो मँझधार मे किनारा मिल गया हो।

उन्होने कहा—"मैं बता नही सकती, पहले वे क्या कमाते थे। मेरे ब्याह को पन्द्रह साल हुए। मेरी सौत के मरने के बाद उन्होने मुझसे शादी की थी। मैंने तो यही देखा कि किसी तरह गिरस्ती चल जाती है। यहाँ डॉक्टर को लोग शायद ही फीस के रुपये देते है। गेंहूँ या मकई देते हैं। पिछले साल माघ मे उन्होने खाट पकडी थी। तब से फूटी पाई भी नही रही; लेकिन इधर के लोग भले है। जिनके भी पास जो पावना था, सब बदले मे गेहूँ, मकई, उडद पहुँचा गए। इसीसे अब तक गुजारा चला, नही तो भूखों मर जाने की नौबत थी।"

—"आपका मैका कहाँ है ? वहाँ खबर भेज दी गई है क्या ?"

वह कुछ देर तक चुप रही। फिर बोली—"खबर देने लायक वहाँ कुछ भी नही है। मैने अपना मैका कभी नही देखा। सुना-भर था कि मुर्शिदाबाद जिले मे है। छुटपन से मै साहबगज मे अपने बहनोई के यहाँ रही। माता-पिता नही थे। मेरे ब्याह के बाद मेरी वह दीदी भी जाती रही। बहनोई ने दुबारा शादी की है। उनसे अब अपना नाता भी क्या ?"

—"राखाल बाबू के कोई सगे-सबधी कही नही है ?"

—"अपने सगे कुछ है तो, घर पर सुना था, पर न उन लोगो ने कभी खोज-खबर ली, और न यही कभी वहाँ जाते थे। उनसे बनती नही। लिहाजा उन्हे खबर देना-न-देना एक-जैसा है। शायद काशी मे मेरे कोई ममिया ससुर है; मगर मुझे उनका भी पता नही मालूम।"

बडी असहाय दशा। सगा-सबधी कोई नहीं। अपने-अपनों से रहित इस दूर देश में कई नाबालिग लड़को वाली इस औरत की दशा पर मै मर्माहत हो गया। तत्काल जो-कुछ करना चाहिए था, करके मैं लौट आया। अपने सदर दफ्तर को लिखकर सौ रुपये की मदद मँगवाई और श्राद्ध का ठिकाना कर दिया।

इसके बाद भी मै वहाँ कई बार गया। स्टेट से उनके लिए दस रुपए माहवार की मदद दिलाई। पहली बार के दस रुपए लेकर मै स्वय उन्हे देने गया था। दीदी मेरी बडी खातिर करती, स्नेह-आत्मीयता की बातें करती। इसी लोभ से, मौका मिलते ही मै वहाँ जाया करता था।

[तीन]

लवटोलिया के उत्तर की तरफ एक बडा-सा जलाशय है। ऐसे जलाशय को इधर के लोग कुड कहते है। इस जलाशय का नाम था 'सरस्वती-कुड'।

इस कुड के उस पार तीन तरफ घना-जगल था, वैसा जगल अपने महाल या, लवटोलिया मे कही नही! इसमें विशाल-विशाल पेड़ थे।

पानी के पास होने की वजह से हो या और किसी कारण से भी हो, इस जंगल में अजीबोग़रीब लताएँ और तरह-तरह के वन-फूलो की भरमार थी। इस जगल ने विशाल सरस्वती-कुड को तीन ओर से आधे चाँद के आकार मे घेर रक्खा था। एक ओर खाली पडा था, जहाँ से पूरब का दूर तक फैला नीला आसमान और पर्वतमाल दिखाई पड़ती थी। फल-स्वरूप पूरब-पच्छिम कोने पर कही बैठकर दाएँ-वाएँ देखने से सरस्वती-कुड के सौंदर्य की अपूर्वता ठीक समझ मे आ सकती थी। वाईं ओर देखने से नजर धीरे-धीरे घने जंगल की गहरी श्यामलता मे अपने आपको भुला बैठती और दाएँ ओर देखने से निर्मल नील जल के उस पार का दूर प्रसारी आकाश तथा धुँधली गिरिमाला की छवि मन को गुब्बारे की तरह फुलाकर पृथ्वी से दूर उडा ले जाती।

वहुत बार मै यहाँ की एक चट्टान पर जाकर वैठा रहता। कभी-कभी दोपहर को जगल में घूमा करता। वडे-वडे पेडो के नीचे वैठा-वैठा चिडियो का कल-कूजन सुना करता। पौधे वटोरा करता, तरह-तरह के वन-फूल चुना करता। जितनी तरह की चिडियो की बोली यहाँ सुनने को मिलती, अपने महाल मे उतनी कही भी नसीव न थी। इतनी चिडियाँ यहाँ शायद इसलिए थी कि यहाँ फलो की वहुतायत थी, या ऊँचे पेडों की फुनगियों पर घोसला वनाने की सहूलियत थी। इस जंगल में फूल भी वहुत प्रकार के खिलते थे।

कुड के किनारे का यह घना जगल लगभग तीन मील से ज्यादा लम्बा था। चोडाई कोई डेढ मील की होगी उसकी। कुड के किनारे-किनारे पेड़ों की सघन छाया मे शुरू से आखिर तक एक पगडंडी थी। मै उसी पर घूमा करता। पेड-पौधो की फाँको से जहाँ-तहाँ कुंड का सुनील जल और उस पर औंधे पड़े विशाल आकाश की परछाँई तथा दिगंत मे खोई शैल-माला दिखाई पड़ती। फुर-फुर हवा वहती, चिडियो की तानें सुनाई पडतीं, वन-फलो की मीठी खुशवू आती रहती।

एक रोज मै पेड़ की एक डाल पर जा वैठा। इस आनन्द की तुलना

असभव है। माथे के ऊपर पत्रों की हरियाली का प्रसार, उनकी फाँकों में से झाँकता हुआ आसमान का एक टुकडा ! एक लत्तड़ मे फूलो के झूलते हुए गुच्छे। नीचे ओदी जमीन पर कुकुरमुत्ते ! ऐसी जगह, कि सिर्फ सोचते हो रहने का जी चाहता, कितनी अनुभूतियाँ जो भीड लगा बैठती मन में ! मन के अतल मे डूबी एक प्रकार की अतिमानस चेतना अन्तस्तल की गहराई से ऊपर उफन आती—आती गहरे आनन्द के रूप में। मानो एक-एक लता-वृक्ष के हृदय की धडकन को अपनी छाती के रक्त-स्पदन मे अनुभव कर रहा होऊँ।

अपनी जमीदारी के इलाके मे चिडियो की यह विविधता देखने को नही मिलती। वह जैसे एक दूसरी ही दुनिया हो। उसके पेड-पौधे, जीव-जन्तु सब जुदा ढंग के। जब वसत के आगमन के प्रमाण प्रकट हो जाते हैं, तब लवटोलिया में एक भी कोयल की कूक नही सुनाई पडती, चीन्हा-जाना कोई फूल खिला हुआ नजर नही आता। वह मानो एक रूखी और कठोर भैरवी मूर्ति हो। सौम्य और सुन्दर तो है , मगर उसमे माधुर्य नही। उसकी विशालता और रूखापन ही मन को अभिभूत करता। कोमल वर्जित मालकौस या चौताल का ध्रुपद, मिठास के पर्दे से कोई नाता नहीं रखता— स्वर के गंभीर-उदात्त स्वरूप से मन को एक दूसरे ही स्तर पर ले जाता है।

इस हिसाब से सरस्वती-कुड को ठुमरी कहे, मीठे स्वर की मधुर और कोमल विलासिता से मन को आर्द्र और स्वप्नमय बना देता। फागुन-चैत की सूनी दोपहरी मे तीर-तरु की छाया में बैठकर चिडियों के गीत सुनते हुए मन कहाँ और कितनी दूर जो चला जाता ! फूले जंगली नीमों के फूल की खुशबू हवा में खिर जाती, जलज लिली खिलते। जाने कब तक वहाँ बैठता और साँझ होने पर वहाँ से लौटता।

रैयतो को जमीन देनी थी, इसलिए नाढा बैहार मे नपाई का काम जारी था। अमीनों को काम समझाने के लिए मुझे वहाँ प्राय जाना पड़ता। लौटते समय सिर्फ सरस्वती-कुड की वनभूमि मे पेडो की छाया में जरा

घूम लेने के लोभ से ही पूरब-दक्खिन की ओर से दो-तीन मील का चक्कर काट कर जाता ।

उस दिन कोई तीन बजे मैं लौट रहा था। तीखी धूप से जले-तपे मैदान को पार करके पसीना-पसीना होकर मैं उस जगल की घनी छाँह से होता हुआ, कुड के किनारे तक गया—मैदान जहाँ खत्म होता है, वहाँ से कुड का किनारा डेढ मील से कम न होगा, कही-कही तो वल्कि और ज्यादा पडता। घोडे को पेड की एक डाल से बाँध दिया और छाया सघन एक पेड की छाँह मे आयल क्लाथ बिछाकर सो गया। झुरमुटो से मैं चारों तरफ से इस तरह घिरा था कि कोई मुझे देख नही सकता। दो ही एक हाथ ऊपर डाल-पत्ते। काठ-जैसी मोटी कोई लत्तड थी, जिसने खुद ही जगह-जगह जुडकर छत-सी बना रक्खी थी।—जाने कौन-से पेड से सेम-जैसे वडे-वडे फल मेरी छाती से प्राय सटे-सटे झूल रहे थे। और भी एक पेड था, जाने कौन-सा पेड, उसके डाल-पत्तो ने उस कुज के प्राय आवे हिस्से को घेर रक्खा था, उसमे नन्हे-नन्हे फूलो की भरमार थी। इतने नन्हे फूल कि पास गए विना दीखते भी नही, मगर कितनी गहरी और मीठी सुवास! उस अजाने फूल की खुशबू से वह सूना कुज जैसे महमहा उठा था!

सरस्वती-कुड जगली चिडियो का बहुत वडा अड्डा है—यह पहले ही कह चुका हूँ। इस जंगल मे चिडियाँ भी कितनी तरह की थी, कितने रग-ढग की! श्यामा, हरट्टी, तोते, फेजन्ट-क्रो, पोडकी, हरियल—और भी जाने क्या-क्या! पेड़ो पर चील, बाज, कुल्लो—कुड के पानी मे वगले, सिल्ली, वतखे, कौए, माणिक पछी जैसी जलचर चिडिया—कुड का ऊपरी भाग उनकी कल-काकली से मुखर हो उठा था। उनके उल्लास-भरे कूजन से कान बचाना मुहाल था! बेहद तग करते। बहुत बार तो आदमी की परवाह भी न करते। देख रही है कि मैं वहाँ सोया हूँ, लेकिन दो-ही-एक हाथ के फासले पर जुटकर किच्-किच् शुरू कर दी, मेरी खाक भी परवाह न की!

उनकी यह लापरवाही मुझे बडी भली लगी। मैंने उठकर भी देखा, उन्हें कोई खौफ-खतरा नही। बहुत जोर मारा, तो जरा खिसक गईं—उड़ी नही। जरा देर मे फिर नाचती-गाती करीब आ गई।

जंगली हिरन पहले-पहल मैने यही देखा। मैंने सुना तो था कि अपने जगल में हिरन है, मगर कभी आँखो से नही देख पाया था। लेटा था। अचानक कुछ आहट मिली। मै उठ बैठा। सिरहाने की तरफ जो झाँका, तो देखा कि घनी झाडी के एकात मे एक हिरन खडा है। गौर से देखा, हिरन बडा नही था, हिरनौट था। मुझ पर निगाह पडते ही वह अपनी दो बड़ी-बडी आँखो में अबोध विस्मय लिए देखता रहा, सोचने लगा—आखिर यह कौन-सा जीव है!

आध मिनट बाद और अच्छी तरह देखने के लिए वह जरा आगे बढ आया। उसकी आँखो मे मानव-शिशु-जैसी साग्रह कौतूहल-दृष्टि थी। कह नही सकता, वह और भी समीप आता या नही, मगर मेरे घोडे ने इतने में अपना पैर झाड दिया। चकित और भीत हरिन-शावक भागकर झाडी में घुस गया, शायद वह अपनी माँ को यह खबर देने चल दिया हो।

मै और भी कुछ देर तक वहाँ बैठा रहा। पेडो की फाँको मे से कुड का सुनील जल दिखाई पडता था, जो आधे चाँद के आकार मे सुदूर गिरि-माला के कदमो तक फैला था—आसमान खुला, कही भी बादल का नाम नही। जलचर पछियो ने आपस में चोचबाजी करके बेहद शोर करना शुरू कर दिया। एक गभीर और प्रौढ माणिक पंछी ने पेड की फुनगी पर से रह-रह कर आजिजी दिखानी शुरु की। बगुलो ने किनारे के पेडो की डाल पर पंचायत-सी बिठाई थी—दूर से ऐसा लग रहा था, मानो सफेद फूल खिले हो।

धूप धीरे-धीरे लाल हो उठी।

पहाडियो पर जैसे ताँबा बिखर गया हो। डैने फैलाकर बगले उडने लगे। धूप पेडो की फुनगी पर जा सिमटी।

चिडियो की चहक बढ गई, साथ ही बढ़ गई उस अजाने वन-फूल

की मीठी खुशबू। तीसरे पहर की छाया मे वह सुगध मानो और भी गहरी, और भी मधुर हो उठी। एक नेवला सिर उठाए हुए दूर खडा मुझे देख रहा था।

कैसी निभृत शान्ति ! कैसा अजीब सुनसान ! कोई साढ़े तीन घंटे तो मुझे यहाँ हो गए, लेकिन इन चिडियो की बोली के सिवाय दूसरा कोई शब्द ही नही, उनके पैरों की खरौच से पत्तो या सूखे पत्तो के गिरने की आवाज। बस। आदमी की कही गन्ध तक नही।

पेडो की चोटियो की अजीबोगरीब बनावट। शाम की रगीन धूप से उनकी और भी अनोखी शोभा निखर आई। कितने पेड़ो से कितनी लताएँ लिपटी हैं, इस तरह की लता को इधर भियोटा लता कहते हैं, मैंने उसका नाम रक्खा भौटा-लता। यह लता जिस पेड से टिकेगी, उसकी गाँठ-गाँठ को लपेट लेगी। इन्ही दिनो इस लता मे फूल खिलते है। जंगली जूही-जैसे छोटे-छोटे फूल; उतने बडे पेड को फूलो ने अपनी आभा से प्रकाशित कर रक्खा था। मजे की खुशबू, सरसो के फूल-जैसी, मगर उतनी तेज नही।

हरसिंगार के पेडो की भरमार। कही-कही तो तादाद मे इतना ज्यादा, कि लगता, यह हरसिगार का ही जगल है। शरत्काल के सवेरे नीचे की चट्टानो पर ढेर-के-ढेर हरसिंगार के फूल चू-चू पडते थे। उन चट्टानों के आस-पास एक तरह की लम्बी और रूखी घास, उनके साथ मैना-काँटा का गठबंधन—काँटा, घास और चट्टान, सब पर ढेर-के-ढेर हरसिंगार। सर्द और छायागहन स्थान होने के कारण सुवह को झरे फूल बिलकुल सूख नही गए थे।

जाने कितनी तरह से इस कुड को मैने देखा ! लोग-बाग कहते थे, कुड के पास के जगल में बाघ है। चाँदनी रात को उसकी ज्योत्स्ना-स्नात शोभा देखने के लोभ से कार्त्तिकी पूर्णिमा की रात को तहसीलदार बनवारीलाल की आँखो मे धूल झोककर आजमाबाद कचहरी जाने के बहाने लवटोलिया डिहि होता हुआ मै वहाँ पहुँच गया।

बाघ तो नही देख पाया, लेकिन मुझे सचमुच ही ऐसा लगा कि चाँदनी में नहाए इस कुड में मायाविनी वन-देवियाँ जल-केलि को आती होंगी। चारों तरफ सन्नाटा, केवल पूर्वी किनारे के घने जगल मे सियार बोल रहे थे। दूर की गिरि-माला और जंगल धुँधले दिखाई दे रहे थे। हिम-शीतल हवा में पौधों और भ्रमर-लतिका के फूलों की भीनी खुशबू। मेरे सामने बिछी थी वन और पहाडो से घिरे कुड की तरग-विहीन छाती पर हेमन्ती पूनो की टह-टह चाँदनी, खुली, छायाहीन पानी पर पडी, नन्ही लहरो पर प्रतिफलित होनेवाली अपार्थिव देवलोक की चाँदनी। पेडो से भ्रमर-लतिकाएँ लिपटी थी, उनमे बेशुमार सफेद फूल खिले थे। लग रहा था, जैसे परियो के श्वेत वस्त्र उड रहे हों।

झींगुर-जैसा ही कोई दूसरा कीडा लगातार चीख रहा था। कभी-कभी पत्ते गिरने की आवाज, कभी-कभी पत्ते हिलाते हुए जंगली जीव-जन्तु के भागने की आहट..

हम सबके सामने तो वन-देवियाँ नही आ सकती। कब, कितनी रात गए आती है, कौन जाने! उस सर्दी में ज्यादा देर तक रुकना सभव नही था, सो लगभग घटा-भर रहकर मैं लौट आया।

सरस्वती-कुड में परियाँ आती है, यह मैंने यही सुना था।

सावन के महीने में उत्तरी सीमा के पैमाइश-कैंप मे मुझे एक रात बितानी पडी थी। मेरे साथ था रघुवरप्रसाद अमीन। वह पहले सरकारी नौकर था। इन जंगलो से उसका परिचय कोई बीस साल का था।

सरस्वती-कुड का जिक्र आते ही उसने कहा—"हुजूर, वह तो माया-कुड है। रात को उसमे हूर-परियाँ उतरती है। चाँदनी रात में वे अपने कपडे पास की चट्टानो पर उतार कर रख देती है, फिर जल-केलि के लिए पानी में उतरती है। ऐसे वक्त जो उन्हे देख लेते है, उन्हे भुला-फुसलाकर वे पानी में डुबा मारती है। चाँदनी रात मे कभी-कभी उन परियो के मुख-मंडल नील जल मे खिले कमलो के समान दिखाई पडते है। मैंने तो अपनी आँखो से कभी नही देखा, पर हेड सर्वेयर फतहसिंह ने एक बार देखा था।

एक दिन काफी रात बीते वे इसी कुड के पास से जंगल की राह अपने कैप को लौट रहे थे। दूसरे दिन सवेरे कुड मे उनकी लाश तैरती पाई गई। मछलियों ने उनके एक कान का ही सफाया कर दिया था। हुजूर, आप इस तरह वहाँ न जाया करे।"

इसी कुड के किनारे एक रोज एक अजीव आदमी से मुलाकात हो गई। मै सर्वे-कैप से इसी रास्ते से धीरे-धीरे लौट रहा था। देखा, जंगल मे कोई आदमी मिट्टी खोदकर न जाने क्या कर रहा है। पहले तो सोचा, वह मिट्टी खोदकर भुँइ कोहडा निकाल रहा होगा। यह कोहडा लगता तो लत्तड ही मे है, लेकिन मिट्टी के अन्दर। ऊपर से उसका सुराग ही नही लग सकता। चूँकि वैदो को वह दवा के काम लगता है, इसलिए अच्छी कीमत पर बिक जाता है। मुझे कौतूहल हुआ। पास पहुँचकर मै घोडे से उतर पडा। कहाँ का कोहडा, वह तो माटी गोड़ कर कोई बीज बो रहा था।

मुझे देखकर वह सकपका गया और अप्रतिभ होकर मेरी ओर ताकने लगा। काफी उम्रवाला आदमी था—सिर के बाल कच्चे-पक्के थे। उसके पास टाट की एक थैली थी, जिसमे से फावडे का जरा-सा हिस्सा बाहर झाँक रहा था। बगल मे खती पडी थी, जहाँ-तहाँ कागज के मुड़े-सिकुडे टुकडे पडे थे।

मैने पूछा—"आप क्या कर रहे है यहाँ ?"

उसने पूछा—"हुजूर क्या मैनेजर बाबू है ?"

—"हाँ। और आप ?"

—"नमस्ते हुजूर! मेरा नाम युगलप्रसाद है। नवटोलिया मे आपके जो पटवारी है बनवारीलाल, मै उनका चचेरा भाई हूँ।"

मुझे याद आ गया, पटवारी ने कभी बातों-बातों मे अपने चचेरे भाई का जिक्र जरूर छेडा था। आजमाबाद कचहरी मे, यानी जहाँ मै था, मुहर्रिर की एक जगह खाली थी। उसी सिलसिले मे उसकी बात आई थी। मैने ही एक अच्छे आदमी की तलाश के लिए उससे कहा था। बनवारी-

लाल ने दु ख जाहिर करते हुए कहा था--"आदमी तो उसका अपना चचेरा भाई ही है, लेकिन अजीब-सा है। अजीब खयाली और लापरवाह। वरना कैथी का उतना सुन्दर हरूफ लिखने वाला और पढा-लिखा आदमी इस इलाके में कम ही है।"

मैंने पूछा था—"क्यों, वह करता क्या है ?"

वनवारी ने कहा था—"वह कुछ न पूछिए हुजूर, जाने कितनी ऐसी आदतें है उसकी। इधर-उधर भटकते चलना भी उसका एक मर्ज है। करता-धरता कुछ नही, शादी-व्याह किया है, मगर गिरस्ती नही देखता, जंगल की खाक छाना करता है, लेकिन साधु-सन्यासी भी नही है, जाने क्या है, कैसा है !"

ओह हो, तो यही वनवारी का चचेरा भाई है !

मेरा कौतूहल और भी बढ़ गया। पूछा—"यह क्या बो रहे हो ?"

वह लुक-छिप कर मानो काम कर रहा था और पकडाई में आ गया, उसने कुछ शर्मिंदा और अप्रतिभ होकर कहा—"कुछ नही हुजूर, एक पेड़ का वीज बो रहा था।"

मैं अचरज में आ गया। किस पेड़ का वीज ? ज़मीन उसकी अपनी नही—घनघोर जगल। इस जगल में कौन-से पेड़ का बीज रोप रहा है और ऐसे रोपने की सार्थकता भी क्या है ? मैंने उससे यही पूछा।

वोला—"बीज वहुत तरह के है हुजूर। पूर्णिया मे मैंने एक साहव की कोठी मे एक खासी अच्छी लता देखी थी—वडे ही खूबसूरत फूल लगे थे उस पर ! उसके बीज भी है, और-और फल-फूलो के भी वीज दूर-दूर से खोज-ढूँढ कर लाया हूँ। इन जंगलो में वैसे पेड नही है, इसीलिए रोप रहा हूँ। दो-एक साल मे इनकी शोभा निखर आयगी।"

उसके इस अच्छे मतलव से उस पर मुझे श्रद्धा हो आई। विना किसी स्वार्थ के एक इतने वडे जगल की सुन्दरता को वढ़ाने के लिए वह अपना समय और पैसा खर्च कर रहा है, जिस जमीन पर उसका जरा भी हक नही—अजीव है !

उसे मैंने बुलाया और दोनों एक पेड़ के नीचे बैठे। उसने कहा—"यह काम मैं आज से नही, बरसों से कर रहा हूँ हुजूर, लवटोलिया के जंगल मे फूलो के जो पौधे या लत्तड आप देख रहे हैं, उन सब के बीज आज से दस-बारह साल पहले मैंने कुछ तो पूर्णिया से और कुछ दक्खिन भागलपुर की लक्ष्मीपुर स्टेट के जंगल से लाकर लगाए थे। अब तो उनके जंगल ही हो गए हैं।"

—"तुम्हे यह काम बहुत पसन्द है, क्यो ?"

—"लवटोलिया के बैहार का जगल बहुत सुन्दर है हुजूर—इन छोटे-छोटे पहाडो और जगलो मे तरह-तरह के फूलो का मेला लगाने का मुझे बड़ा शौक रहा है।"

—"कौन-कौन से फूल लाते रहे ?"

—"पहले हुजूर को यह सुना लूँ कि मेरा जी इधर कैसे लगा। मेरा घर पड़ता है धरमपुर इलाके मे। वहाँ जगली भाँड़ी के फूल बिलकुल नही मिलते थे। मैं छुटपन मे अपने गाँव से दस-पन्द्रह कोस दूर कोसी के किनारे-किनारे भैसे चराया करता था। उधर जहाँ-तहाँ उस फूल की निखरी हुई शोभा देखा करता था। मैंने उसके बीज लाकर अपने यहाँ लगाए। अब यह हालत है कि अपने यहाँ रास्तो के किनारे, लोगो के घर के पिछवाडे, जगल-झाड मे, जहाँ देखिए इस फूल की भरमार हो गई है। बस, तभी से मेरे दिमाग मे यह बात घर कर गई कि यहाँ जो लता-फूल नही है, उन्हे ला-ला कर लगाऊँगा। तमाम जिन्दगी यही करता रहा हूँ, अब तो मैं इस काम मे डूब ही गया हूँ।"

सचमुच युगलप्रसाद इधर होने वाले बहुतेरे फूलो और खूबसूरत लताओं की जानकारी रखता था। इसका वह एक विशेषज्ञ था, इसमे मुझे कोई संदेह नही रहा। मैंने पूछा—"एरिस्टलोकिया लता को जानते हो तुम ?"

मैंने उसे उस लत्तड के फूल का हवाला दिया। सुनकर वह बोला—

"हस-लता ? हस की शक्ल के फूल जिसमे लगते है ? वह लता इधर की नही है। मैंने पटना मे वावुओ के वाग मे उसे देखा है।"

उसकी जानकारी पर हैरत हुई। सौन्दर्य के ऐसे पुजारी मिलते ही कितने है ? जंगलो मे लता और फूल के वीज वोने मे उसका अपना कोई स्वार्थ नही, कौडी की आमदनी नही होती इससे, आप वेचारा निहायत गरीव, फिर भी जगल की शोभा-सुषमा बढ़ाने के लिए ऐसा अथक उत्साह और अटूट उद्योग !

उसने कहा—"सरस्वती-कुड-जैसा खूवसूरत जंगल इस इलाके मे और कही नही है वावूजी। वेहिसाव पेड है और कुड के पानी की शोभा ! क्या कहना है उसका ! अच्छा , यह तो बताएँ, कुड मे कमल लगाऊँ तो लगेंगे ? धरमपुर के तो अनेक पोखरो मे कमल है। सोच रहा था, लाकर लगाऊँ।"

मैने मन-ही-मन उसकी सहायता का संकल्प किया। सोचा, हम दो जने मिलकर जंगलो का नई-नई लताओ , पेडो और फूलो से श्रृगार करेंगे। उस दिन से मुझे तो इसका नशा-सा सवार हो गया। मुझे खवर थी कि युगलप्रसाद को रोटी के भी लाले पडे है, गिरस्ती वेहद तकलीफ से चलती है। मैंने सदर से लिखा-पढी की और आजमावाद कचहरी मे उसे दस रुपये की मुहर्रिर की एक जगह दिलाई।

उसी साल मै कलकत्ता से साटन के विदेशी वन-फूलों के वीज ले आया। डूअर्स पहाड से जंगली जूही की लता के टुकडे लाए और सरस्वती-कुड के आस-पास लगाए। युगलप्रसाद के उत्साह और आनन्द का क्या पूछना ! मैंने उसे सिखलाया कि तुम्हारे इस आनन्द और उत्साह की खवर कचहरी के लोगों को न लग सके। नही तो तुम्हारा तो जो होगा, हो हीगा, लोग मुझे भी पागल वना छोड़ेंगे। दूसरे ही साल वरसात में पेड़ और लताएँ गजव की वढ़ गईं। कुड के पास की जमीन काफी उपजाऊ थी और जो पौधे मैंने लगाए थे वे यहाँ की आव-हवा के अनुकूल थे। हाँ, साटन के वीजो की जो पुडियाँ थीं , उनमे जरा गोलमाल हो गया। पुड़िया पर फूलों

के नाम और किसी-किसी पर उसका मुख्तसर मे परिचय भी दिया था। रंग और शकल मे अच्छा समझकर जिन वीजो को लगाया, उनमे से 'व्हाइट विम', 'रेड कैस्पियन' और 'स्ट्रिचवार्ट' ही वेतरह वढे। 'फॉक्सग्लाव' और 'उड्ऐनिमोन' भी वुरे नही हुए ; लेकिन लाख प्रयत्न करने पर भी 'डॉग रोज' और 'हॉनीसाक्ल' के पौधे न वचाए जा सके।

पीले धतूरो जैसे एक प्रकार के पौधे कुड के किनारे-किनारे लगाए गए थे। उनमे वडी जल्दी फूल आए। युगल पूर्णियाँ के जंगल से जो वैरा लता के वीज लाया था, सात ही महीने मे उनकी लताओं ने वहुतेरे पेडो को छा लिया। इसके फूल देखने मे जितने सुन्दर होते है, उतनी ही मीठी होती है उनकी खुशवू।

हेमंत के शुरू-शुरू मे एक दिन नजर आया, उस लता मे वेशुमार कलियाँ लगी है। मैने युगल से यह जो कहा, तो उसने कलम फेकी और आजमावाद से सात मील सरस्वती-कुड तक दौडा-दौडा गया।

मुझसे उसने कहा—"हुजूर, लोग कहते थे, यह लता वढेगी, फैलेगी सव होगा, पर फूल नही लगेगे। सव मे शायद फूल नही लगते; मगर देखिए, कितनी सुदर कलियाँ लगी है।

पानी मे 'वाटर क्रोफ्ट' की जडे लगाई थी। वह तो इस कदर फैलने लगा कि युगलप्रसाद को फिक्र हो आई, कही यह कमल को न दवोच वैठे।

इच्छा थी वोगेनविलिया लता मँगाने की भी, लेकिन लगा, शहरो के वाग-वगीचों से उसका इतना घना संवध है कि कही कुड की वन्य प्रकृति को वह नप्ट न कर दे। युगल की भी यही राय हुई, उसने भी मना किया।

इसके लिए पैसे भी कुछ कम नही खरचे। एक दिन गनौरी तिवारी ने वताया—"कारो नदी के उस पार जयंती पहाड पर एक अजीव किस्म के फूल होते है—इधर उन्हे दूधिया फूल कहते है। पत्ते उसके होते है हलदी के पौधे-जैसे चौडे-चौडे, पौधा भी करीव-करीव इतना ही वडा—लवे डंठल कोई तीन-चार हाथ ऊपर तक जाते है। एक-एक पेड मे वैसे चार-पाँच डठल लगते है और एक-एक डठल मे चार-पाँच पीले-पीले फूल लगते

है। फूल देखने मे तो सुदर होते ही हैं, खुशबू भी बडी अच्छी होती है। रात को उससे दूर-दूर तक महमहा उठता है। इस फूल का एक भी झाड़ जहाँ लग गया कि देखते-ही-देखते वहाँ दो-तीन साल में घनघोर जंगल होगया समझिए।"

गनौरी तिवारी से सुना और मेरी नींद हराम हो गई। ये पौधे लाने ही पड़ेंगे। उसने बताया, बरसात से पहले वह नही लाया जा सकता। उसकी जड़ें लानी हैं—पानी बिना वे मर जायँगी।

रुपये-पैसे देकर मैंने युगल को भेजा। उसने जयंती पहाड़ के दुर्गम जगल से बड़ी-बड़ी मुश्किल से दूधिया की दस-बारह गडे जडो का किसी तरह इंतजाम किया।



नवाँ परिच्छेद

[एक]

लगभग तीन साल निकल गए।

इस तीन साल के अरसे मे मुझमे बहुत परिवर्तन आ गया। लवटोलिया और आजमावाद की वन्य-प्रकृति ने मेरी आँखो मे न जाने कैसा माया-काजल आँज दिया कि शहर को मै करीव-करीव भूल ही गया। निर्जनता के मोह ने, तारो से भरे उदार आकाश के मोह ने मुझे इस बुरी तरह जकड लिया कि वीच मे एक वार कई दिनो के लिए पटना जो गया, तो वहाँ की कोलतार पुती बँधी-बँधाई सडको के सँकरे दायरे से लवटोलिया बैहार आ जाने के लिए जी छटपटाने लगा—प्याले के समान उलटे पडे नीले आसमान के नीचे, जहाँ मैदान और मैदान है, जंगल और जगल है, जहाँ वनाई हुई सडके नही, ईंटो के बने मकान नही, मोटर के भोपू की भद्दी आवाज नही, गहरी नीद के अवधान में जहाँ दूर जंगल में सियारो की टोली प्रहर की सूचना देती है, या नीलगायों की भागती जमात के खुरों की आवाज या भैसो का गर्जन सुनाई पडता है।

ऊपर से वार-वार तकाजे आने लगे थे कि रैयतो को जमीन क्यो नही दी जा रही है। मै खूब समझता था कि मेरा यहाँ यही प्रमुख काम था ; पर मेरी इच्छा रैयत वसा कर प्रकृति के ऐसे एकात निकुंज को नष्ट करने की नही हो रही थी। आखिर जो जमीन लेंगे, वे उसे पेड-पौधो से सजाने के लिए तो लेंगे नही—लेंगे और उसे साफ-सुथरी करेंगे, अनाज उपजाएँगे, घर-द्वार बनाकर रहेगे—यह निर्जन शोभामय वन-प्रांतर, जंगल, कुड, पहाड़ियाँ, सव जनपद में वदल जायँगी। लोगो की भीड़ से डरकर वन-लक्ष्मियाँ हाँफती हुई भाग खडी होगी। मनुष्य आकर इस माया-कानन की माया को भी मिटा देंगे। इसकी सुदरता भी ववाद कर देगे।

उस जनपद की तसवीर मैं अपनी आँखो से साफ देख रहा था। पटना, मुंगेर या पूर्णियाँ जाते हुए इधर-जैसे जनपद हर जगह मिलते थे। वदसूरत घरों की भीड़, एकमंजिला या दुमंजिला, फूँस के छप्पर, सीझ के काँटे, गोवर के ढेर से घिनाये गोहाल, रहट से पानी निकालना, मैले कपड़ो से लिपटे नर-नारियों की भीड़, मदिर में उड़ते हुए महावीरी झडे, गले मे चाँदी की हँसुली डाले नग-धड़ग वालक-वालिकाओ के धूलि-धूसरित दल सडक पर खेल मे मस्त।

यह सव देकर वदले मे क्या मिलेगा!

ऐसी विशाल, रोक-वंधन-हीन उद्दाम सौंदर्यमयी अरण्यभूमि देश की वहुत वड़ी दौलत हुआ करती है। और कोई देश होता, तो कानून द्वारा यहाँ नेशनल पार्क वनाकर रखता। कामो से थके-हारे शहर के लोग समय-समय पर यहाँ आकर प्रकृति के साहचर्य से अपने श्रांत-क्लांत मन को ताजा वनाकर लौटते। मगर यहाँ तो ऐसा होने से रहा, जमीन जिसकी है, वह रैयतों को न देकर इसे यों कैसे छोड देगा?

मै यहाँ रैयत वसाने के लिए ही आया था—मगर इस अरण्य-प्रकृति को ध्वंस करने के लिए आकर अनोखी सुंदरी इस वन्य नायिका के प्रेम मे फँस गया। यदा-कदा घोड़े पर जव मै छाया-गहन तीसरे पहर या मुक्ता-शुभ्र चाँदनी रात मे घूमने निकलता, तव चारो तरफ देखकर वार-वार यही जी मे आता कि ये सव मेरे ही हाथो से नष्ट होगे? चाँदनी में खोया-खोया-सा उदास और सुनसान प्रांतर! इस चतुरा सुदरी ने किस तरह से मुझे मोह रक्खा है!

मगर जो काम करने आया था, उसे करना ही था। माघ के अंत मे पटना से छट्ठूसिह नाम का एक रजपूत आया। उसने हजार वीघा जमीन के लिए अर्जी दी। मैं काफी पेशोपेश में पड़ गया। हजार वीघे मे तो काफी जगह वर्वाद हो जायगी, जाने कितनी सुदर झाडियाँ, और लता-वितान कट जायँगे!

नवाँ परिच्छेद

[एक]

लगभग तीन साल निकल गए।

इस तीन साल के अरसे मे मुझमे बहुत परिवर्तन आ गया। लवटोलिया और आजमाबाद की वन्य-प्रकृति ने मेरी आँखो मे न जाने कैसा माया-काजल आँज दिया कि शहर को मै करीब-करीब भूल ही गया। निर्जनता के मोह ने, तारो से भरे उदार आकाश के मोह ने मुझे इस बुरी तरह जकड लिया कि बीच में एक बार कई दिनो के लिए पटना जो गया, तो वहाँ की कोलतार पुती बँधी-बँधाई सडको के सँकरे दायरे से लवटोलिया बैहार आ जाने के लिए जी छटपटाने लगा—प्याले के समान उलटे पडे नीले आसमान के नीचे, जहाँ मैदान और मैदान है, जंगल और जगल है, जहाँ बनाई हुई सड़कें नही, ईटो के बने मकान नही, मोटर के भोपू की भद्दी आवाज नही, गहरी नीद के अवधान मे जहाँ दूर जंगल में सियारो की टोली प्रहर की सूचना देती है, या नीलगायो की भागती जमात के खुरो की आवाज या भैसो का गर्जन सुनाई पडता है।

ऊपर से बार-बार तकाजे आने लगे थे कि रैयतो को जमीन क्यो नही दी जा रही है। मै खूब समझता था कि मेरा यहाँ यही प्रमुख काम था , पर मेरी इच्छा रैयत बसा कर प्रकृति के ऐसे एकात निकुंज को नष्ट करने की नही हो रही थी। आखिर जो जमीन लेगे, वे उसे पेड-पौधो से सजाने के लिए तो लेंगे नही—लेगे और उसे साफ-सुथरी करेगे, अनाज उपजाएँगे, घर-द्वार बनाकर रहेंगे—यह निर्जन शोभामय वन-प्रांतर, जगल, कुड, पहाड़ियाँ, सब जनपद में बदल जायँगी। लोगो की भीड से डरकर वन-लक्ष्मियाँ हाँफती हुई भाग खडी होगी। मनुष्य आकर इस माया-कानन की माया को भी मिटा देंगे। इसकी सुदरता भी बर्बाद कर देगे।

जन-शून्य प्रांतर में वह किस रोजगार की उम्मीद लेकर आया है, मैं यह नहीं समझ सका। मैंने कहा—"भागलपुर, मुंगेर, पूर्णियाँ जैसे बड़े-बड़े शहरों के होते हुए इस जंगल में कैसे आ निकले पांडेजी? यहाँ क्या होना है। आदमी कहाँ है यहाँ—कुछ देगा भी तो कौन?"

उसने निराशा भरी निगाह से मुझे देखते हुए कहा—"यहाँ जीविका का कोई ठिकाना नहीं होगा बाबू? फिर मैं जाऊँ कहाँ? शहर में मैं किसी को नहीं जानता, वहाँ की राह-घाट का भी पता नहीं, डर लगता है। इसीसे इधर आया हूँ।"

वह मुझे बड़ा भला, भोला और बेचारा लगा। मैं उसे साथ-साथ कचहरी तक लिवा ले गया।

कई दिन बीत गए, मैं मटुकनाथ को कोई काम न दिला सका। देखा, वह कोई काम भी नहीं जानता, मामूली ही संस्कृत पढ़ी थी। वह पंडित-पुजारी का काम कर सकता था। टोल में लड़कों को पढ़ाया करता था। वह मेरे सामने संस्कृत के श्लोक पढ़कर मेरा मनोरंजन करने की कोशिश करने लगा।

एक दिन उसने कहा—"हुजूर, मुझे कहरी के पास थोड़ी-सी जमीन देकर एक संस्कृत पाठशाला ही खुलवा दें।"

मैंने कहा—"उस पाठशाला में आखिर पढ़ेगा कौन पंडितजी? ये जंगली भैंसे और नीलगाएँ क्या भट्टी और रघुवंश समझेंगी?"

मटुकनाथ बड़ा सीधा-सादा आदमी था। शायद बिना कुछ सोचे-समझे ही उसने यह बात कह दी थी। मैंने सोचा—अब समझकर वह इससे जरूर बाज आएगा। लेकिन दो-चार दिन मौन रखकर उसने फिर वही प्रस्ताव रक्खा। बोला—"मिहरबानी करके मुझे संस्कृत पाठशाला खुलवा दे हुजूर। एक बार कोशिश तो कर देखूँ। न होगा, तो मैं जाऊँगा कहाँ?"

अजीब मुसीबत। आदमी यह खब्ती तो नहीं है! उसके चेहरे को देखकर दया हो आती। बड़ा ही सरल आदमी—तीन-पाँच नहीं जानता।

छट्ठूसिंह कचहरी का चक्कर काटने लगा। मैंने उसकी दरखास्त को सदर में भेज दिया—इस विनाश मे कुछ तो देर हो जाय।

[दो]

एक दिन दोपहर के बाद लवटोलिया के जंगल से उत्तर नाढा वैहार होकर लौट रहा था। देखा, रास्ते के किनारे कोई पत्थर पर बैठा है।

मैंने उसके समीप जाकर घोड़े को रोका। वह आदमी साठ से कम का न होगा। कपड़े मैले, वदन पर एक फटी-सी चादर।

इस सुनसान मैदान में आखिर वह कर क्या रहा है? उसने मुझसे पूछा—"आप?"

मैंने कहा—"मै यहाँ के जमींदार का एक कारिन्दा हूँ।"

—"तो क्या आप मैनेजर बाबू हैं?"

—"हाँ मै मैनेजर हूँ। कोई काम है?"

वह उठ बैठा। जैसे आशीर्वाद कर रहा हो, इस ढग से उसने हाथ ऊपर उठाया। उसने कहा—"जी, मेरा नाम मटुकनाथ पाडे है। ब्राह्मण हूँ। हुजूर के ही पास जा रहा था।"

—"मेरे पास? क्यो?"

—"हुजूर मै बेहद गरीब हूँ। आपका नाम सुनकर बड़ी दूर से पैदल ही आ रहा हूँ। तीन दिनो तक चलता ही रहा हूँ—आपकी दया मे जीविका का अगर कोई हीला हो जाय।"

मुझे कौतूहल हुआ। पूछा—"ये तीन दिन जो आप जगलो की राह चलते रहे, सो खाया क्या?"

मटुकनाथ की मैली चादर की कोर मे उडद का सत्तू बँधा था। उसे दिखाते हुए वह बोला—"सेरभर सत्तू लेकर घर से निकला था। वही खाता आ रहा हूँ। रोजी की खोज मे निकला हूँ हुजूर। सत्तू तो खतम हो आया—ईश्वर फिर कुछ बंदोबस्त कर देंगे।"

चादर के कोने मे सत्तू बाँधकर आजमाबाद और नाढा वैहार के

जन-शून्य प्रातर मे वह किस रोजगार की उम्मीद लेकर आया है, मैं यह नहीं समझ सका। मैंने कहा—"भागलपुर, मुंगेर, पूर्णियाँ जैसे बड़े-बडे शहरों के होते हुए इस जंगल में कैसे आ निकले पांडेजी ? यहाँ क्या होना है। आदमी कहाँ है यहाँ—कुछ देगा भी तो कौन ?"

उसने निराशा भरी निगाह से मुझे देखते हुए कहा—"यहाँ जीविका का कोई ठिकाना नही होगा वाबू ? फिर मैं जाऊँ कहाँ ? शहर मे मैं किसी को नही जानता, वहाँ की राह-बाट का भी पता नही, डर लगता है। इसीसे इधर आया हूँ।"

वह मुझे वडा भला, भोला और वेचारा लगा। मैं उसे साथ-साथ कचहरी तक लिवा ले गया।

कई दिन वीत गए, मैं मटुकनाथ को कोई काम न दिला सका। देखा, वह कोई काम भी नही जानता, मामूली ही संस्कृत पढी थी। वह पडित-पुजारी का काम कर सकता था। टोल में लड़को को पढ़ाया करता था। वह मेरे सामने सस्कृत के श्लोक पढ़कर मेरा मनोरंजन करने की कोशिश करने लगा।

एक दिन उसने कहा—"हुजूर, मुझे कहरी के पास थोड़ी-सी जमीन देकर एक सस्कृत पाठशाला ही खुलवा दें।"

मैंने कहा—"उस पाठशाला मे आखिर पढेगा कौन पंडितजी ? ये जंगली भैंसे और नीलगाएँ क्या भट्टी और रघुवश समझेंगी ?"

मटुकनाथ वड़ा सीधा-सादा आदमी था। शायद विना कुछ सोचे-समझे ही उसने यह वात कह दी थी। मैंने सोचा—अव समझकर वह इससे जरूर वाज आएगा। लेकिन दो-चार दिन मौन रखकर उसने फिर वही प्रस्ताव रक्खा। वोला—"मिहरवानी करके मुझे संस्कृत पाठशाला खुलवा दे हुजूर। एक वार कोशिश तो कर देखूँ। न होगा, तो मैं जाऊँगा कहाँ ?"

अजीव मुसीवत। आदमी यह खब्ती तो नही है! उसके चेहरे को देखकर दया हो आती। वड़ा ही सरल आदमी—तीन-पाँच नही जानता।

अबोध-सा आदमी—मगर इतनी उम्मीदें लेकर जाने किसके भरोस यह यहाँ आ गया है?

मैंने उसे वहुतेरा समझाया कि मै जमीन देता हूँ, खेती करो, जैसे राजू पाँड़े करता है। उसने निहोरा करके कहा—"परंपरा से पंडिताई करता आया हूँ, खेती का क-ख भी नही जानता, जमीन लेकर करूँ तो क्या करूँ?"

यो मै कह सकता था कि पडिताई करने वाला आदमी यहाँ मरने को आ क्यो गया? लेकिन कडवी वात कहते न वनी। वह मुझे वडा भला लगा था। आखिर उसे मैंने एक घर वनवा दिया। कहा—"यही पाठशाला हुई। अब आप जानो कि पढनेवाले मिलते भी है या नही।"

मटुकनाथ ने पूजा-पाठ किया, दो-तीन ब्राह्मणों को भोजन कराया। इस तरह संस्कृत पाठशाला की प्रतिष्ठा हुई। इस जंगल मे वैसा कुछ मिलता-जुलता भी तो नही। मटुक ने मकई के आटे की मोटी-मोटी पूरियाँ वनाई। अपने हाथों, जंगली तोरई भूनी, वथान से भैस का दूध लाकर दही जमाया। यही ब्राह्मण-भोजन की सामग्री। निमंत्रितो मे अवश्य मैं भी था।

पाठशाला खोलकर कुछ दिनों तक को मटुकनाथ ने वडा मजा किया। ऐसे-ऐसे जीव भी दुनिया में रहते हैं।

सुवह की आह्निक-पूजा करके वह खजूर के पत्तों की चटाई विछाकर पाठशाला मे वैठ जाता और 'मुग्धवोध' की प्रति सामने खोलकर सूत्रों की आवृत्ति करता जाता, ठीक जैसे किसी को पढा रहा हो। इतने-जोर-जोर से पढता कि अपने दफ्तर मे वैठा मैं उसे साफ सुन लेता था।

तहसीलदार सज्जनसिंह कहता—"ये पंडितजी भी खासे पागल ही हैं। जरा रवैया देखिए हुजूर!"

इसी तरह दो महीने कटे। मटुकनाथ सूने घर मे उसी उत्साह से अपनी पाठशाला चलाता रहा। एक वार सुवह, एक वार तीसरे पहर। इतने में आ गई सरस्वती-पूजा। हर साल दावात-पूजा करके ही वाग्देवी की अर्चना कचहरी मे होती थी, मूर्ति यहाँ वनवाई भी कहाँ से जाती? मुझे पता चला,

मटुकनाथ अपनी पाठशाला मे अलग से पूजा करेगा, अपने हाथो शायद सरस्वती की प्रतिमा भी बनाएगा।

इस साठ साल के बूढे के उत्साह और धीरज की बलिहारी!

हँसते हुए उसने कहा—"यह पूजा मेरी पैतृक पूजा है बाबूजी। मेरे पिताजी अपनी पाठशाला मे हरसाल मूर्ति बनवाकर पूजा किया करते थे। अब मेरी पाठशाला में—" मगर पाठशाला कहाँ?

अवश्य मटुकनाथ ने यह बात कही नही।

[तीन]

सरस्वती-पूजा के कोई दस दिन बाद एक रोज मटुकनाथ ने आकर मुझे बताया—"पाठशाला मे एक छात्र भर्ती हुआ है। वह आज ही कही से आया है शायद!"

उसने छात्र को मेरे आगे लाकर खडा किया। चौदह-पद्रह साल का एक साँवला-दुबला-सा लडका, मैथिल ब्राह्मण, बडा ही गरीब, जो कपडे पहने था, उनको छोडकर दूसरा कोई कपडा ही न था उसके पास।

मटुकनाथ के उत्साह की न पूछिए। खुद को रोटी नही मिलती; मगर तुरत उसने उस छात्र के भरण-पोषण का भार उठा लिया। यह उसकी वशगत प्रथा थी। अब तक पढनेवाले छात्रो के अभाव उसके यहाँ की पाठशाला की तरफ से ही मिटाए जाते रहे थे, सो पढने के लिए आनेवाले छात्र को उससे लौटाते न बना।

एक-दो महीने के अदर और भी दो-एक छात्र आ जुटे। एक जून सब भोजन करते, एक जून नही। प्यादे चदे से लाकर मकई का सत्तू, आटा, माढा दिया करते। मैं भी कुछ मदद कर देता। छात्र जगल से बथुए का साग ले आते और उसी को उबालकर उसी पर एक शाम काट लेते। मटुकनाथ का भी यही हाल था।

रात के दस-ग्यारह बजे तक पाठशाला के सामने एक बहेडे के पेड़

के नीचे में मटुकनाथ को पढ़ाते देखता। या तो अँधेरे मे या चाँदनी रात मे। तेल भी नही जुटता था रोशनी के लिए।

एक बात पर मुझे अवश्य ही अचरज हुआ कि पाठशाला के लिए जमीन और घर की प्रार्थना के सिवाय उसने कभी भी मुझसे पैसो की मदद नहीं माँगी। यह भी कभी नहीं कहा कि हुजूर, गुजारा नहीं होता, आप कोई और उपाय करें। वह किसी से भी कुछ नही कहता था। प्यादे लोग अपनी मर्जी मे जो चाहे दे देते थे।

बैसाख मे लेकर भादो तक उसकी पाठशाला मे छात्रो की संख्या काफी हो गई। माँ-बाप द्वारा घर से निकाले कोई दस-बारह गरीब लड़के—मुफ्त मे भोजन मिलेगा, इस लोभ से—जाने कहाँ-कहाँ से आकर उसमे दाखिल हो गए। इधर तो कौओ के मुह से ऐसी बात फैलती है! देखकर लगा, ये लड़के पहले भैंस चराते थे। बुद्धि का पैनापन किसी मे न था और वही पढने चले थे काव्य और व्याकरण! दरअसल बेचारे मटुकनाथ को सीधा पाकर उसके कंधो पर सवार होकर मुफ्त खाने को आ गए थे वे, मगर मटुकनाथ को इन बातो का खयाल ही नही था, छात्र जुट गए, उसे इसीकी बेहद खुशी थी।

एक दिन खबर मिली, टोल के छात्र आज भूखे ही रह गए है, और मटुकनाथ भी। खाने को कुछ नही मिला।

मैंने बुलवाकर मटुकनाथ से पूछा।

खबर सही थी। सिपाहियो ने जो थोड़ा-सा आटा और सत्तू दिया था, वह कई दिन पहले ही चुक गया था। कई रोज रात को सीझे हुए बथुए के साग पर रहना पड़ा। आज वह भी नसीब नही हुआ। और बथुए का साग खा-खाकर कई छात्रो की तबीयत भी खराब हो गई थी। छात्र अब उसे खाना भी नहीं चाहते थे।

—"तो अब क्या कीजिएगा पाँडेजी?"

—"मेरी तो अक्ल काम नही करती हुजूर! इतने छोटे-छोटे लड़के —भूखे रहेंगे..."

मैंने अपने यहाँ से उन लोगो के लायक दो-तीन दिन का सामान दिलवाया—चावल, दाल, आटा, घी। कहा—"ऐसे पाठशाला नहीं चलने की पाँडेजी। इसे बंद कर दीजिए। आप उन्हे खिलाएँगे क्या और खुद क्या खाएँगे ?"

मैंने समझा, मेरी बात से पाँडेजी का जी दुख गया। वह बोला—"ऐसा भी होता है हुजूर! चली-चलाई पाठाशाला उठा दूँ ? यह तो मेरा बपौती रोजगार है।"

मटुकनाथ आदमी सदानद है, ये बाते उसे समझाना बेकार है। मैंने देखा, उन छात्रों के साथ वह मजे मे है।

मटुकनाथ की कृपा से हमारी वन-भूमि का एक हिस्सा मानो ऋषि का आश्रम हो उठा था। छात्रगण जोर-जोर से 'मुग्धबोध' के सूत्र रटा करते। कचहरी के मचान पर से फले कद्दू-कोंहड़े चुरा ले जाते, डाल-पत्ते नष्ट करते हुए फूल चुरा ले जाते, यहाँ तक कि कचहरी के लोगो की दूसरी चीजें भी धीरे-धीरे गायब होनी शुरु हो गईं। प्यादे आपस मे कहने-सुनने लगे कि यह कारगुजारी पाठशाला के लडको ही की है।

एक दिन नायब का बक्स खुला पाया गया। उसमे से किसीने कई-एक रुपए और घिसी-घिसी-सी सोने की एक जो अँगूठी थी, गायब कर दी थी। बडी हल्चल मच गई। कई दिन बाद वह अँगूठी एक छात्र के पास पाई गई। उसने उसे कमर के एक बटुए में छिपाकर रक्खा था। किसी ने देख लिया और खबर कर दी। चोरी के माल सहित वह पकड़ा गया।

मैंने मटुकनाथ को बुलवाया। हकीकत मे वह बेचारा बडा भला था। उसकी भलमनसाहत का लाभ उठाकर लडके मनमानी कर रहे थे। सो पाठशाला तोड़ने की जरूरत तो नही थी, मगर दो-एक छात्रो को हटाए बिना भी काम नही चल सकता था। मैंने कहा—"जो छात्र रह जायें, मै उन्हें जमीन देता हूँ। एड़ी-चोटी का पसीना एक करके उसमे मकई, चीना—यह सब उपजाएँ। उसी से गुजारा करे।"

मटुकनाथ ने छात्रो से यह कहा। बारह लडके थे, उनमे से आठ तो

यह सुनते ही चल दिए। चार रह गए। मेरा खयाल है, वे भी कुछपढने
खयाल से नही रहे, रहे इसलिए कि और कोई चारा ही नही था। पह
भैस चराया करते थे, अब न होगा तो खेती कर लेंगे। तब से उसकी पाठशाल
एक तरह से अच्छी ही चलने लगी।

[चार]

छट्ठूसिह तथा दूसरे रैयतो को कोई डेढ हजार बीघा जमीन दे
गई। नाढा बैहार की भूमि ही ज्यादा उपजाऊ थी ; इसलिए यह सार
जमीन लोगो को उसी मे से दी गई। यहाँ की प्रांतर-सीमा के वन बडे रम
थे। बहुत बार उधर से ुजरते हुए मेरे जी मे होता था, नाढ़ा बैहार क
यह जगल दुनिया का एक ब्यूटी स्पाट है—वह ब्यूटी स्पाट अब गया
दूर से ही नजर आता, जगल मे आग लगाई गई है। बिना थोडा-बहु
जलाए उस घने जगल को काटना मुश्किल था ; लेकिन वन भी सभ
जगह तो नही था, दिगत-व्यापी प्रातर के किनारे-किनारे था जगल , प्रातर
बीच क्वचित्-किंचित् कही-कही झाडियाँ, जाने कैसी-कैसी लताएँ कौन
कौन-से जगली फूल।

मै बैठा-बैठा जगल के जलने की चट्-चट् आवाज सुनने लगा। कितन
शोभामयी लताएँ खाक हो गई—यही सोचता रहा। न जाने कैसी तकली
होती थी ; इसीलिए उस तरफ को नही जाता। देश की एक इतनी बड
दौलत, जो चिरकाल तक मनुष्य के मन को शाति और आनद दे सकत
थी, एक मुट्ठी गेहूँ के बदले उसे विसर्जन कर देना पडा।

कातिक के आरंभ मे एक दिन मै उस जगह को देखने गया। सा
मैदान मे सरसो बोया गया था, बीच-बीच मे बस्ती बस गई थी। इसी बी
मे गाय-भैस और स्त्री-पुत्रो के साथ लोग-बाग गाँव बसाकर रहने लगे थे

जाडे के बीचो बीच जब उस फूली हुई सरसो से चारो तरफ उजाल
सा फैल गया, तब आँखो के आगे जो अपूरब नजारा पेश हुआ, उसकी तुलन
नही हो सकती। डेढ हजार बीघे का वह विशाल प्रातर सुदूर क्षितिज

छोर तक पीले गलीचे से जैसे ढँक गया हो, न कही फाँक, न कोई व्यवधान—ऊपर इंद्रनीलमणि-सा फैला नीला आसमान, उसके नीचे पीली-पीली धरती, जहाँ तक नजर जा सके। मैंने सोचा—चलो, यह भी बुरा नहीं हुआ।

एक रोज मैं उन नए गाँवो को देखने गया। एक छट्ठूसिंह को छोड़कर बाकी सब गरीब लोग। एक रात्रि-पाठशाला खोलने की बात सोची। सरसो के खेतो के पास बहुतेरे लडके-लड़कियो को खेलते देखकर उसकी जरूरत महसूस हो आई।

लेकिन कुछ ही दिनो मे नए रैंयतो ने गोल-माल शुरू कर दिया। ये जरा भी शातिप्रिय नही थे। एक दिन मै अपनी कचहरी मे था। खबर मिली कि नाढा वैहार के रैयतो ने आपस में दगा-फिसाद शुरू कर दिया है। चूँकि खेतो में मेड न थी, इसीलिए झगडे की शुरूआत हुई। जिसके नाम पाँच बीघे जमीन थी, उसने दस बीघे पर दखल जमाना चाहा। यह भी पता चला कि सरसो की फसल तैयार होने के कुछ दिन पहले ही छट्ठू-सिंह ने अपने यहाँ बहु-से रजपूत लठैत बुलवाकर रक्खे थे। क्यो बुलवाए इसका असली मतलब अब समझ मे आया। तीन-चार सौ बीघे में तो उसकी अपनी फसल थी, उसके सिवा नाढा वैहार के डेढ हजार बीघे की खेती में से जितना भी हो सके, वह लाठी के जोर से हथिया लेना चाहता था।

अमलों ने मुझे बताया—"यहाँ का यही रवैया है हुजूर, 'जिसकी लाठी, उसकी फसल।'"

जो बेचारे कमजोर पडते थे, वे मेरे पास आकर रोने लगे। गरीब गंगोते थे ये। इन्होने जंगल काटकर महज दस-पाच बीघे जमीन में खेती की थी और उसी के भरोसे बाल-बच्चो सहित खेतो के आस-पास ही घर-द्वार बनाकर बस गए थे। अब एक प्रबल व्यक्ति के जुल्म से उनके सारे वर्ष की मिहनत का फल जा रहा था।

मामला क्या है, यह देखने के लिए मैंने कचहरी के दो प्यादो को वहाँ भेजा था। वे भागे-भागे आए और बोले—"भीमदास टोला की उत्तरी सीमा पर जोरो का दगा हो रहा है।"

तहसीलदार सज्जनसिंह तथा कचहरी के सभी सिपाहियो को लेकर मै उसी दम रवाना हो गया। दूर से ही हो-हल्ला सुनाई पड़ा। वैहार के बीच मे एक पतली-सी नदी बहती थी। लगा, यह हो-हल्ला ज्यादा उसी तरफ हो रहा था।

नदी के किनारे पहुँचकर देखा—उसके दोनों ही किनारो पर लोग इकट्ठे हैं। साठ-सत्तर आदमी इस पार और उस पार छट्ठूसिंह के तीस-चालीस रजपूत लठैत। लठैत इस पार आने की ताक में थे। इस पार के लोगों ने उन्हें रोकने की कोशिश की थी। इस पार के दो-एक आदमी इस कोशिश में घायल भी हो चुके थे। घायल होकर वे नदी में गिर पड़े थे। छट्ठूसिह के लोगो ने उनमें से एक की गर्दन को गँडासे से काट लेना चाहा था। ये लोग भिडकर उसे छीन लाए थे। नदी में नाम को ही पानी था, फिल्ली भी नही डूवती थी। एक तो पहाड़ी नदी, फिर जाडा खत्म हो रहा था।

हम लोगो को देखकर लोगो ने दगा वंद किया। दोनो तरफ के लोग मेरे पास आए। दोनो ही पक्षो ने अपने को युधिष्ठिर और दूसरे को दुर्योधन बताया। उस गुलगपाडे में न्याय-अन्याय समझ सकना कठिन था। मैंने दोनों ही दलो के लोगो को इसके लिए अपनी कचहरी मे आने को कहा। जो घायल थे, उन्हे लाठी की मामूली-सी चोट लगी थी—जख्म गहरा न था। उन्हें भी मै कचहरी ले आया।

छट्ठूसिह के दलवालों ने वताया, वे लोग दोपहर के वाद कचहरी में हाजिर होगे। मैंने समझा—वात आई-गई हो गई, लेकिन हकीकत मे तव भी मै उन्हे पहचान नही पाया था। दोपहर के जरा देर वाद ही खवर मिली वहाँ फिर से दगा शुरु हो गया है। सिपाहियो को लेकर फिर मैं दौड़ा। नौगछिया थाना वहाँ से पन्द्रह मिल पर था। थाने मे खवर देने के लिए घोड़े से एक आदमी को भेज दिया। पहुँचकर मैने देखा, जैसा सवेरे था, वैसा ही हाल। छट्ठूसिह ने इस समय और भी वहुत-से लोग जुटा रखे थे। मालूम हुआ कि रासबिहारीसिंह राजपूत और नदलाल गोलावाला छट्ठूसिंह की

मदद कर रहे थे। छट्ठूसिंह खुद सरजमीन पर मौजूद न था, उसका भाई गजावरसिंह कुछ दूर पर घोडे पर सवार खड़ा था। उसने मुझे जो देखा, सो खिसक पड़ा। अवकी वार मैंने राजपूत दल के दो आदमियों के हाथो मे वदूकें देखी।

उस पार से राजपूतो ने चिल्लाकर कहा—"आप हट जाएँ हुजूर, हम जरा इन गंगोतो को सवक सिखा दे।"

मेरे हुक्म से मेरे साथ के लोग दोनो दलो के वीच जा खड़े हुए। मैंने वता दिया कि थाने मे खवर भेज दी गई है। अव तक दारोगा-सिपाही आवी दूर आ गए होंगे। और ये वदूके किनकी है? अगर वदूक छोडी गई, तो उन्हे जेल जाना ही पडेगा, खैर नही।

जिनके हाथो में बंदूकें थी, वे दोनों आदमी पीछे हट गए। गगोतो को वुलाकर मैंने कहा—"देखो, झगड़ा फिसाद की कोई जरूरत नही, अपने-अपने घरों को लौट जाओ। मै यहाँ हूँ। मेरे आदमी यहाँ रहेगे। अगर तुम्हारी फसल लूटी जायगी, तो मै जिम्मेदार हूँगा।

गंगोतो के सरदार ने मेरी वात मानी। अपने लोगों के साथ वह कुछ दूर पर एक वकाइन के पेड के नीचे जा खडा हुआ। मैंनेकहा—"वहाँ भी मत रुको—सीधे घर चले जाओ। पुलिस आ ही धमकी समझो।"

मगर राजपूत इतने से माननें वाले न थे। वे उस पार आपस मे न जाने क्या राय-मशविरा करने लगे। मैंने तहसीलदार से पूछा—"सज्जन-सिंह, माजरा क्या है? हम पर तो धावा नहीं होनेवाला है?"

तहसीलदार ने कहा—"हुजूर, यह जो नंदलाल ओझा आ जुटा है खतरा उसीका है। वह कवख्त पूरा डाकू है, डाकू!"

—"तो सावधान रहो। किसी को उस पार मत जाने दो। किसी कदर दो घटे सँभाल लो, इतने मे पुलिस आ पहुँचेगी।"

राजपूतों ने आपस में तै क्या किया, पता नही। कुछ लोग मेरे पास आए। वोले—"हुजूर, हम लोग उस पार जायँगे।"

मैंने पूछा—"क्यों?"

—"क्यों क्या, हमारी क्या उस पार जमीन नही है ?"

—"ये सारी बातें पुलिस को बताना, आ ही रही है। मैं इधर आने की इजाजत नहीं दे सकता।"

—"हमने ढेर-के-ढेर रुपए सलामी देकर जो जमीन ली है, वह क्या बर्बाद होने देने के लिए ही ? यह तो आपका अन्याय है, जुल्म है।"

—"इस जुल्म की शिकायत भी पुलिस से करना।"

—"तो हमें आप उस पार बिलकुल भी नही जाने देंगे ?"

—"पुलिस के आने से पहले नही। अपने इलाके में मै मार-पीट की नौबत नही आने दूँगा।"

इतने मे हमारी कचहरी के और भी आदमी आ जुटे और उन्होंने अफवाह उड़ा दी कि पुलिस के लोग आ रहे हैं। एक-दो करके धीरे-धीरे छट्टूसिंह की जमात के लोग खिसकने लगे। उस समय के लिए तो झगड़ा-लड़ाई समाप्त हो गया। मगर वही जो उसका सूत्रपात हुआ, सो दिन-दिन बढ़ता ही चला गया। मै समझ गया कि छट्टूसिंह-जैसे जालिम राजपूत के हाथों इतनी ज्यादा जमीन बेच देने का ही यह नतीजा है। सारे झगड़े-फिसाद की जड़ यही है। मैंने एक दिन उसे बुलवाया। वह साफ इनकार कर गया कि इन बातों की उसे कतई जानकारी नही। बोला—"मेरा ज्यादा समय छपरे में बीतता है। मेरे कारिन्दे क्या करते है, उसको मैं क्या जानूँ ?"

मै ताड़ गया, आदमी यह एक ही काइयाँ है। सीधी तौर से काम बनने का नही। अगर उसे सबक देना है, तो और ही उपायों की शरण लेनी पड़ेगी।

तब से मैंने गंगोतो के सिवा किसी भी दूसरे रैयत को जमीन देना बिलकुल बंद कर दिया ; लेकिन जो गलती एक बार कर चुका था, उसका कोई प्रतिकार किए न हो सका। नाढा बैहार की शांति सदा के लिए जाती रही।

[पाँच]

अपने बारह मील के रकवे में फैले जंगली मौजे के उत्तर मे कोई छै नौ एकड़ जमीन में रैयत बस गए थे। पूस के आखिरी दिनो एक बार उधर जाने की जरूरत पडी। गया। देखा—लोगो ने इलाके की शकल ही बदल डाली है।

फुलकिया बैहार से बाहर निकला कि सामने क्षितिज तक फैला हुआ फूली हुई सरसो का खेत नजर आया। जहाँ तक आँख जा पाती थी, सामने दाएँ-बाएँ ऐसा मालूम होता था, मानो किसी ने पीला फूल कढ़ा हुआ गलीचा बिछा दिया हो—न ओर-छोर, न बाधा-बधन। जगल के छोर से लेकर वह क्षितिज के समीप तक की नीलगिरि-माला मे जाकर मिल गया था। ऊपर शीतकाल का निर्मेघ नील गगन। ऐसे अनोखे खेतो के बीच-बीच में रैयतो के कसाल के झोपड़े खडे थे। पता नही, ऐसी करारी सर्दी में ये बाल-बच्चो के साथ इन झीने झोपड़ों में कैसे रह लेते थे।

फसल पकने में देर नही थी। जगह-जगह से कटनियो की जमात इसी बीच मे जुटने लगी थी। इन मजूरों की जिंदगी भी अजीब होती है। ये पूर्णियाँ तराई तथा जयती पहाड़ के आस-पास और उत्तरी भागलपुर से यहाँ आते है और बाल-बच्चों सहित आते हैं। झोपडे डालकर रहते है, खेतो में फसल काटते हैं, उसी की जो मजूरी मिलती है, उससे गुजर-बसर करते है। कटनी खत्म हो जाने पर वापस चले जाते हैं, अगले साल फिर आते है। कटनी मजूरो मे अनेक जाति के लोग रहते है, लेकिन सबसे ज्यादा रहते हैं गंगोते। छत्री, भूमिहार और मैथिल ब्राह्मण भी इनमे होते है।

यहाँ फसल कटते समय खेतों में ही मालगुजारी वसूलने का रिवाज है, इसलिए कि यहाँ के लोग इतने गरीब है कि फसल घर उठ जाने के बाद मालगुजारी चुकाना उनके लिए मुमकिन नही होता। इसी सिलसिले मे मुझे खुद भी कई दिनो तक फुलकिया बैहार में रहना पडा।

तहसीलदार ने कहा—"तो आपके लिए वहाँ तंबू खडा करवा दूँ ?"

—"दिन-भर मे कसाल का एक झोपड़ा क्यो नही वनवा देते?"

—"ऐसी सर्दी मे उसमे रह सकेंगे हुजूर?"

—"वखूवी रहूँगा। वनवा दो।"

वही किया गया। पास-पास कसाल के तीन-चार छोटे-छोटे झोपडे डाले गए। एक मेरे सोने के लिए, एक रसोई और एक दो-तीन प्यादों के रहने के लिए। इस तरह के झोपड़ो को इधर के लोग 'खोपड़ी' कहते हैं। इसमें न तो होता है दरवाजा, न होती है खिड़की। अंदर जाने-आने के लिए सामने की तरफ खुला होता है। वद करने की गुजाइश नही होती। हू-हू करके हिम-शीतल हवा के झोंके आते रहते हैं। दरवाजे के वदले जो खुली जगह होती है, वह इतनी नीची होती है कि सिकुड कर अंदर दाखिल होना पड़ता है। सूखा कसाल गाढ़ा करके विछा दिया गया, उस पर दरी और दरी पर डाल दिया गया मेरा विछावन। मेरे लिए जो झोंपड़ा वना, वह सात हाथ लंवा और तीन हाथ चौड़ा था; मगर ऊँचाई उसकी मुश्किल से तीन हाथ की होगी। खड़ा होना मुहाल।

मगर मुझे यह झोंपड़ा अच्छा लगा। इतना आराम तो मुझे कलकत्ता मे तीन या चार मजिल के मकान मे रहकर भी नही मिला। यह हो सकता है कि वहुत दिन से यहाँ रहते-रहते मै जंगली होता जा रहा हूँ। मेरी रुचि, मेरा दृष्टिकोण, भला-वुरा लगना, सव पर इस खुली वन्य प्रकृति का थोडा-वहुत प्रभाव पड़ा था। कौन कह सकता है कि मेरा यह अच्छा लगना उसी की वदौलत था या नही?

उस झोंपड़े मे दाखिल होते ही जो चीज मुझे अच्छी लगी, वह थी ताजे कसाल की वू, जिससे झोंपड़ा वना था। दूसरी चीज थी, झोंपड़े के झरोखों से सोये-सोये दीखते रहनेवाले सरसों के दिगंत-विस्तृत पीले फूलों से भरे खेत। यह दृश्य अनोखा ही था। लगता था कि जैसे मैं किसी संसार-व्यापी पीले गलीचे पर पड़ा हूँ। तेज हवा मे सरसों के फूलो की तीखी गंध भरी थी।

सर्दी भी खासी पड़ी। पछुआ एक दिन को भी वद नही हुई। उससे जलती धूप भी गल कर ठंढा पानी हो जाती थी। वैहार में जो वेर का जंगल

था, उसके पास से घोड़े पर लौटते हुए मैं सुदूर तिरासी-चौका की नील चोटी पर जाड़े का सूर्यास्त देखा करता। अग्नि कोण से नैऋत्यकोण तक सारा पश्चिमी आसमान रंग उठता। ऐसा लगता, जैसे पिघली आग के समुद्र मे प्रकाड अग्नि गोलक-जैसा सूरज उतर पडता। मै मानो पृथ्वी की आह्निक गति को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, यह विशाल धरती जैसे पूरब से पश्चिम को घूमती चली आ रही है। ज्यादा देर तक ताकते रहने से भ्रम होता। सचमुच ही लगता कि पश्चिमी क्षितिज के छोर की धरती उस विंदु की तरफ घूमती आ रही है, जिस पर मै खड़ा हूँ।

धूप के मिटते ही कड़ाके की सर्दी पडने लगती। तमाम दिन कडी मेहनत करने और घोड़े से यहाँ-वहाँ जाने-आने के कारण हम भी थक जाते। शाम को झोंपड़े के आगे आग जलाकर उसी के पास बैठा करते।

अंधकार से ढँके वनों के ऊपर जलनेवाले अनगिन तारे.न जाने कितनी दूर-दूर के विश्व के ज्योति-दूत के रूप मे धरती के लोगो की आँखो के आगे प्रकट होते। ये नक्षत्र विजलीवत्ती-से झकमक जलते—वंगाल में मैंने वैसी कृत्तिका, वैसा सप्तर्षिमंडल कभी नही देखा था। बराबर देखते-देखते उनसे मेरा गहरा परिचय हो गया था। नीचे गाढा अँधेरा, जंगल, सूनापन, रहस्यमयी रात और सिर के ऊपर मेरे रोज-रोज का साथी ज्योतिर्लोक! कभी-कभी अंधकार के समुद्र मे चॉद का टुकड़ा ऐसा दिखाई देता, जैसा कि वहुत दूर के रोशनी-घर में प्रकाश! और उस गाढ़े अँधियारे को आग के तीर से चाक-चाक करता हुआ यहाँ-वहाँ उल्का-पात। जिधर देखो, उधर ही, दक्खिन, उत्तर, ईषाण, नैऋत्य, पूरब, पश्चिम—हर तरफ। यह एक, वह एक और फिर वह एक—हर मिनट पर, हर सेकिंड पर।

कभी-कभी गनौरी तिवारी या और वहुत-से लोग मेरे झोपड़े में आ जुटते। तरह-तरह की वाते छिड़ती। यही एक दिन मैंने एक गज़व की कहानी सुनी। वातो-ही-वातो मे उस रोज शिकार के किस्से शुरू हो गए। अचानक मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट के जंगली भैंसे की बात उठ आई। इत्तिफाक से चरी की डाक वोलने के लिए दशरथसिह झंडावाला उस

दिन वही आया हुआ था। कभी इस आदमी ने जगलों की खूब खाक छानी थी। उसका नाम अच्छे शिकारियों में था। उसने वताया—भैंसों के शिकार में मैंने एक बार 'टाँड़वारो' देखा था हुजूर!

मुझे याद आया, गोनू महतो ने एकवार टाँड़वारो का जिक्र किया था। मैंने पूछा—"वह क्या?"

—"बात वहुत पहले की है हुजूर—उस समय कोसी वाला पुल नही बना था। कटोरिया में जोडा खेप लगा करता था, पैसेंजर और माल, दोनों एक साथ पार होते थे। मै और छपरा का छट्ठूसिंह, उन दिनो दोनों घोड़े के नाच के पीछे पागल थे। छट्ठूसिंह छत्तर (सोनपुर) के मेले से घोड़ा लाया करता और उन्हे नाच सिखा कर हम ज्यादा दाम पर वेचा करते थे। घोडे का नाच दो तरह का होता है—जमैंती और फनैती। जो घोड़ा जमैंती में पक्का होता, उसकी कीमत ज्यादा मिलती। जमैंती नाच सिखाने में माहिर था छट्ठूसिंह। तीन-चार वर्षों में हम दोनों ने इससे अच्छा कमाया।

"एक वार छट्ठूसिंह की राय हुई कि लाइसेंस लेकर ढोलबज्जा जंगल से भैंसे पकड़े जायँ और उसी का कारोबार करें। ढोलबज्जा दर-भंगा महाराज का रिजर्व फारेस्ट था। सव इन्तजाम किया गया। जंगल का जो अमला था, उसकी जेव गरम करके परमिट अदा किया। सव हो-हवा जाने के वाद मैं कई दिनों तक घनघोर जंगल की खाक छानता रहा, सिर्फ यह जानने के लिए कि भैंसों के जाने-आने की राह किधर और कौन-सी है। उतना वड़ा जंगल, मगर क्या मजाल कि एक भी भैंसा दिखाई पड़ता! हार-थक कर एक संथाल की मदद ली। उसने हमें वाँसों की एक झाड़ी दिखा कर कहा—'देखिए, गहरी रात हुए भैंसे इसी रास्ते से पानी पीने जाते हैं।' हमने उस रास्ते को दूर तक काफी गहरा खोदा और उस पर वाँस और मिट्टी डाल कर फंदा तैयार किया। अगर इससे होकर भैंसों की टोली जायगी, तो वह गिर कर गढे में फँस जायगी।

"उस संथाल ने हमारे फन्दे देखे और कहा—'तुमने हिकमत तो खूब

लगाई, मगर मैं कहे देता हूँ, ढोलवज्जा जंगल के भैंसो को तुम हर्गिज नहीं मार सकते। यहाँ टाँड़वारो है।'

"हम तो अवाक् रह गए—'यह टाँड़वारो क्या वला है?'

"उस वुड्ढे सथाल ने वताया—'टाँड़वारो, जंगली भैंसो का देवता है। उसके रहते भैंसों का वाल भी वाँका नही हो सकता।'

"छट्ठूसिंह अड़ गया—'ये वेकार की वातें है, हम नही मानने के। हम रजपूत है, संथाल नही हैं।'

"उसके वाद हम पर जो गुजरी, उसे सुनकर आप दंग रह जायँगे हुजूर! आज भी उसकी याद आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते है। हम गहरी रात को वाँसों की एक झाड़ी के पास दुवके खडे थे, चुपचाप—चूँ तक भी नही की हमने। हमें भैंसों के पैरो की आहट सुनाई दी, वे फदों की तरफ आ रहे थे। वहुत ही करीव आ गए, कोई पचास हाथ के फासले तक। अचानक फंदे के पास, करीव दस हाथ की दूरी पर एक काला-कलूटा, वेहिसाव लम्वा आदमी हाथ उठाए खड़ा दीख पडा। इतना लम्वा था वह कि लगा उसका सिर वाँस की फुनगी से जा सटा है। उस पर नजर पड़ते ही भैंसे ठिठक गए और वे धीरे-धीरे विखर कर जिधर-तिधर चले गए। फदे की सीमा तक भी कोई न आया। अव आप यकीन करे या न करें हुजूर, आँखो देखी वात है।"

उसके वाद भी हमने दूसरे शिकारियो से पूछ-ताछ की। उन्होने भी साफ कह दिया—"ढोलवज्जा में भैंसों को पकड़ने की उम्मीद छोड दो। टाँड़वारो एक का भी रोंआ तक न छूने देगा।" हमारे परमिट के रुपए पानी में गए, भैंसा हम एक भी न फँसा सके।

उसका किस्सा खत्म हो जाने पर लवटोलिया के पटवारी ने कहा—"टाँड़वारो के किस्से तो हम भी वचपन से सुनते आ रहे हैं। वह जंगली भैंसों का देवता है और सदा इसके लिए सतर्क रहता है कि भैंसो के प्राण अकारथ न जायँ।"

कहानी सच्ची है या झूठी, मुझे यह जानना जरूरी न था। मैं तो ऊपर

निगाह उठाए अँधेरे आसमान पर प्रकाश के खड्गवाले कालपुरुष को देखने लगा ; स्तब्ध पड़े जंगल के ऊपर अँधेरा आकाश औंधा पड़ा था ! दूर कहीं जंगल में से वनकुक्कुट बोल उठा—अंधेरा और निस्तब्ध आकाश, अँधेरी और निस्तब्ध पृथ्वी—जाड़े की इस रात में दोनों एक दूसरे के पास पहुँच कर मानो कुछ कानाफूसी कर रहे हों—दूर मोहनपुरा जंगल की श्याम सीमा-रेखा की ओर ताकते हुए इस अनोखे वन-देवता की बात याद आते ही मेरा शरीर सिहर उठता। इस तरह के किस्से ऐसे ही जंगलों में जाड़े की रातों में आग तापते हुए ही सुनने में अच्छे लगते हैं।

दसवाँ परिच्छेद

[एक]

पूरे पन्द्रह दिन तक यहाँ मैंने जंगली जीवन बिताया, जैसा कि गगोते या इधर के गरीव भूमिहार विताया करते थे। स्वेच्छा से कहना तो गलत होगा, वहुत कुछ लाचारी से ही इस तरह रहना पडा। आखिर इस जगल में मिलता भी क्या, और लाया भी कहाँ से जाता ? रूखा भात और जगली परोल की तरकारी पर गुजर। प्यादे मीठे आलू ले आते जंगल से, कभी-कभी उसी की भुजिया। न मछली, न मॉस, न दूध—कुछ नही।

इस जंगल में सिल्ली और मोर की कमी जरूर नही थी , मगर उन्हे मारने को जी नही चाहता था। वंदूक थी, फिर भी निरामिप भोजन ही चलाता रहा।

फुलकिया वैहार मे वाघ का खतरा था। एक दिन की घटना सुनाऊँ।

हड्डी तोडने वाली सर्दी की रात। दस वजे तक मैंने सारे काम-काज खत्म कर दिए और जरा जल्दी ही सो गया। अचानक जाने कितनी रात गए लोगो की चीख-पुकार से नीद उचट गई। जगल के किनारे कही इकट्ठे होकर लोग शोर मचा रहे थे। मै उठ बैठा। रोशनी की। प्यादे पास के झोपड़े में सोए थे—वे भी वाहर निकल आए। सव मिलकर सोचने लगे—आखिर माजरा क्या है ?' इतने मे एक आदमी दौड़ा-दौड़ा आया और वोला—"मैनेजर वावू, जरा अपनी वंदूक लेकर जल्दी चलें, वाघ एक नन्हे-से वच्चे को उठा ले भागा है।"

जंगल के पास ही एक खेत में डोमन गगोता की झोपड़ी थी। उसकी स्त्री छै महीने के वच्चे को लेकर झोंपड़ी में सोई हुई थी। जाड़ा बेतरह पड़ रहा था, सो अन्दर आग जला रक्खी थी। धुआँ भीतर घुमड न उठे ; इसलिए

झोंपड़ी का दरवाजा जरा खोल दिया गया था। उसी से बाघ अन्दर दाखिल हो गया और बच्चे को ले भागा।

मगर बाघ ही था, यह कैसे पता चला ? गीदड़ भी तो हो सकता है ! जहाँ यह घटना हुई थी, वहाँ पहुँच कर जरा भी शक नहीं रह गया। खेतों की नर्म मिट्टी पर बाघ के पंजो की छाप पड़ी थी।

मेरे प्यादे और पटवारी अपने गाँव की बदनामी नहीं फैलने देना चाहते थे। उन्होंने विश्वासपूर्वक कहा—"यह बाघ यहाँ का नहीं हो सकता हुजूर, यह रिजर्व फारेस्ट का बाघ है, बेशक वही का है। जरा पंजा देखिए, कितना बड़ा है !"

बाघ कही का हो, उससे क्या आता-जाता है। मैंने कहा—"लोगों को इकट्ठा करो। मशाल लेकर चलो, जंगल मे देखें।" रात का आलम, बाघ का वह खौफनाक पंजा जो देखा, तो सब मारे डर के थर-थर काँपने लगे थे। जंगल में कौन जाय, किसे अपनी जान भारी है। मैंने गरज-बिगड़ कर मुश्किल से दसेक आदमियों को तैयार किया। उनके हाथों में मशालें दी और कनस्तर पीटते हुए जंगल मे खोज-ढूँढ़ की ; मगर सब बेकार।

दूसरे दिन, दिन के दस बजे वहाँ से कोई दो मील की दूरी पर उस बच्चे की लहू-लहान लाश एक आसान पेड़ के नीचे पड़ी पाई गई।

उसके बाद उतरी अँधियारी पाख की भयावनी काली-काली रातें !

मैंने बाँकेसिंह जमादार को बुलवा लिया। वह शिकारी था और बाघो का अता-पता जानता था। उसने बताया—"आदमखोर बाघ एक नम्बर का घूर्त्त होता है हुजूर। देखिएगा, और कई लोगों को मार खाएगा। सावधानी से रहना चाहिए।"

इसके ठीक तीन दिन बाद बाघ जंगल के किनारे से एक चरवाहे को ले भागा। अब तो लोगो ने सोना भी हराम कर लिया। रात को एक अजीब तमाशा ! इतने बडे बैहार के झोंपड़ों में तमाम रात कनस्टर पीटने की आवाज , कसाल की सुलगती हुई आग। मै और बाँकेसिंह एक-एक पहर पर बन्दूक की आवाज करने लगे। और उत्पात क्या केवल बाघ ही का था ?

एक दिन रिजर्व फारेस्ट से जंगली भैंसों की जमात आकर खेतों मे पिल पड़ी और फसल को तहस-नहस करके चली गई।

मेरे झोंपड़े के आगे सिपाहियों ने आग जला रक्खी थी। मैं जब-तब उसमें लकड़ी डाल दिया करता। बगल के झोपड़े में प्यादे आपस में बाते कर रहे थे। मैं झोंपड़े में सोया हुआ था। सिरहाने की तरफ के झरोखे से अंधकार से ढँका दूर तक फैला प्रांतर और तारों की मंद जोत में जंगल की धुँधली सीमा-रेखा दीख रही थी। ऊपर आसमान की तरफ देखकर ऐसा लगा, मानो मृत नक्षत्रलोक से तुषारवर्षी हिमशीतल बयार की लहरे पृथ्वी की ओर लपकी चली आ रही है। तोशक-तकिया जैसे पानी हो गया हो, आग ठंडी पड़ती आ रही थी, ऐसी करारी सर्दी! और ऊपर से वैहार से आने वाली कन्कन् हवा के प्रबल झोंके!

लेकिन इधर के लोग इस सर्दी में कैसे रह लेते हैं, खुले आसमान के नीचे मामूली-से झोपड़ों के अन्दर सीली हुई जमीन पर रात कैसे गुजारते हैं? फिर फसल जोगने की यह जिम्मेदारी, जंगली भैंसों का उत्पात, जंगली सूअरों को हरकते—बाघ का भी खतरा। बंगाल के किसान भला इतनी तकलीफ़ उठा सकते हैं? उतनी उपजाऊ जमीन और उत्पातरहित परिवेश के होते हुए भी उनके कष्ट नहीं कटते।

दक्खिन भागलपुर से कुछ कटनिए आए हुए थे। वे मजूर बाल-बच्चो सहित मेरे झोपडे से जरा ही दूर पर टिके थे। मै एक दिन साँझ को उधर से लौट रहा था। देखा—झोपड़े के सामने बैठकर सब लोग आग ताप रहे हैं।

मेरे लिए इन लोगों की दुनिया बिल्कुल अपरिचित और अज्ञात थी। सोचा—जरा इसे भी क्यों न देख ले।

मैं उनके पास गया। पूछा—"क्यों भैया, क्या हो रहा है?"

उनमें से एक बूढा था, मेरा सवाल उसी से था। वह उठ खड़ा हुआ। सलाम करके उसने मुझसे आग तापने का अनुरोध किया। ऐसा रिवाज था इधर का। जाड़ो में आग तापने के लिए कहना भद्रता मानी जाती।

बैठ गया मैं। झोपड़े में झाँक कर देखा—बिछावन या असबाव नाम की कोई चीज उनके पास नहीं थी। झोपडे के अन्दर जमीन पर थोड़ी-सी सूखी घास पडी थी। वर्त्तन के नाम पर काँसे का एक वड़ा-सा कटोरा और एक लोटा था। कपडे जो उनके बदन पर थे, उतने ही ; उसके सिवाय एक टुकडा भी नहीं। खैर, कपडा इतना ही सही, मगर रजाई-कथरी कहाँ है ? इस भयकर जाडे मे ये रात को ओढते क्या है ?

मैंने उनसे यही सवाल किया।

बूढ़े का नाम था नकछेदी भगत। जात का वह गगोता था। उसने कहा—"रजाई क्या, झोपडे के कोने में वह उड़द का भूसा जो ढेर लगा पडा है !"

मैं कुछ समझ नही सका। पूछा—"क्या रात को भूसे से आग जलाते हो ?"

नकछेदी मेरे सीधेपन पर हँसा।

—"जी नही। बच्चे रात को उसी मे घुस कर सो रहते है और हम-लोग भी उसी को अपने ऊपर डाल लेते है। देखिये न, न भी होगा, तो पाँच मन भूसा है कम-से-कम। वड़ी गर्मी होती है इसमे, दो कंवलो मे भी इतनी गर्मी नहीं होती। फिर हमें कवल नसीव भी कहाँ होता है ?"

इतने मे एक बच्चे को उसकी माँ भूसे के उसी ढेर मे गर्दन तक घुसा कर सुला आई। केवल उसके मुँह को वाहर रहने दिया। मै सोचने लगा—वास्तव में एक आदमी आदमी के बारे मे जानता भी कितना है ? मैं ही क्या कभी इन बातो की जानकारी रखता था ? आज मानो मै वास्तविक भारत के स्वरूप को पहचान रहा हूँ।

आग के दूसरी ओर एक जवान लड़की कुछ पका रही थी। मैंने पूछा—"क्या रसोई वन रही है ?"

नकछेदी ने कहा—"घाटा।"

—"यह घाटा क्या होता है ?"

वह लडकी न जाने मेरे बारे मे क्या सोचने लगी कि शाम को अचा-

नक ये बंगाली बाबू कहाँ से आ टपके—कुछ जानते ही नही ! इन्हे दुनिया की खाक भी खबर नही ! वह खिलखिला कर हँस पड़ी। बोली—"घाटा क्या होता है, यह भी नही जानते आप बाबूजी ? घाटा. . उबली मकई। चावल उबालने से जैसे भात तैयार होता है, वैसे ही मकई उबाल कर घाटा बनता है।

मेरी अज्ञता पर उसे दया आई। उसने थोडा-सा घाटा हाँडी में से निकाल कर मुझे दिखलाया।

—"इसे कैसे खाते है ?"

अब तो मेरे प्रश्नों का जवाब वह लड़की ही देने लगी। हँसती हुई वह बोली—"नमक के साथ, साग के साथ , और कैसे ?"

—"साग बन गया ?"

—"इसके बाद साग चढाऊँगी। मटर का साग तोड कर रक्खा है।"

वह लड़की थी खूब सप्रतिभ। पूछा—"आप कलकत्ता रहते है ?"

—"हाँ।"

—"कैसी जगह है कलकत्ता ? अच्छा, सुनते है वहाँ कोई पेड नही है ? वहाँ सारे ही पेड-पौधे काट डाले गए है ?"

—"यह किसने कहा तुमसे ?"

—"हमारी तरफ का एक आदमी वहाँ काम करता है, उसी ने कहा था। अच्छा, है कैसी जगह वह ?"

मैंने उस सरल बालिका को यह समझाने की भरसक कोशिश की कि आधुनिक युग का एक बड़ा शहर क्या होता है। वह कितना समझ सकी, यह नही कह सकता। बोली—"कलकत्ता देखने की इच्छा तो बड़ी होती है, मगर कौन दिखायगा ?"

उसके साथ मैंने और भी बातें की। रात ज्यादा हो गई, अँधेरा गाढ़ा हो आया। उन लोगो की रसोई तैयार हो गई। उस लडकी ने झोपडे के अन्दर से काँसे के उस बड़े कटोरे को निकाला और उसी मे माड-भात-जैसी

उस चीज को ढाल दिया। ऊपर से उस पर थोड़ा-सा नमक भुरभुरा दिया। चारों तरफ से बैठकर बच्चे खाने लगे।

मैंने पूछा—"यहाँ से तुम लोग अपने घर वापिस जाओगे?" नकछेदी बोला—"घर लौटने में अभी काफी देर है। यहाँ से धान काटने के लिए धरमपुर जायँगे। धरमपुर मे धान होता है, यहाँ नही होता। धान की कटाई खत्म हो जायगी, तो गेहूँ काटने के लिए मुंगेर जायँगे। गेहूँ की कटाई समाप्त होते-होते जेठ का महीना आ जायगा। तब खेड़ी काटने के लिए फिर आपही के इलाके में लौटेंगे। उसके बाद कुछ दिनो की छुट्टी। सावन-भादों में फिर मकई। मकई के बाद उड़द और उडद के बाद धरमपुर-पूर्णियाँ मे कतिकी धान। हम साल-भर इसी तरह यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ चक्कर काटा करते हैं। जब जहाँ जो फसल होती है, जाते हैं। न जाएँ, तो पेट का गुजारा कैसे चले बाबूजी?"

—"तुम्हारे घर-द्वार नही हैं?"

अबकी बार वह लड़की बोली। चौबीस-पच्चीस की उम्र। तन्दुरुस्त, पालिश किया हुआ-सा काला रंग, सुडौल बनावट। बात करने में चुस्त. दक्खिनी बिहार की गँवई भाषा उसके मुँह से बडी फबती थी।

वह बोली—"घर-द्वार है क्यों नही बाबूजी, है सब-कुछ, मगर वही बैठे रहने से तो अपना गुजारा नही चल सकता। अपने घर हम गर्मियो के अन्त में जायँगे और आधे सावन तक रहेंगे। फिर परदेश का चक्कर, चाकरी ठहरी परदेश की। और परदेश के मजे भी बहुत है। फसल कट जाने दीजिए न, यही जानें कहाँ-कहाँ के लोग आयँगे—गाने-बजाने वाले, नचनिए, बहुरूपिए, आपने क्या नही देखा? देखें भी कहाँ से भला, आपका सारा इलाका तो जगल था, महज इसी बार तो यहाँ खेती हुई है। बस और पन्द्रह दिन की देर है, यही तो उनके कमाने-खाने का समय है।"

चारों ओर सन्नाटा। दूर की किसी बस्ती मे लोग अँधेरे मे कनस्तर पीट रहे थे। मैं सोचने लगा—जंगली जानवरों से भरे इस जंगल के खुले झोंपड़ों में ये बाल-बच्चों को लेकर कैसे रह लेते है, इनके साहस की बलि-

हारी है ! कई दिन पहले की तो वात है, बाघ एक औरत के वगल से बच्चे को उठा ले गया—फिर इन्हें कैसा भरोसा है ? मगर एक वात मैंने पाई इनमें, इन्होंने उस घटना को कुछ महत्त्व ही नही दिया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। वैसा डर भी न था उनमें। मैंने कहा—"जरा होशियार रहना। पता है तुम्हें कि आदमखोर बाघ का खतरा वढ गया है ? ये आदमखोर वाघ बडे खौफनाक होते हैं, वड़े चालाक। दरवाजे पर आग जला कर रक्खो और अन्दर रहो। जगल करीब ही है, रात का वक्त जो ठहरा—"

वह लड़की बोली—"इसके हम अब आदी हो गए हैं वावूजी, पूर्णियाँ में, जहाँ हम हर साल धान काटने जाया करते हैं, पहाड़ से जगली हाथी उतरा करते हैं। वह जंगल तो और भी भयंकर है। धान के दिनों में तो हाथी की हरकतें ज्यादा वढ जाती हैं।"

उसने आग में झाऊ की कुछ और सूखी टुकड़ियाँ डाल दी और सामने की तरफ सरक कर बैठती हुई वोली—"उस वार हम लोग अखिलकूचा पहाड के नीचे ठहरे थे। एक रात को मैं झोपड़े के वाहर रसोई बना रही थी। अचानक सामने नजर जो गई, तो देखा कि महज पचास हाथ के फासले पर चार-पाँच जंगली हाथी खडे हैं—अँधेरे में खड़े हुए ` देखने में काले पहाड-से लग रहे थे। मालूम होता था, मानो वे झोंपड़े की तरफ ही आ रहे हों। मैंने नन्हे को गोदी में उठाया, वडी वच्ची का हाथ थामा, और रसोई छोड़ कर उन्हे झोंपड़े के अन्दर रख आई। आस-पास न कोई आदमी था, न आदमजाद। बाहर निकली, तो हाथी जैसे ठिठक कर खड़े हो गए थे। मारे डर के मेरी बोलती बन्द। हाथी ज्यादा देख नही पाते, इसी से खैरियत हुई, वे गध से दूर के लोगो का अदाजा लगा लेते हैं। उस समय हवा का रुख शायद दूसरी तरफ को था। जो भी हो, हाथी दूसरी तरफ चले गए। पूछिए मत वावूजी, वहाँ भी तमाम रात हाथी के डर से लोग इसी तरह कनस्तर पीटते रहते हैं, आग जलाए रहते हैं। यहाँ जंगली भैंसों का भय, वहाँ वनैले हाथियों का खतरा। अब तो इस सवके हम आदी हो गए हैं वावूजी ! "

रात ज्यादा हो गई थी मै लौट आया।

दो हफ्ते के अन्दर फुलकिया बैहार की शकल ही बदल गई। सरसो पकी और न जाने कहाँ-कहाँ से विभिन्न वर्ग के लोग वहाँ आ-आकर जुटने लगे। बोरे और तराजू बाट लिए पूर्णियाँ, मुगेर और छपरा से मारवाडी खरीदार आए। उनके साथ कुलियो और गाडीवानी करने वालो का दल भी आया। हलवाइयो ने झोपडे डाल कर दूकान खोल दी। वे तेज भाव मे पूरी-कचौरी, लड्डू और कलाकद बेचने लगे। तरह-तरह की मनिहारी की चीजे, काँच के वर्त्तन, खिलौने, सिगरेट, छीट, साबुन ले-ले कर फेरीवाले आए।

नाच-तमाशा दिखाकर पैसा कमाने वाले न जाने कितनी तरह के लोग पहुँच गए। नाचवाले नाच दिखाते, राम-सीता बनकर भक्तो की भेट लेते, पडाजी हाथ में सिन्दूर पुती हनुमानजी की मूर्ति लिए दक्षिणा वसूलते। यह समय हर किसी के रोजगार का समय था।

पिछले साल जिस फुलकिया बैहार के जगली मैदान से शाम होते ही लौटने में डर लगता था, अबकी बार उसी की यह आनन्द से खिली मूर्ति देखकर तबीअत बाग-बाग हो गई। चारो तरफ बालक-बालिकाओं की खुशी की किलकारी, कलरव, सस्ते भोंपू की पों-पों, झुनझुने की आवाज, नाचवालो के घुँघरुओ की ध्वनि—मानो बैहार-भर में एक विशाल मेला लग गया हो।

बैहार की आबादी भी बहुत बढ गई थी। रातो-रात वहाँ न जाने कितने झोपडे और छप्पर वाले घर खडे हो गए। घर बनाने में यहाँ खास कोई लागत नही लगती। कसाल, झाऊ या केंद की लकडियाँ तो जगल से मिल ही जाती है। कसाल बाँट कर रस्सी बन जाती हैं, काफी मजबूत रस्सी, और मेहनत तो लोग-बाग खुद ही कर लेते है।

तहसीलदार ने आकर कहा—"बाहर से जो लोग आकर यहाँ पैसे पैदा कर रहे है, उनसे जमीदार का लगान अद करना चाहिए। आप

बाजाव्ता दफ्तर लगाएँ, मै एक-एक करके सब को आपके सामने हाजिर करूँगा। आप जैसा भी उचित समझें, उसी हिसाब से कुछ लगान बाँध दे।

इस सिलसिले में कितने ही प्रकार के आदमी देखने का सुयोग मिला। सुबह से दस बजे तक और तीन बजे से शाम तक रोज कचहरी करता।

तहसीलदार ने बताया—"ये लोग यहाँ ज्यादा दिनो तक नही रहेगे हुजूर! फसल तैयार होने पर खरीद-बिक्री खत्म हुई नही कि ये चलते बनेंगे। इनसे लगान पहले ही वसूल कर लेना पड़ेगा।"

एक दिन मैंने एक मारवाड़ी महाजन को खलिहान में अनाज तौलते देखा। मुझे ऐसा लगा कि ये भोले रैयतों को तौल मे ठगा करते है। मैंने पटवारी-प्यादो से उनके बाटो की जाँच करने को कहा। फिर क्या था, रोज वे दो-चार महाजनों को मेरे सामने पकड कर लाने लगे। किसी के बाट गलत थे, तो किसी की तराजू मे जालसाजी थी। मैंने वैसे लोगों को इलाके से बाहर निकलवा दिया। कम-से-कम मेरे यहाँ तो गरीबो की इतनी मसक्कत की कमाई को लोग न लूटें, इसी खयाल से मैंने ऐसा किया था।

और केवल ये महाजन ही क्यो, देखा, बहुत तरह के लोग इन्हे लूट खाने के लिए घात लगाए बैठे रहते है।

नकद कारोबार तो यहाँ बहुत ही कम होता था। फेरीवालो से इन्हे कुछ लेना होता, तो ये बदले मे सरसो देते और बहुत ज्यादा सरसो दे देते, खासकर औरतें। इनकी औरतें बडी सीधी और सरल होती, उन्हे झूठ-सच बताकर एक का चार वसूल कर लेना बहुत ही आसान काम था।

मर्द लोग भी पक्के दुनियादार नही थे। वे विलायती सिगरेट खरीदते, जूता-कुरता लेते। फसल की कीमत घर आते ही उनके और औरतो के दिमाग फिर जाते। औरते रंगीन कपडो, काँच और एनामेल के बर्त्तनों की फरमाइश करती। हलवाई के यहाँ से लड्डुओ के दौने-पर-दौने जाने लगते। नाच-गीत मे ही वे न जाने कितने पैसे फूँक देते। ऊपर से रामजी और हनुमानजी की दंडवत ! उसके सिवाय जमीदार और महाजन के अमले अलग। मैंने यह देखा कि घोर जाड़े की राते जग-जग कर, बनैले सूअर

और भैसो के उत्पात से वड़े-वड़े कष्टो से बचाकर, वाघ और साँप के खतरे में अपनी जिन्दगी डाल कर साल-भर में ये जो भी कमाते, उसे इन पन्द्रह दिनो मे उड़ा देने मे इन्हे कुछ नही खलता। मजे में फूँक देते।

एक ही अच्छी वात मुझे इनमें दीखी कि ये लोग ताड़ी या शराव नही पीते थे। नशे का रिवाज भूमिहार या गगोतो में नही था। हाँ, भंग इनमे से वहुत-से लोग पीते थे। मगर भंग खरीदने की इन्हे जरूरत नही थी; लवटोलिया और फुलकिया वैहार में भंग का जंगल था, उसी के पत्ते ये लोग नोच लाते थे। कौन देखता है ?

मुनेश्वरसिंह ने एक दिन खबर दी—"लगान देने के डर से एक आदमी भागा जा रहा है। हुक्म हो, तो उसे पकड़वा मँगाएँ।"

मुझे अचरज हुआ—"दौड कर भागा जा रहा है ?"

—"घोड़े की तरह वेतहाश भागा जा रहा है हुजूर! अव तक तो वड़े कुंड को पार करके जगल के किनारे जा पहुँचा होगा।"

मैंने उस धूर्त को पकड़ लाने का आदेश दिया। कोई घंटे-भर में चार-पाँच आदमी मिलकर उसे मेरे सामने ले आए।

उस पर नजर जो पडी, तो मेरे मुँह से बोल न निकला। साठ से कम तो किसी हालत में उसकी उम्र न होगी। सारा सिर सफेद हो गया था, गाल की खाल सिकुड़ गई थी। देखकर ऐसा लग रहा था, जाने कव से उसे दाना नही नसीब हुआ। यही शायद उसे बहुत दिनों के बाद भरपेट खाने को मिला था।

पता चला, वह 'माखनचोर नटुआ' बनता था। इन्ही दिनों में उसने बहुत पैसे कमाए थे। वह ग्राट साहव के वरगद के नीचे झोंपड़े में रहता था। इधर कई दिनो से प्यादो ने लगातार तकाजे किए, क्योकि फसल तैयारी का समय बीत चला था। उसने आज ही पैसे चुकाने का वायदा किया था। दोपहर को एकाएक प्यादो को खबर मिली कि वह अपना वोरिया-बधना समेटे नौ-दो-ग्यारह हो रहा है। मुनेश्वरसिंह सुराग लेने निकला। देखा—वह तो वैहार पार कर चुका है। पूर्णियाँ की तरफ

रवाना हो गया है। इसे देखते ही उसने दौड़ लगाई। बाद में जो हुआ, वह सामने है।

मुझे प्यादों के बयान पर जरा सन्देह हुआ। सन्देह यह कि 'माखन-चोर नटुआ' के मानी तो हुए बालकृष्ण, भला यह बुड्ढा कैसे बनता होगा? फिर यह झुलफुल बुड्ढा बेतहाशा दौड़ भी कैसे रहा होगा?

मगर सबने हलफ उठाकर बताया कि बात सही है। मैंने उससे कड़ककर पूछा—"तुमने यह दगाबाजी की बात कैसे सोची? तुम्हे पता नही था कि जमींदार का लगान भी देना पड़ता है? क्या नाम है तुम्हारा?"

हवा के झोके से ताड़ का सूखा पत्ता जैसे काँपता है, भय के मारे वह वैसा ही काँप रहा था। फिर प्यादे तो एक की ग्यारह करने वाले, पकड़ लाने को कहो तो बाँध लाए। मैं समझ गया कि इस बूढ़े से उन लोगो ने भद्र और नम्र व्यवहार बिल्कुल नही किया। उसकी हालत ही यह बता रही थी।

उसने काँपते हुए अपना नाम बताया दशरथ।

—"जात? घर कहाँ है?"

—मैं भूमिहार ब्राह्मण हूँ हुजूर। घर मुंगेर जिला पड़ता है—साहब-पुर कमाल।"

—"तुम आखिर भाग क्यों रहे थे?"

—"जी नहीं हुजूर, भागूँ क्यों भला ?"

—"खैर, लगान दे दो।"

—"कुछ बचा नही हुजूर, लगान कहाँ से दूँ? नाच दिखाकर सरसों मिली थी। उसी को बेचकर खाना-खूराक चलाता रहा। हनुमानजी की किरिया।"

प्यादों ने कहा—"सरासर झूठ हुजूर, इसकी बातो में न आएँ। पैसे इसने खासे कमाए हैं और इसके पास ही में है। आज्ञा हो, तो तलाशी लें इसकी?" उसने हाथ बाँधकर, गिड़गिडा कर कहा—"हुजूर, मै खुद ही बताए देता हूँ कि मेरे पास कितने पैसे है।"

उसने कमर में से एक बटुआ निकाल कर उँड़ेल दिया और बोला—"देख ले हुजूर, कुल तेरह आने पैसे है। अपना कोई नही है, मुझे दे भी कौन ? खलिहानो मे नाच दिखा-दिखा कर जो थोड़ा-सा जोड़ लिया है, वस। अब जब तक गेहूँ नही कटते, तव तक यही संवल है। गेहूँ कटने के अभी तीन महीने हैं। कमाई से दो मुट्ठी खाने भर को मिल जाता है। प्यादे लगान के आठ आने माँग रहे थे। फिर तो मेरे पास सिर्फ पाँच ही आने रह जाते है। इन पाँच आनो पर तीन महीने कैसे कटेंगे हुजूर ?"

मैंने कहा—"हाथ मे तुम्हारे जो पोटली है, उसमे क्या है, निकालो।"

उसने पोटली खोलकर दिखाई। उसमे से निकला टीन में मुड़ा एक छोटा-सा आईना, पन्नी का मुकुट—मोरपंखीवाला, गाल रँगने का रंग, नकली मोती की माला—सारे ही सामान उसके कृष्ण बनने के थे।

वह कहने लगा—"बाँसुरी तो है ही नही हुजूर। टीन की भी एक बाँसुरी लूँ, तो आठ आने से कम की नही आती। यहाँ तो मैंने सरपत की बाँसुरी से ही काम चलाया। ये गगोते है, इनकी आँखों मे धूल झोंकना आसान है ; मगर हमारे मुगेर के लोग बड़े इल्मवाले है, बाँसुरी न रहे तो हँसेगे और पैसे न देगे।'

मैंने कहा—"खैर , लगान नही दे सकते, तो उसके बदले मे तुम नाच ही दिखा जाओ।"

बूढे को मानो मुट्ठी मे स्वर्ग मिल गया। उसने साज-सिंगार किया—मुँह मे रंग मला, माथे मे मोरपंखेवाला मुकुट पहना और फिर जव वह बारह साल के वालक-जैसी भाव-भंगिमा दिखाता हुआ नाचने और गाने लगा, तो मैं सोच न सका कि हँसू या रोऊँ।

मेरे प्यादे मुँह पर कपडे डाल कर हँसी रोक रहे थे। यह 'माखन-चोर नटुआ' का नाच उनकी निगाह मे एक जानमारू तमाशा हो गया। सामने रहे मैनेजर वाबू, उनके सामने न तो जी खोलकर हँसते बन रहा था, न हँसी का दुर्दम आवेग दवाए दब रहा था। बुरा हाल था सब का।

ऐसा अजीब नाच मैंने अपने जीवन मे नही देखा था। साठ साल का

बूढ़ा बालक की तरह कभी तो रूठ कर मुँह फुलाए जननी यशोदा से दूर हट जाता, कभी भर-पेट हँसकर चुराए हुए मक्खन को साथियो मे बाँटता; चूँकि यशोदा ने उसके हाथ बाँध दिए, इसलिए कभी आँखे पोछता हुआ सिसक-सिसक कर रोता। यह सब देख कर हँसते-हँसते उनके पेट मे बल पड़ गए। सचमुच ही देखने की चीज थी वह नाच।

बूढ़े का नाच खत्म हो गया। मैंने तालियाँ पीटी और उसकी भरपूर प्रशसा की। कहा—"दशरथ, अपनी जिन्दगी में मैंने ऐसा नाच नही देखा, बड़ा ही अच्छा नाचते हो तुम। जाओ तुम्हारा लगान माफ कर दिया गया और ये दो रुपए मेरी तरफ से लो, बख्शीश। वाह, खूब नाच दिखाया!"

दस-बारह दिन के अन्दर-अन्दर फसल की खरीद-फरोख्त खत्म हो गई। जो जहाँ से आए थे, चले गए। केवल वे जोतदार लोग ही रह गए, जिन्होंने यहाँ घर बना लिया था। जो दूकाने आई थी, उठ गई। नाचवाले, फेरीवाले कही और चले गए रोजगार की तलाश मे। जो कटाई करने वाले अब तक इन नाच-तमाशो के लुत्फ उठाने को ही रुक गए थे, उन्होने भी कूच करने की तैयारी कर ली।

[दो]

एक दिन टहल कर लौटते समय मै नकछेदी तिवारी के झोपडे में उससे मिलने गया।

साँझ हो चली थी। दूर-दूर तक फैली हुई फुलकिया बैहार की हरी वन-रेखा में सूरज का लाल गोला डूब रहा था। यहाँ का सूर्यास्त, खास तौर से जाडे के मौसम मे ऐसा सुन्दर और अपूर्व होता कि बहुत बार मै महालिखारूप के पहाड़ पर जाकर इस अद्भुत दृश्य को देखने की प्रतीक्षा में बैठा रहता।

नकछेदी तुरन्त खडा हो गया और कपाल तक हाथ ले जाकर मुझे सलाम करके बोला—"अरी मची, बाबू साहब के बैठने के लिए कुछ बिछा दे।"

नकछेदी के यहाँ एक प्रौढ़ा स्त्री थी, वह उसकी स्त्री होगी, ऐसा अनुमान कर लेना स्वाभाविक था ; मगर वह हमेशा बाहर के ही काम-काजो मे जुटी रहती। लकड़ी काट लाना, भीमदास टोले के कुएँ से पानी भर लाना—यही सब काम थे उसके। मची उस लडकी का नाम था, जिसने उस दिन मुझे जगली हाथी का किस्सा सुनाया था। उसने मेरे लिए कसाल की बुनी एक चटाई लाकर डाल दी। और गर्दन हिला-हिला कर अपनी दक्खिनी बिहार की 'छिकाछिकी' भाषा के सुन्दर लहजे मे बोली—"बैहार का मेला कैसा लगा बाबूजी? मैंने कहा था कि तरह-तरह के नाच-तमाशे आएँगे, तरह-तरह की चीजे आएँगी, देख लिया न आपने? बहुत दिनो के बाद आए आप, बैठिए। हम तो अब जाने ही वाले है यहाँ से।"

मै झोपडे के सामने अधसूखी घास पर चटाई खीच कर बैठा, जिससे ठीक सामने से सूर्यास्त को देख सकूँ। चारो तरफ के जगल पर एक हलकी रगीन आभा पड रही थी—सारे बैहार मे फैली थी एक अवर्णनीय शांति, नीरवता।

मची को उत्तर देने मे शायद जरा देर हो गई मुझे। न जाने उसने फिर मुझसे क्या पूछा। उसकी 'छिकाछिकी' पूरी तरह समझ मे नही आती थी, सो मैंने एक दूसरे प्रश्न से उसे दबाने की कोशिश करते हुए कहा— "तुम लोग कल ही जा रहे हो?"

—"जी हाँ।"

—"कहाँ?"

—"पूर्णियाॅ-किसनगंज।"

वह फिर बोली—"नाच-तमाशा कैसा लगा आपको? अब की बार तो खासे अच्छे-अच्छे गाने वाले आए थे। एक दिन झल्लू टोले के उस बड़ी बकाईन के नीचे बैठकर एक आदमी ने मुँह से ही ढोलक बजाई थी। सुनी थी आपने? बडी बेहतरीन बजाई थी।"

मैंने गौर किया—मची को नाच-तमाशे मे महज बच्चों-जैसा मजा

आता ह। उसने खुशी और उत्साह के मारे जो-जो देखा था, सब सुनाना शुरू कर दिया।

नकछेदी बोला—"रहने भी दे अपना पचडा, बाबूजी कलकत्ता रहते है, तुझसे बहुत-बहुत ज्यादा देखा है इन्होने। इसे ये नाच-तमाशे बहुत पसन्द है बाबूजी, इसी के लिए तो हम लोग यहाँ अब तक रुक गए थे। इसने कहा—'यह सब कुछ देख लेगे, फिर चलेंगे।' निहायत बचपना है इसमे अब भी।"

आज तक मैने पूछा नही था कि मची नकछेदी की कौन होती है, सोचता था, लड़की ही होगी। अभी जो उसने कहा, तो फिर कोई सन्देह ही नही रह गया।

मैंने पूछा—"तुमने अपनी बेटी को ब्याहा कहाँ है?" नकछेदी ताज्जुब से बोला—"बेटी! मेरे बेटी कहाँ हुजूर?"

—"और यह मची? मची तुम्हारी बेटी नही है?"

मेरी बात पर सबसे पहले मंची खिलखिला कर हँस पड़ी। नकछेदी की प्रौढा स्त्री भी मुँह मे अँचरा डाले झोपडे के अन्दर चली गई।

नकछेदी अपमानित-से स्वर मे बोला—बेटी क्या हुजूर? यह तो मेरी दूसरी बीबी है!"

मैंने कहा—"ओह!"

फिर कुछ देर सभी चुप रहे। मै तो ऐसा अप्रतिभ हो गया कि क्या कहूँ, कोई बात ढूँढे न मिलने लगी।

मची ने पूछा—"आग जला दूँ, जाडा बहुत है।"

जाडा सचमुच ही ज्यादा था। चक्का अस्त होते-होते जैसे हिमालय टूट पडता था। पूरब के आकाश का निचला भाग सूर्यास्त की आभा से रँग गया था, ऊपर घना नील।

झोपडे से जरा दूर पर कसाल की झाड़ी थी, मंची ने उसमे आग लगा दी। झाडी धाँय-धाँय करके जल उठी। हम लोग उसी जलती हुई झाड़ी के पास जा बैठे।

नकछेदी ने कहा—"अभी निहायत बच्ची है हुजूर, चीजें खरीदने का झोंक तो बेहद है इसे। यही समझिए कि मजूरी की कोई आठ-दस मन सरसों मिली थी इस बार। उसमें से तीन मन तो इसने शौक की चीजें खरीदने मे ही खत्म कर दी। मैंने कहा—'इतनी मसक्कत की कमाई तू इन चीजो मे क्यो बर्बाद करती है?' औरत की जात, सुनती नही। रो पडती है, आँसू बहाने लगती है। लाचार कह देता हूँ—'लो बाबा, लो'।"

मैंने मन-ही-मन सोचा, जवान बीबी के बूढे पति के लिए इसके सिवाय दूसरा चारा भी क्या है?

मंची ने कहा—"क्यों, मैंने तो कह दिया है कि गेहूँ की कटाई के समय मेले में मै कुछ भी न लूँगी। उम्दा चीजे कुछ सस्ती मिल गईं—"

नकछेदी ने नाराज होकर कहा—"सस्ती मिली? काइयाँ दूकानदार और फेरीवालो ने बेवकूफ औरत समझ कर ठग लिया है तुझे—सस्ती मिल गई है? पाँच सेर सरसो मे एक कघी दी है, बाबूजी। पिछले साल तिरासी रतनगज के खलिहान मे—"

मची ने कहा—"खैर, मै चीजें ही आपके सामने ले आती हूँ बाबूजी, आप ही बताएँ, सस्ती मिली है या नही—"

और वह लपक कर झोपडे मे गई और कसाल की एक बन्द पिटारी लेकर बाहर आई। उसमें से एक-एक चीज निकाल कर मेरे सामने करीने से रखने लगी।

—"यह रही कंघी। कितनी बडी है! ऐसी कंघी क्या पाँच सेर सरसो से कम में भी मिल सकती है! जरा रंग तो देखिए, कितना उमदा है इसका! मजे की चीज है न बाबूजी! यह साबुन है, कितनी बेहतरीन खुशबू है इसमे! इसकी भी पाँच सेर सरसो ली थी। आप ही कहे, सस्ती है या नही?"

सस्ती कहाँ थी चीजें? ऐसा रद्दी साबुन, कलकत्ता में एक आने से ज्यादा नही लगेगा एक टिकिया का और पाँच सेर सरसो की कीमत सस्ती

भी हो, तो साढ़े सात आने से कम नही। असल मे ये गँवई औरते चीजों की कीमत तो जानती नही, जो चाहे, इन्हे आसानी से ठग सकता है।

मंची ने और भी बहुत-सी चीजें दिखलाई, खुशी से कभी यह, तो कभी वह, दिखाने लगी। जूडे की कीले, नकली पत्थर की अँगूठी, चीनी मिट्टी के खिलौने, एनामेल की तश्तरी, लाल फीते—ऐसी ही चीजें। औरतो की प्रिय वस्तुओ की सूची सभी जगह , सभी समाज मे प्राय एक ही-सी होती है। गँवई मंची और उसकी पढ़ी-लिखी बहनो में ज्यादा फर्क नही। चीजों के सचय और उन पर अधिकार करने की प्रवृत्ति दोनो की ही प्रकृति-प्रदत्त है। बूढा नकछेदी गुस्सा भी हो तो क्या हुआ ?

मगर मुझे इसकी थोडे ही खबर थी कि दिखाने लायक जो सबसे बेहतरीन चीज थी, उसे आखिर मे दिखाने के लिए मची ने दबा रक्खा था !

अब उसने उसी चीज को नाज-भरे आनन्द आग्रह के साथ मेरे सामने रख दिया—वह थी नीले-पीले हिलाज की एक माला।

उसके चेहरे पर खुशी और गर्व की देखने लायक हँसी निखर आई। अपनी पढी-लिखी दूसरी बहनों की तरह उसने मन के भावो को छिपाना तो सीखा नही था, सो इन सारी मामूली चीजो के अधिकारजनित उच्छ्वसित आनन्द में एक निर्मल और बनावट-विहीन नारी-आत्मा झाँकने लगी। हमारे सभ्य समाज मे नारी-मन की ऐसी स्वच्छ अभिव्यक्ति देखने का सुयोग शायद ही मिलता हो।

—"अच्छा बताइए तो, ये सब चीजें कैसी है ?"

—"निहायत अच्छी !"

—"क्या कीमत हो सकती है इसकी ? आप लोग कलकत्ता मे पहनते तो होगे इसे ?"

कलकत्ता में इसके व्यवहार की हमे जरूरत नही पड़ती, कोई नही पहनता, फिर भी मुझे लगा, ज्यादा-से-ज्यादा भी होगा, तो इसका दाम छै आने से हर्गिज अधिक न होगा। मैंने पूछा—"कितना लिया उसने, सो बताओ।"

—"सत्रह सेर सरसों। इसमें वाजी मेरी रही कि नही?"

वह बेतरह ठगी गई है, अब यह बताने से लाभ क्या था? ऐसा ही होता है। नाहक ही नकछेदी की झिडकियाँ खिलाकर उसके मन की इस अनोखी खुशी को बर्बाद करने की मुझे क्या गरज पड़ी थी।

दरअसल यह सब कुछ मेरी ही अनभिज्ञता की बदौलत संभव हो सका है। मुझे चाहिए था कि फेरीवालों के दर-दाम का खास खयाल रक्खूँ। लेकिन मै था नया, यहाँ की इन बातो की मुझे जानकारी भी क्या थी? मुझे तो इतना भी मालूम नही था कि फसल तैयार होते समय ऐसा मेला लगता है। आइंदा ऐसी धाँधली न हो, इसका प्रबन्ध करने का मैने निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन सबेरे नकछेदी अपनी दोनो स्त्रियो और बाल-बच्चों के साथ यहाँ से चला गया। जाने से पहले लगान चुकाने के लिए वह मेरे झोंपडे मे आया था, साथ मंची भी आई थी। मैंने देखा--मंची के गले में वही माला है। उसने मुस्कुराकर कहा--"भादो में मकई काटने को फिर आऊँगी बाबूजी। आप रहेगे तो? हम जगली बहेडे का अचार डाला करते है—आपके लिए मै लेती आऊँगी!"

मंची मुझे अच्छी लगी थी। उसके चले जाने से मै दुखी हुआ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

[एक]

अबकी बार मुझे एक अजीब जानकारी प्राप्त हुई।

खबर मिली कि मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट से दक्खिन मे पन्द्रह-बीस मील पर सखुए और बीडी के पत्ते का बडा-सा जंगल कलक्टरी से नीलाम किया जायगा। मैंने अपने हेड आफिस को इसकी सूचना दी। तार द्वारा आदेश मिला, जैसे भी हो, उस जगल को नीलामी मे बड़ी-से-बडी बोली बोल कर ले लो।

लेने के पहले जगल को एक बार अपनी आँखो से देखना जरूरी था। क्या है, नहीं है—यह जाने बिना बोली बोलना मुझे मंजूर नही था। नीलाम की तारीख भी समीप थी, सो तार पाने के दूसरे ही दिन मैं वहाँ से चल पड़ा।

मेरे कुली वगैरह मेरा सामान लेकर पहले ही चल पडे थे। मोहनपुरा की हद पर कारो नदी पार करते समय उनसे भेंट हो गई। साथ मे बनवारी लाल पटवारी था।

पतली-सी पहाड़ी नदी। घुटने-भर पानी पत्थरों पर से झिर-झिर कर बह रहा था। हम दोनो घोडे पर से उतर पडे। पत्थरो पर घोड़े के फिसलने का खतरा था। दोनो किनारो पर बालू के ऊँचे कगारे थे। उन पर भी घोड़ो से चढ़ते नही बनता था—घुटने तक वे बालू मे डूब जाते। जब तक मैं उस पार की सख्त समतल जमीन पर पहुँचा, दिन के ग्यारह बज रहे थे। बनवारी पटवारी बोला—"रसोई यही बन जाती, तो अच्छा था हुजूर, आगे पता नही, पानी मिलेगा भी कि नही।"

नदी के दोनो किनारो पर जनहीन जगल था। यही गनीमत थी कि जगल बड़ा नही था, छोटे-छोटे केंद, पलास और सखुए के पेड़ चट्टानों की भरमार, आबादी का कही नामोनिशान भी नही।

भोजन का काम जल्दी ही खत्म कर लिया गया, लेकिन फिर भी वहाँ से रवाना होने मे मुझे एक वज गया।

वेला खत्म होने को आई, मगर जगल का फिर भी खात्मा नही हो रहा था। मेरे जी मे आया—'और आगे जाने की वेकार कोशिश न करके किसी वडे पेड के नीचे पडाव डाल देना ही वेहतर है।' वीच मे दो जंगली वस्तियाँ मिली जरूर थी, एक कुल पाल और दूसरी वुरुडि ; लेकिन उस समय दिन के लगभग तीन वजे थे। अगर यह मालूम होता कि शाम तक इस जगल का अन्त नही होने का, तो रात वही विताने की सोची जाती।

शाम होते-होते जगल और भी घना मिलने लगा। पहले जरा छिछला-छिछला-सा था, अव ऐसा मालूम होने लगा, मानो चारो तरफ से वडे-वड़े पेडों की भीड़ ने पतली पगडंडी को दवोच दिया हो। अभी-अभी जहाँ मै खडा हूँ, वहाँ चारो तरफ ऊँचे-ऊँचे पेड़ खडे है, आसमान नही दिखाई पडता, रात का अँधेरा अभी से ही घनीभूत हो उठा।

कही-कही जगल की शोभा देखने ही योग्य थी! जानें कौन-से सफेद फूलो के गुच्छो से जंगल प्रकाशित हो उठा था। नीले आसमान के नीचे छाया-सघन अपराह्न मे ये फूल वन के माथे पर निखर आए थे, मनुष्य की नजरो की ओट मे सभ्य जगत् से दूर। पता नहीं, यह इतना सौन्दर्य किसके लिए विछाया गया था! वनवारी ने वताया—'यह जंगली तेउड़ी के फूल है—इसी समय खिलते है।' जिधर देखता, उधर ही पेडो और झाडियो के ऊपर नीलापन लिये तेउडी के श्वेत फूलो ने अपनी शोभा विखेर रखी थी, जैसे किसी ने धुनी हुई नीलाभ रुई पेडो पर विखेर दी हो। पता नही घोडे को रोक कर वहाँ कितनी देर तक रुका रहा गया। कही-कही की शोभा ऐसी अद्भुत थी कि देख कर मन अजीव-सा हो उठता था। लगता, जाने कहाँ आ गया हूँ, कितनी दूर, सभ्य संसार से वहुत दूर किसी जन-विहीन अजाने जगत् की उदास और अनुपम वन्य-सुषमा के वीच, जिससे मनुष्य का कोई सम्वन्ध ही नही, और न ही मनुष्यो को वहाँ प्रवेश करने का अधिकार है, जो सिर्फ जीव-जन्तु और पेड-पौधो की ही दुनिया है।

बार-बार अवाक् होकर जंगल के दृश्य देखते रहने के कारण शायद और भी देर हो गई। वनवारी मेरे मातहत काम करता था, लिहाजा वह मुझे कुछ कह तो सकता नही था, लेकिन वह भी जरूर अपने मन मे यही सोच रहा होगा कि 'इन बंगाली बाबू के दिमाग का कोई पुर्जा जरूर खराब है। इनसे जमीदारी का काम-धाम भला कब तक चल सकेगा ?' आखिर हम एक बड़े-से आसन पेड़ के नीचे ठहर गए। सब मिलाकर हम, आठ दस आदमी थे। वनवारी ने कहा—"काफी आग जला लें और सब पास-पास रहे। बिखर कर कोई न रहे, बहुत तरह का खतरा है।"

मैं कैंप-चेयर डाल कर बैठा। ऊपर दूर तक फैला हुआ खुला आकाश, अभी तक अँधेरा तरा नही था ; दूर, पास तमाम जंगल में तेउडी के सफेद फूलों का मेला, ढेरो फूल, अनगिनती ! मेरी कुर्सी के पास ही सुनहले रंग की अवसूखी और लम्बी-लम्बी घास थी। धूप से तपी मिट्टी की सोधी गंध, सूखी घास की गध, किसी अनचीन्हे वनफूल की गध—जैसे दुर्गा-प्रतिमा के राँगे के साजों की बू हो ! इस उन्मुक्त और वन्य जीवन ने मेरे मन मे मुक्ति और आनन्द की अनुभूति भर दी—वह अनुभूति, जो ऐसे विराट् सूने प्रातर और मानवहीन स्थान के सिवाय और कही नही आ सकती। अपना अनुभव न हो, तो किसी को मुक्त जीवन का वह उल्लास समझा सकना कठिन है।

इतने में एक कुली ने आकर पटवारी से कहा कि वह सूखे डाल-पत्ते बीनने के लिए जरा दूर निकल गया था, वहाँ उसने कोई चीज देखी। यह जगह अच्छी नही, भूत या परियो का अड्डा मालूम होता है ; यदि यहाँ पडाव न ही डाला जाता तो अच्छा था।

पटवारी ने कहा—"हुजूर, जरा चलकर देख ही आएँ कि क्या है।"

जंगल मे थोडी दूर तक चलकर कुली ने दूर से वह जगह दिखाकर कहा—"हुजूर वहाँ जाकर देखें, मैं तो और आगे नही जा सकता।"

कँटीली लताओं की झाड़ी मे एक स्तम्भ पर भयानक-सा चेहरा खुदा था। साँझ को उसे देखकर डर जाना स्वाभाविक ही था।

वह चेहरा हाथ का बना हुआ बेशक था, मगर मैं समझ नहीं सका कि इस घोर जगल में यह स्तम्भ आया कहाँ से। यह भी नही समझ सका कि यह है कितना पुराना।

आखिर ज्यो-त्यो करके रात बीती। सुबह के नौ बजे तक हम अपनी जगह पहुँच गए।

वहाँ जगल के मालिक के एक कर्मचारी से भेट हुई। उसने मुझे जगल दिखाना शुरू किया। अचानक एक सूखे नाले के उस पार पत्थर के खभे की चोटी झाँक उठी, ठीक वैसा ही स्तम्भ, जैसा कल शाम को देखा था। इसमे भी वैसी ही एक भयानक आकृति खुदी हुई थी।

वनवारी मेरे साथ था। उसे भी मैंने दिखाया। कर्मचारी उसी इलाके का रहने वाला था। उसने बताया—इस इलाके मे ऐसे और भी चार-पाच स्तम्भ है। इधर पहले असभ्य जगली जातियो का निवास था। यहाँ राज्य भी इन्ही का था। ये स्तम्भ उन्ही के हाथों के बने है। ये हैं सीमा-निर्देशक खंभे।

मैंने पूछा—"तुमने यह कैसे जाना कि ये खभे है?"

वह बोला—"सदा से यही सुनता आ रहा हूँ वावूजी। इसके सिवाय उस राजा के वशधर अभी तक जीवित है।"

मुझे बडा कौतूहल हुआ। पूछा—"कहाँ हैं?"

उसने उँगली से दिखाते हुए कहा—"इस जगल की उत्तरी सीमा पर एक छोटी-सी बस्ती है, वही। हमने तो सुना है कि उत्तर मे हिमालय, दक्खिन मे छोटानागपुर की सीमा, पूरव में कोसी नदी और पच्छिम मे मुगेर—इस चौहद्दी के अन्दर के सभी पहाडी जंगलों के राजा इन्हीं के पुरखे थे।"

स्कूल मास्टर गनौरी तिवारी ने भी मुझसे एक वार यही कहा था कि यहाँ के आदिम जातीय राजा के वशधर अभी भी जीवित है। इधर की पहाडी जातियो के सभी लोग अभी भी उन्हें राजा मानते है। मुझे वह वात याद आ गई। जंगल वाले कर्मचारी का नाम तो था

बुद्धूसिह ; किन्तु वह बहुत होशियार था। बहुत दिनो से यहाँ काम कर रहा था ; वह यहाँ के जंगल-पहाडों की अच्छी जानकारी रखता था।

बुद्धूसिह ने बताया—"मुगलो के जमाने मे इन लोगो ने उनसे लडाइयाँ लडी थीं। इधर से जब उनकी सेना बगाल को जाती थी, तब ये लोग तीर-कमानो से उन्हे रोका करते थे। आखिरकार जब राजमहल मे मुगल सूबेदार रहने लगे, तब इन लोगो की रियासत चली गई। बडे बहादुर थे ये। अब तो कुछ रहा नही। रहा-सहा भी जो था, सो सन् १८६२ के संथाल-विद्रोह में जाता रहा। उस विद्रोह के नेता अभी जीवित है। वही वर्तमान राजा हैं। नाम है उनका दोबरू पन्ना बीरवर्दी। बहुत बूढे हो गए है और बडे ही गरीब है। इतना होने पर भी यहाँ की आदिम जातियाँ उन्हे राजा का ही सम्मान देती है। राज-पाट न होते हुए भी सब उन्हें राजा ही मानते है। "

राजा से मिलने की मुझे बडी उत्कंठा हुई।

राजा के दर्शनो के लिए योग्य भेट की जरूरत थी। जिसका जो प्राप्य सम्मान है, वह न दो तो कर्त्तव्य की हानि होती है।

एक बजते-बजते पास के गाँव से मैंने कुछ फल-मूल और दो बडे-बडे मुर्गे खरीद लिये। यहाँ का जो काम-काज था, उसे समाप्त किया और लगभग दो बजे मैंने बुद्धूसिह से कहा—"चलो, जरा राजा से मिल आएँ।"

बुद्धूसिह मे मुझे वैसा उत्साह नही दिखा। वह बोला—"आप जायँगे वहाँ? आपसे मिलने लायक नही है वह। असभ्य पहाडियो के राजा है सही, तो क्या आपसे बराबरी की बात करने योग्य हो सकते है बाबूजी? कोई खास बात नही।"

मैंने उसकी अनसुनी कर दी। मै और बनवारीलाल राजधानी की तरफ चले। उसे भी अपने साथ ले लिया।

राजधानी एक निहायत मामूली बस्ती, बीस-पच्चीस घर के लोगो की आबादी थी वह।

मिट्टी के छोटे-छोटे घर, खपड़ापोश। खूब साफ-सुथरे—लिपे-पुते। दीवारो पर साँप, कमल, लताएँ बनी। छोटे-छोटे बच्चे खेल-कूद में मशगूल थे, औरते घर के काम-धंधे करती थी। युवतियों के बदन की खूबसूरत बनावट, अच्छी तनदुरुस्ती, प्रत्येक के चेहरे पर कितना सुन्दर लावण्य! सब हम लोगो की तरफ अवाक् देखते रहे।

एक स्त्री से बनवारीलाल ने पूछा—"राजा छै रे?"

उसने जवाब दिया—"मैंने देखा तो नही, मगर घर ही होगे, जायँगे कहाँ?"

[दो]

बस्ती में जहाँ हम सब जाकर रुके, वही राजप्रासाद है, ऐसा बुद्धूसिह के भाव से जाहिर हुआ। गाँव के दूसरे घरों से इसमे इतना ही फर्क था कि इसके चारों तरफ पत्थर की चहारदीवारी थी। गाँव के पीछे ही पहाड़ी थी, पत्थर वही से लाए गए थे। राजभवन में बच्चे बहुत थे, कई तो बहुत ही छोटे। उनके गले मे काँच के दानो की और फलो के लाल-नील बीजो की मालाएँ थी। दो-एक बच्चे देखने में बड़े ही खूबसूरत लगे। बुद्धूसिह ने पुकारा, तो सोलह-सत्रह साल की एक लड़की दौड़कर बाहर निकली और हमे देखकर अवाक् रह गई। उसकी निगाहो से लगा कि वह डर भी गई है।

बुद्धूसिह ने पूछा—"राजा कहाँ है?"

बुद्धूसिह से मैंने उस लड़की के बारे में पूछा। उसने बताया—"यह राजा के पोते की लड़की है।"

यानी राजा ने बहुत दिनो तक स्वयं जीवित रहकर बेशक बहुतेरे युवक और प्रौढो को गद्दी के हक से वंचित किया है!

मानें चाहे न माने, मैंने अपने मन में सोचा कि यह जो लड़की हमें राह दिखाती चल रही है, वह वास्तव में राजकुमारी है—इसके

पुरखों ने वहुत दिनो तक इस जंगली इलाके पर शासन किया है—
उसी शासक-वंश की यह लड़की है।

मैंने लडकी का नाम पूछने को कहा।

वुद्धूसिंह ने वताया—"उसका नाम है भानुमती।"

—"वाह, नाम तो वडा सुन्दर है—भानुमती! राजकुमारी भानु-
मती!"

भानुमती की तन्दुरुस्ती अच्छी थी, गठा हुआ शरीर। लावण्यभरा मुखमंडल। हाँ, जो कपडे वह पहने थी, वह सभ्य समाज के मानदंड के अनुरूप नही थे। सिर के वाल रूखे। गले मे काँच और कौड़ी के दाने। दूर ही से एक वडी वकाईन की ओर इशारा करते हुए उसने कहा—"वहाँ जाओ, वही वावा गाय चरा रहे है।"

'गाय चरा रहे है!' मै तो चौक पड़ा—'इलाके भर के राजा, संथाल विद्रोह के नेता दोवरू पन्ना वीरवर्दी, और गाय चरा रहे है? यह कैसी वात!'

कुछ पूछने के पहले ही भानुमती वहाँ से जा चुकी थी। हम लोग आगे वढे। देखा—वकाईन के नीचे वैठकर एक वूढा आदमी सखुए के पत्ते में तम्वाखू भरकर पी रहा है।

वुद्धूसिंह वोला—"सलाम राजा साहव!"

ऐसा लगा, दोवरू पन्ना कानो से सुन तो लेते है; पर आँखों से भली तरह देख नही पाते।

वोले—"कौन, वुद्धूसिंह? साथ मे और कौन है?"

वह वोला—"एक वगाली वावू है, आपसे मिलने के लिए आए है। वे कुछ भेंट लाए है, आपको वह भेट कबूल करनी पड़ेगी।"

मैंने वूढे के सामने खुद ले जाकर मुर्गे और फल रक्खे और कहा—"आप इस इलाके के राजा है। मै आपके दर्शनो के लिए वडी दूर से आया हूँ।"

वूढे की लम्वी-चौड़ी वनावट से ही मुझे लगा—जवानी मे दोवरू

पन्ना देखने ही लायक जवान रहे होगे। चेहरे पर बुद्धि की छाप साफ झलकती थी। वे बहुत खुश हुए। मेरी तरफ गौर से देखकर उन्होंने पूछा—"आपका घर ?"

मैने कहा—"कलकत्ता !"

—"ओहहो, बडी दूर है। सुना है, कलकत्ता बहुत बडी जगह है।"

—"आप वहाँ कभी नही गए क्या ?"

—"नही-नही। हम शहर कहाँ जाते। हमारे लिए यह जगल ही ठीक है। बैठिए। भान्मती कहाँ गई, अरी ओ भान्मती !"

वह दौडी-दौडी आई। पूछा—"क्या है बाबा ?"

—"देखो, ये बगाली बाबू और इनके साथ के आदमी आज यही रहेगे, खाएँगे-पिएँगे।"

मैने प्रतिवाद किया—"जी नही, हम तो आपसे भेट करने आए थे, तुरन्त चले जाएँगे। रहने के लिए आप....."

उन्होंने कहा—"यह हर्गिज नही हो सकता। भान्मती, यहाँ से ये चीजे उठा ले जा !"

मैने इशारा किया। बनवारीलाल भान्मती के पीछे-पीछे गया और सब चीजे पहुँचा आया। मै बूढे की बात को टाल नही सका, उन्हे देख कर ही मेरा हृदय भर आया था। सथाल-विद्रोह के नेता, पुराने अभिजात-वंश के वीर दोबरू पन्ना (आदिम जाति के ही हुए तो क्या हुआ) मुझे रहने का आग्रह कर रहे है, उस आग्रह को आदेश ही समझना चाहिए।

मै देखते ही समझ गया था कि राजा साहब है बड़े ही गरीब। उन्हें गाय चराते हुए देखकर पहले मै चकित तो हो गया; पर बाद में खयाल आया कि भारत के इतिहास मे इनसे भी बहुत बडे-बड़े राजा परिस्थिति-वश इससे भी हीन वृत्ति करने को मजबूर हुए थे।

उन्होंने अपने हाथों से सरपुए के पत्ते का चुरुट बनाकर मुझे दिया। दियासलाई नही थी। पास ही आग जल रही थी। उसी मे से एक पत्ता सुलगा कर उन्होंने मेरी तरफ बढाया।

मैंने कहा—"आप भारत के प्राचीन राजवंश के हैं, आपके दर्शन से पुण्य होता है।"

दोवरू पन्ना बोले—"अब क्या रहा ? हमारा वंश सूर्यवंश है। यह पहाड-जंगल, सारी पृथ्वी अपना ही राज्य थी। जवानी मे मैंने कंपनी से लडाई लड़ी थी। अब अपनी उम्र काफी हो गई। लड़ाई में मै हार गया। फिर कुछ रह नही गया।

ऐसा नहीं मालूम हुआ कि इस जंगली भूभाग के सिवा वाहरी किसी पृथ्वी की उन्हे खबर है। उनकी किमी बात का मै जवाव देने जा रहा था कि वहाँ एक युवक आकर खड़ा हुआ।

दोवरू ने कहा—"यह मेरा छोटा पोता है, जगरू पन्ना। इसका बाप अभी यहाँ नही है, लछमीपुर की रानी साहिवा से भेंट करने गया है। अरे, जगरू, वाबू साहव के लिए खाने का इन्तजाम कर।"

नए सखुए के तने-सा जवान का बदन, उभरी हुई पेशियाँ। उसने पूछा—"आप साही का माँस खाते है ? "

फिर अपने पितामह की तरफ ताक कर कहा—"कल पहाड़ के उस पार फन्दा डाला था, दो साही फँसे है।"

सुना, राजा के तीन बेटे, उनके आठ-दस वच्चे-बच्चियाँ है। इतने बड़े राज-परिवार के सभी लोग एक साथ इसी गाँव में रहते है। शिकार करना और गाय चराना, यही इनकी आजीविका है। इसके सिवाय आपसी झगडे के फैसले के लिए जो पहाडी लोग आते, वे कुछ-न-कुछ भेट अवश्य देते—दूध, मुरगी, बकरी, चिड़िया या फल-मूल।

मैंने पूछा—"खेती-बारी भी है कि नही ?"

उन्होंने गर्व के साथ कहा—"खेती अपने वंश का कार्य नही। अपने यहाँ शिकार की इज्जत सबसे ज्यादा है, वह भी कभी भाले से शिकार करने का गर्व सबसे बड़ा समझा जाता था। तीर-कमान से किया हुआ शिकार देवता के काम नही आता। वह वीर का काम भी नही। लेकिन अब सभी चलने लगा है। मेरा बड़ा लड़का मुंगेर से एक बन्दूक

खरीद लाया है। मैंने उसे कभी छुआ तक नही। भाले का शिकार ही यहाँ शिकार है।"

भानुमती मिट्टी का वर्त्तन लेकर फिर आई।

राजा साहव वोले—"लीजिए, तेल लगा लीजिए। पास ही एक झरना है, सुन्दर झरना, उसमें नहा लीजिए।"

हम नहा कर लौटे, तो राजा ने हमें राजभवन के एक कमरे में ले जाने को कहा।

भानुमती चावल और आलू ले आई। जगरू ने साही का माँस वना कर सखुए के पत्ते पर दिया। भानुमती दूध और शहद ले आई। मेरे साथ रसोइया नही था। वनवारी को आलू छीलने को कहा और मैं चूल्हा जलाने की चेष्टा मे गया; लेकिन मोटी-मोटी लकड़ियो से चूल्हा सुलगाना वडा कष्टदायक था। कई वार चेष्टा की; पर मुझसे न सुलग सका। इतने मे भानुमती ने चिड़िया का एक घोसला लाकर चूल्हे में डाल दिया और आग जल उठी। फिर वह दूर हट कर खडी हो गई। भानुमती है तो राजकन्या, मगर खासे अच्छे स्वभाव की। वड़ा ही सहज और सरल मर्यादा-ज्ञान।

स्वयं राजा दोवरू पन्ना शुरू से आखिर तक रसोई घर के दरवाजे पर वैठे रहे, जिससे आतिथ्य में किसी वात की त्रुटि न हो। भोजनादि कर चुकने के वाद वे वोले—"मेरे पास उतने कमरे तो हैं नहीं, आप लोगो को वडी तकलीफ हुई। इसी जंगल मे पहाड़ पर अपने खानदान का वहुत वडा मकान था, आज भी उसके चिह्न मौजूद है। अपने वाप-दादो के मुँह से मैंने सुना है, पुराने समय मे हमारे पुरखे वहाँ रहते थे। अव क्या वे दिन रह गए है! हमारे पुरखों द्वारा प्रतिष्ठित देवता आज भी वहाँ हैं।"

मुझे वड़ा कौतूहल हुआ। कहा—"अगर हम उसे एक वार देख आएँ, तो आपको कोई एतराज तो न होगा?"

—"एतराज किस वात का ? हाँ, असल मे वहाँ अव कुछ खास वात तो है नही। चलिए, मैं भी चलता हूँ। जगरू, हमारे साथ चलो।"

मैंने आपत्ति की—वानवे साल के बूढे को पहाड पर चढाने को जी नही चाहा, मगर मेरी आपत्ति टिक नही सकी। हँस कर उन्होंने कहा—"पहाड पर तो अक्सर मुझे चढना ही पडता है। हमारे वंश की समाधियाँ वही है। प्रत्येक पूर्णिमा को मुझे वहाँ जाना पडता है। चलिए, आपको वह जगह भी दिखाऊँगा।"

उत्तर पूरव के कोने से यह छोटी-सी पहाडी—यहाँ उसे धनझरी कहते है—एक जगह अचानक पूरव की तरफ घूम गई है, जिससे एक कोना-सा वन गया है। उसके नीचे है उपत्यका, इस उपत्यका मे हरियाली की तरग-सा उतर आया है जगल, जैसे पहाड़ पर से झरना उतरता हो। जगल बहुत घना नही, छिछला-सा है। जंगल के माथे पर दूर की क्षितिज-रेखा से लगी धुँधली शैलमाला, शायद गया या रामगढ की तरफ की हो—जहाँ तक नजर जा रही थी, जंगल-ही-जंगल था, कहीं वडे-वड़े पेड़ों के ऊँचे जंगल और कही सखुए और पलाश के नए पौधो के कम ऊँचे। जगल की पतली पगडंडी पकड कर हम पहाड पर पहुँचे।

एक जगह पत्थर की एक चट्टान, ढेकी के आकार की, गड़ी थी। उसके पास ही एक बहुत बड़े गढे का मुँह था, वैसा ही गढ़ा जैसा कि कुम्हारों के वर्तन पकाने का आवा होता है, या लोमडी जमीन में वनाती है। गढ़े के मुँह पर सखुए के पौधे उगे थे।

राजा दोवरू बोले—"इस गढ़े के अन्दर जाना होगा। डरने की वात नहीं, मेरे साथ चलिए। जगरू, तुम आगे-आगे चलो।"

जान हथेली पर लेकर मैं अन्दर धँसा। बाघ-भालू का खतरा हो सकता है। यदि वह न हुए तो साँप के होने मे तो कोई शक ही नही।

गढ़े मे कुछ दूर तक तो झुक कर चलना पड़ता है, तव खडे होने की गुंजाइश मिलती है। पहले तो भीतर वड़ा अँधेरा लगा; पर कुछ

देग में अभ्यस्त हो जाने पर कोई असुविधा न हुई। यह एक गुफा थी। होगी कोई बीस-बाईस हाथ लम्बी और पन्द्रह हाथ चौडी। उत्तर की दीवार में लोमड़ी के गढ़े-सा एक दूसरा गढ़ा भी था। उससे कुछ दूर आगे जाने पर शायद ऐसी ही दूसरी गुफा है,.मगर उसके अन्दर जाने की इच्छा मैंने नही जाहिर की। गुफा की छत ज्यादा ऊँची न थी। खड़ा होकर कोई भी व्यक्ति हाथ से उसे छू सकता। अजीब बू आ रही थी अन्दर। चमगादडो का अड्डा। सुना है यहाँ गीदड़ और वनविलाव भी रहते हैं। वनवारी ने मुझसे चुपके से कहा—"हुजूर, यहाँ और ज्यादा न ठहरे, चलें वाहर।"

दोवरू पन्ना के पुरखो का किला-भवन यही है!

हकीकत मे यह एक प्राकृतिक गुफा थी—पुराने जमाने मे पहाड के ऊपर की तरफ मुँह वाली गुफा में छिप जाने से दुश्मनों से सहज ही जान बच सकती थी।

राजा ने कहा—"इसका एक और भी द्वार है, गुप्त द्वार। उसका पता किसी को नही दिया जाता। उसे हमारे खानदान के लोगो को छोड कर और कोई नही जानता। यद्यपि आज-कल इसमे कोई नही रहता, फिर भी उस नियम का पालन किया जाता है।"

गुफा से निकल कर जान मे जान आई।

थोडी और चढाई चढने के वाद पहाड़ पर एक वहुत बडा वरगद का पेड बीघे भर तक अपनी झुरियाँ फैलाए खडा था।

राजा ने कहा—"कृपया जूते उतार कर चलें।"

पेड के नीचे, मसाला पीसने के जैसे पत्थर होते हैं, वैसे ही बहुत-से पत्थर वहाँ भी विखरे पडे थे।

राजा ने वताया कि उनके वश का समाधि-स्थान यही है। वहाँ का एक-एक पत्थर राजवश के एक-एक व्यक्ति की समाधि का द्योतक था। वरगद के नीचे तमाम वैसी चट्टाने बिखरी पड़ी थी। कोई-कोई समाधि वडी ही पुरानी थी। वरगद की झुरियो ने दो तरफ से उसे

सँडासी की तरह जकड़ रक्खा था। और वे झुरियाँ पेड़ की जड़ों-जैसी ही मोटी हो गई थीं। कई चट्टानें तो झुरियों से बिल्कुल ढँक गई थीं। उनकी प्राचीनता इसी से समझी जा सकती थी।

राजा दोबरू ने कहा—"यह बरगद पहले यहाँ नही था। दूसरे-दूसरे पेड थे। काल-क्रम से एक नन्हे-से पौधे ने फैल कर दूसरे सभी पेड़ों को मार डाला। यह बरगद इतना पुराना है कि असली जड अब नहीं रही। जो झुरियाँ ऊपर से उतरी है, वही जड़ बन गई है। इन झुरियों को उखाड़ फेकें तो पता चले कि इनके नीचे ऐसे कितने पत्थर दबे पडे है। अब आपही समझे, यह समाधि-स्थान कितना पुराना है।

वास्तव में उस पेड़ के नीचे खड़े-खड़े मेरे मन में ऐसा एक भाव जगा, जो अब तक कही नही जगा था, राजा को देख कर भी नहीं (वह तो एक बूढे संथाल से लगे), राजकुमारी को देखकर भी नहीं (किसी तन्दुरुस्त हो या मुडा तरुणी से राजकुमारी का कोई भेद नहीं था), और राजप्रासाद को देखकर तो बिल्कुल ही नही (वह तो साँपों का अड्डा या किसी भूतिया महल-सा लगा); मगर बरगद और उसके नीचे के जाने कितने दिनो के इस समाधि-स्थान ने मेरे हृदय में एक अननुभूत और अपूर्व अनुभूति जगा दी।

उस जगह की गंभीरता, रहस्य और प्राचीनता का भाव अवर्णनीय है। दिन ढल रहा था, पीली धूप पत्तो, डालों और झुरियों पर, जंगल और धनझरी की विभिन्न चोटियो पर पडने लगी। अपराह्न की उस घनीभूत छाया ने तो मानो उस समाधि-स्थान को और भी गंभीर, रहस्य-मय सौन्दर्य से मडित कर दिया था।

मिस्र के प्राचीन राजाओ के समाधि-स्थल थिब्स के पास जो 'वैली आव दि किंग्स' है, वह आज ससार-भर के पर्यटको की लीलाभूमि हो उठी है; उसका जितना ढोल पीटा गया है, जितना प्रचार किया गया है कि मौसम मे उसके होटलों मे तिल धरने की जगह नही मिलती—'वैली आव दि किंग्स' अतीत के कुहरे से जितना अंधकाराच्छन्न नहीं

हुआ था, उतना हो जाता है सिगरेट के धुएँ से; मगर प्राचीन अनार्य राजाओ का यह समाधि-स्थल रहस्य और महिमा मे उससे किसी भाँति कम नही है, जो वन की सघन छाया मे गिरि-माला की ओट मे युग-युग से अपने को छिपाए है, सदा छिपाए रहेगा। मिस्र के धनी फेरावों की कीर्ति के समान इनके समाधि-स्थान मे आडम्बर नही है, पालिस और वैभव नही है, क्योकि ये बेचारे नितान्त गरीब थे, इनकी सभ्यता और सस्कृति मनुष्य के आदिम युग की सभ्यता और सस्कृति थी। इन्होंने गुफाओ मे अपना राजमहल, राजसमाधि और सीमाज्ञापक जो खभे बनाए, वे शिशु मानव के मन से बनाए। अपराह्न,की छाया मे पहाड के ऊपर उस विशाल बरगद के नीचे खड़े होकर मै सर्वव्यापी शाश्वत काल के दूर अतीत मे अभिज्ञता की एक नई ही दुनिया देख पाया—जिसकी तुलना मे पौराणिक और वैदिक युग भी वर्तमान के पर्याय मे आ पड़ते है।

मै देखने लगा—उत्तर-पच्छिम की घाटी को पार करके यायावर आर्यगण स्रोत के वेग से अनार्य आदिम जाति द्वारा शासित भारत में प्रवेश कर रहे है—भारत का जो परवर्त्ती इतिहास है, वह इसी आर्य-सभ्यता का इतिहास है—अनार्य जातियो का कही कोई इतिहास नही, और अगर लिखा भी है, तो इन्ही गुप्तगिरि-गह्वरो मे, जंगलो के अन्धकार मे और टूट कर बिखरने वाली ककाल-रेखाओ मे। उन अक्षरों को पढ़ने की विजयी आर्य-जाति को कभी चिन्ता ही नही हुई। हारे हुए अभागे आदिम लोग आज भी उसी तरह उपेक्षित और अवमानित है। सभ्यता के गर्व में चूर आर्यो ने उनकी ओर कभी उलट कर भी नहीं ताका, उनकी सभ्यता को समझने की कभी कोशिश नही की और आज भी नही करते। मै और बनवारी उसी विजयी जाति के और बूढे दोबरू पन्ना, युवक जगरू और तरुणी भानुमती उस विजित, पद-दलित जाति के प्रतिनिधि है—हम दोनो ही जाति के लोग संध्या के अन्धेरे मे आमने-सामने खडे है, सभ्यता के गर्व से ऊँची नाक लिये, आर्यकांति के गर्व से हम प्राचीन अभिजात-वंशीय दोबरू पन्ना को बूढ़ा सन्थाल समझ रहे

हैं, राजकुमारी भानुमती को मुडा मजदूरिन समझ रहे हैं ; उन्होने जिस प्रासाद को बड़े आग्रह और गर्व के साथ मुझे दिखाया, उसे अनार्य सुलभ हवा-धूप-रहित गुफा, साँपो और भूतो का अड्डा समझ रहा हूँ। शाम के अँधेरे में इतिहास की यह महान् करुण नाटिका मानो मेरी आँखों के आगे अभिनीत हुई—उस नाटक के कुशीलव हैं हारे, उपेक्षित और दरिद्र अनार्य राजा दोबरू पन्ना, तरुणी अनार्य राज कन्या भानुमती, तरुण राज-पुत्र जगरू पन्ना—दूसरी तरफ मैं, मेरा पटवारी बनवारीलाल और मेरा मार्ग-दर्शक बुद्धूसिंह।

साँझ के उतरते हुए अन्धेरे से राज-समाधि और बरगद के ढँक जाने के पहले ही हम लोग पहाड़ से उतर आए।

उतरते हुए रास्ते मे सिन्दूर से पुता एक पत्थर मिला। उसके आस-पास मनुष्य के बोए हुए गेंदे और संध्यामणि फूल के पौधे थे। उसी के सामने दूसरा पत्थर खड़ा था, वह भी सिन्दूर से पुता था। यह देव-स्थान बहुत पुराना था, यही राजवश के कुल-देवता हैं। पहले यहाँ नर-बलि होती थी, बडा पत्थर यूप के काम आता था। अब यहाँ पर कबूतर और मुर्गे चढाए जाते हैं।

मैंने पूछा—"ये कौन-से देवता हैं ?"

राजा दोबरू बोले—"टाँडबारो, जंगली भैंसो के देवता।"

पिछले जाडों में गोनू महतो से सुनी हुई कहानी याद आ गई।

दोबरू बोले—"टाँड़बारो बड़े जाग्रत देवता हैं। ये न होते, तो चमड़े और सींग के लोभ से शिकारियों ने भैंसों के वंश का खातमा ही कर दिया होता। ये उनके रक्षक हैं। जब भैंसे फंदे मे फँसने लगते हैं, तब ये सामने खडे होकर हाथ के इशारे से उन्हे बचा लेते हैं। बहुतो ने आँखों से देखा है।"

जंगली आदिम जाति के इस देवता को सभ्य जगत् मे कोई नहीं मानता और नही जानता है ; किन्तु ये जो काल्पनिक नही ह, सचमुच

ही है, यह बात वन-जन्तु-बहुल जगल और पर्वतो के निविड सौंदर्य एवं रहस्यों के वीच रहकर मन में स्वतः आ गई थी।

बहुत दिनो के बाद जव कलकत्ता लौटा, तव एक बार बडा बाजार में जेठ के जलते हुए दिनो मे एक गाड़ीवान को भारी बोझा खीचने वाले गाड़ी मे जुते भैंसों को चमडे के कोडे से बड़ी बेरहमी से पीटते हुए देखा था। उस दिन मन में अनायास ही यह आया था—'हाय देवता टाँड़वारो, यह न तो छोटानागपुर है, न मध्यप्रदेश का जगल, यहाँ तुम्हारे हाथ इस पीडित पशु की रक्षा कैसे कर सकते है? यह बीसवी सदी की आर्य-सभ्यता से गर्वित कलकत्ता नगरी है—यहाँ हारे हुए राजा दोबरू पन्ना-जैसे ही तुम असहाय हो।'

मुझे गया जाना था, इसलिए साँझ से पहले ही रवाना हो गया। बनवारी घोड़ो को लेकर खेमे में लौटा। लौटते समय फिर राजकुमारी भानुमती से मुलाकात हो गई। वह कटोरे मे मेरे लिए दूध लेकर राज-महल के द्वार पर खडी थी।

बारहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक रोज राजू पाँडे ने खबर दी—"बनैले सूअर खेतों की खड़ी फसल को रोज रात को बर्बाद कर देते हैं। उनमें कुछ दाँतवाले खूँखार पट्ठे भी हैं। लिहाजा कनस्तर पीटने के अलावा और कुछ करते नही बनता। अगर कचहरी की ओर से इसका कोई उपाय नही किया जायगा, तो मेरी-सारी फसल नष्ट हो जायगी।"

तीसरे पहर बन्दूक लेकर मैं खुद ही वहाँ गया। राजू की जमीन नाढा वैहार के घने जगल मे पड़ती थी। उधर अभी लोग बहुत कम बसे थे, खेत भी कम थे, अत: जानवरो के उपद्रव ज्यादा होते थे।

राजू अपने खेत मे काम कर रहा था। मुझे देखकर सब छोड-छाडकर लपका। मेरे हाथ से उसने घोडे की लगाम ले ली और घोडे को बहेडे के पेड मे बाँध दिया।

मैंने कहा—"अब तो तुम्हारे दर्शन दुर्लभ होगए है—कचहरी की तरफ कभी आते क्यों नही ?"

राजू के झोपड़े के चारों ओर कसाल का जगल था—बीच-बीच मे केंद और बहेड़े के पेड भी थे। पता नही, इस जन-मानवहीन जगल मे वह अकेला कैसे रहता था। साँझ हुए किसी से यहाँ बात कर सकना भी असंभव था—अजीब आदमी था वह !

राजू ने कहा—"समय ही कहाँ मिलता है कि कही जाऊँ हुजूर, फसल सँभालते-सँभालते ही जान चली गई। फिर भैंस हैं।"

मैं पूछने ही जा रहा था कि तीन भैंस चराने और डेढ बीघे की खेती में क्या ऐसी व्यस्तता हो सकती है कि कही जाने का समय ही नही मिलता, मगर तब तक राजू ने खुद अपने कामो की एक ऐसी सूची पेश

की कि देखकर लगा—सचमुच ही उसे साँस लेने की फुर्सत नही। खेत-खलिहान के काम, भैंस चराना, दूध दुहना, मक्खन निकालना, पूजा-पाठ करना, रामायण पढना, रसोई, भोजन—सुनते-सुनते मैं ही मानो हाँफ उठा। बेशक राजू बडे जीवट का आदमी है! इस पर भी तमाम रात जागकर उसे कनस्तर पीटना पड़ता था।

मैंने पूछा—"सूअर कब आते है ?"

—उनके आने का कोई ठिकाना तो नही हुजूर—"हाँ, रात होते ही निकल पड़ते है। जरा देर बैठकर तो देखे। तब पता चले कि कितने आते है।"

मेरे लिए सबसे बड़ा कौतूहल यह था कि राजू यहाँ अकेला रहता कैसे है ? मैंने उससे यही पूछा।

वह बोला—"आदत पड़ गई है हुजूर। जमाने से इसी तरह रहता आया हूँ, कष्ट तो खैर नहीं होता, बल्कि यों खुशी से ही रहता हूँ। दिन भर करारी मेहनत, शाम को भगवद्भजन—दिन मजे में कट जाते हैं।"

मुझे पता था कि एक खास सांसारिक विषय से राजू को बडी आसक्ति है कि वह चाय खूब पीता है। मगर इस घने जंगल मे चाय की सामग्रियाँ मिलती कहाँ से होगी, यह सोचकर मैं अपने साथ चाय और चीनी लेकर गया था। मैंने कहा—"राजू, जरा चाय बना लो। चाय का सब सामान मेरे साथ है।"

उसने बड़ी खुशी से तीन सेर पानी आने वाले लोटे मे पानी चढ़ा दिया। चाय तैयार हो गई ; लेकिन काँसे के एक छोटे कटोरे के सिवा वहाँ कोई दूसरा बर्तन ही नही था। मुझे उसी कटोरे मे चाय देकर वह खुद लोटे से पीने लगा।

राजू को हिन्दी पढना-लिखना आता है ; मगर बाहरी दुनिया की उसे कोई जानकारी नही। कलकत्ता का नाम तो उसने सुन रक्खा है, लेकिन वह किधर है, सो नही जानता। बम्बई या दिल्ली के बारे मे उसकी धारणा चन्द्रलोक की धारणा-जैसी ही काल्पनिक और धुँधली है।

शहरों मे से सिर्फ पूर्णियाँ को ही उसने देखा है, वह भी कई बरस पहले एक बार वहाँ गया था और सिर्फ थोडे ही दिन वहाँ रहा था।

मैंने पूछा—"मोटर देखी है ?"

—"नही हुजूर, सुना है कि बैल या घोड़े के बिना ही चलती है—धुँआ निकलता है। आजकल पूर्णियाँ मे शायद बहुत-सी आ गई हैं। बहुत दिनों से पूर्णियाँ भी नही जा पाया हूँ। गरीब आदमी, शहर जाने को पैसे भी तो चाहिएँ।"

मैंने उससे पूछा—"कलकत्ता जाने की इच्छा है क्या ? अगर जाना चाहो, तो मैं घुमा लाऊँ, पैसे नही लगेंगे।"

राजू ने कहा—"शहर बडी बुरी जगह है हुजूर! चोर, उचक्को-गुंडों का वहाँ अड्डा है। सुनते हैं, वहाँ जाने से जात नही बचती। वहाँ के लोग बदमाश होते हैं। हमारी तरफ का एक आदमी था, उसके पाँव मे कुछ हुआ था, इसलिए वह किसी शहर के अस्पताल में गया था। डाक्टर छूरी से उसके पाँव को चीरता जाता और पूछता जाता था कि 'बताओ, कितने रुपए दोगे ?' उसने कहा—'दस रुपये दूँगा।' डाक्टर ने पाँव को और चीरा। फिर पूछा—'अभी भी बताओ, कितना दोगे ?' उसने गिड़गिड़ाकर कहा—'डाक्टर साहब, पाँच रुपये मैं और दूँगा, आप दया करके पाँव को ज्यादा न चीरें।' डाक्टर ने कहा—'उतने से नहीं होने का।' और उसने पाँव को फिर चीरना शुरू किया। वह बेचारा गरीब जितना रोता जाता, डाक्टर उतना ही पाँव को चीरता जाता। चीरते-चीरते काट ही डाला उसके पाँव को। आप ही सोचें, कैसी खतरनाक बात है!"

राजू की बातें सुनकर हँसी को रोकना मुश्किल हो गया। मुझे याद आया, इंद्रधनुष को देखकर एक बार इसी राजू ने कहा था—'यह इंद्रधनुष जो देखते हैं बाबूजी, यह दीमक के टीले से उगता है, मैंने अपनी आँखों से देखा है।'

राजू के झोंपड़े के सामने ही आसान का एक बहुत बड़ा पेड़ है।

हम लोग उसी के नीचे बैठकर चाय पी रहे थे। चारो तरफ घना जगल केंद, आँवले, बहेडे के पेड़-पौधे। फूल की भीनी-भीनी गन्ध ने साँझ की हवा को बड़ा ही मधुर बना रक्खा था। ऐसी जगह मे इस तरह बैठकर चाय पीना मुझे जीवन मे एक सौन्दर्यमय अभिज्ञता प्रतीत हुई। ऐसे अरण्य-प्रातर कहाँ है, कहाँ है कास-वन से घिरा ऐसा झोपडा और राजू जैसा आदमी ही यहाँ कहाँ है? यह अभिज्ञता जितनी अनोखी थी, उतनी ही दुष्प्राप्य भी।

मैंने कहा—"अच्छा राजू, तुम अपनी स्त्री को क्यो नही ले आते? उसे लाने से तुम्हे खुद बनाकर खाने का कष्ट नही रह जायगा।"

राजू बोला—"वह जिन्दा नही रही हुजूर—सत्रह-अठारह साल हुए, गुजर गई। तब से घर मे मन को टिका नही पाता हूँ।"

राजू की स्त्री का नाम सरजू (यानी सरयू) था। जब राजू अठारह साल का और सरयू चौदह साल की थी, तब राजू कुछ दिनों के लिए उत्तम-धरमपुर, श्यामला टोला मे सरयू के पिताजी की पाठशाला मे व्याकरण पढने गया था।

राजू से पूछा—"कितने दिनों तक पढा था?"

—"कितने दिन क्या, साल-भर के करीब पढा था, पर इम्तहान नही दिया। वही हम दोनो की देखा-देखी हुई और धीरे-धीरे—"

और जरा खाँस कर राजू चुप हो गया।

मैंने उत्साह देकर कहा—"हाँ, उसके बाद?"

—"मगर कहूँ तो क्या, उसके पिताजी मेरे अध्यापक थे, उनसे यह बात कहता भी कैसे? कातिक का महीना, छठ का तेवहार—औरतों के एक दल के साथ पीली साडी पहने सरयू कोसी नहाने जा रही थी, मैं—"

राजू फिर खाँसकर चुप हो गया।

मैंने उत्साह देकर कहा—"हर्ज क्या है? कहो।"

—"उसे देखने के लिए मैं एक पेड की आड़ मे छिपा रहा। इस-

लिए कि उनसे इन दिनों मेरी देखा-सुनी बहुत कम ही हो पाती थी—कही उसके रिश्ते की बात चल रही थी। जब औरते गाती-गाती—आप जरूर जानते होंगे कि छठ के त्योहार में औरतें गाती हुई नदी को जाती हैं?—गाती-गाती औरते जब मेरे पास पहुँची, तब सरयू ने मुझे पेड की ओट में छिपा देख लिया। वह भी हँसी, मै भी हँसा। मैंने इशारे से उसे टोली से पिछड़ जाने को कहा। उसने भी इशारे मे बताया—लौटते समय, अभी नही।"

कहते-कहते बावन वर्ष वाले राजू के मुखडे पर बीस वर्ष के नवयुवक प्रेमी-जैसी लज्जाशीलता और आँखो मे एक स्वप्नमय दृष्टि जाग पड़ी—मानो जीवन के बहुत पीछे प्रथम यौवन के दिनो मे जो कल्याणी तरुणी चौदह साल की थी, उसके सगीहीन प्रौढ प्राण उसी को ढूँढने के लिए निकल पड़े हैं। अकेले इस घने जंगल मे रहते-रहते वह थक गया है। ऐसे में जिसकी बात सोचना उसे भाता है, जिसके सग के लिए उसका मन उन्मुख है, वह बहुत पहले की वही बालिका सरयू है, जो कि आज इस दुनिया मे कही नही है।

उसकी कहानी भली लग रही थी। मैंने कहा—"फिर?"

—"लौटते समय उससे भेट हुई। वह दल से पीछे हो गई। मैंने कहा—'सरयू, मुझे अब तकलीफ हो रही है। तुमसे मिलना-जुलना बन्द हो गया है। मै जानता हूँ कि मुझसे अब पढ़ना न होगा, फिर यह कष्ट बेकार ढोना है। सोचता हूँ, इसी महीने यहाँ से चला जाऊँ।' सरयू रो पड़ी। बोली—'तुम पिताजी से कहते क्यों नही?' उसके रोने से मै मर्माहत हो गया और जिस बात को अपने अध्यापक से कहने को मुझमें कभी जुर्रत नही थी, वही कह बैठा। ब्याह मे यो कोई बाधा नहीं थी। जात-घर सब अनुकूल ही था। ब्याह हो भी गया।"

रोमांस महज मामूली-सा था, शहर की हलचल में यदि कोई इसे सुनता, तो निहायत घरेलू और गँवई मामला, जरा-सा पूर्वराग भर कहकर शायद उड़ा भी देता; मगर वहाँ इसकी अभिनवता और सौन्दर्य से मन

मुग्ध हो गया। दो हृदयों ने किस तरह एक दूसरे को पाया था अपने जीवन में, यह जो कितना बडा रहस्यमय इतिहास है, इसे उस दिन समझा था।

चाय पीते-पीते साँझ बीत गई, आसमान मे हल्की चाँदनी निखरी छठी या सातवी तिथि थी।

मैंने बन्दूक उठाई। बोला—"चलिए पाँडेजी, देखूँ आपके खेत में सूअर कहाँ है?"

खेत के पास ही शहतूत का एक बड़ा-सा पेड था। राजू ने कहा—"इस पेड पर चढ़ना है हुजूर—उसकी दो डाली पर सुबह मैंने मचान बाँध दिया था।"

अजीब मुसीबत। जमाने से पेड़ पर चढने की आदत नही रही, फिर इस रात को। राजू ने उत्साह देकर कहा—"चढने मे तकलीफ नहीं होगी हुजूर। बाँस है, डाल-पत्ते भी हैं। आसानी से चढ सकते है।"

मैंने राजू को बन्दूक थमाई और चढकर मचान पर बैठ गया। मेरे बाद राजू भी ऊपर आ गया। दोनों नीचे की तरफ निगाह किए पास-पास बैठे थे।

चाँदनी और भी खिल पडी। गाछ की दो डाली से चाँदनी मे कुछ साफ और कुछ धुँधला दीखनेवाला जगल का उपरी हिस्सा मन मे एक अनोखा ही भाव जगा रहा था। जीवन मे यह भी एक नया ही अनुभव था।

जरा-सी ही देर बाद जगल मे सियार बोल उठे और उसी समय काला-सा कोई जानवर जगल के दक्खिन से निकलकर राजू के खेत मे घुसा।

राजू बोला—"वह रहा हुजूर—"

मैंने बन्दूक सँभाल ली। कुछ और पास आने पर पता चला, वह सूअर नहीं, बल्कि नीलगाय है।

नीलगाय को मारने की इच्छा नही हुई। राजू ने दुरदुराया और नीलगाय जंगल की तरफ चली गई। मैंने यो ही वन्दूक की आवाज की।

दो घंटे बीत गए। दक्खिन की ओर जगल मे वनमुर्गा बोल उठा। दाँतवाले सूअर को मारने का मनसूबा गाँठा था, मगर सूअर का बाल भी देखना नसीब न हुआ। वन्दूक की आवाज से ही सारा गुड़ गोवर हो गया।

राजू बोला—"उतर चलिए हुजूर, आपके खाने का भी प्रबन्ध करना है।"

मैंने कहा—"भोजन ? मै अपनी कचहरी जाऊँगा—अभी तो रात के दस भी नही बजे। जाना ही पड़ेगा। सवेरे सर्वे-कैंप की निगरानी में जाना है।"

—"तो खाकर जाइए।"

—"नही-नही, ज्यादा रात गए जंगल से जाना ठीक न होगा—अभी ही चल दूँ। तुम बुरा न मानना।"

घोड़े पर चढते समय मैंने पूछा—"कभी-कभी तुम्हारे यहाँ चाय पीने को आ जाया करूँ, तो ऊब तो नही होगी तुम्हे ?"

राजू बोला—"आप भी कैसी बाते करते है बाबूजी। इस जंगल में अकेला रहता हूँ, मैं गरीब ठहरा, मुझे आप प्यार करते है, इसीलिए अपनी चाय-चीनी साथ लाकर मेरे साथ चाय पीते हैं। यो शर्मिन्दा न कीजिए हुजूर !"

राजू अभी भी देखने मे सुन्दर लग रहा था, जवानी के दिनो में निस्संदेह वह देखने में बड़ा खूबसूरत रहा होगा। अध्यापक की कन्या ने पिता के तरुण छात्र के प्रति प्यार जताकर अपनी सुरुचि का ही परिचय दिया था।

काफी रात हो चुकी थी। मै मैदान की राह अकेला जा रहा था। कही रोशनी नही, अद्भुत एक स्तब्धता—मानो मै किसी जनहीन अजाने ग्रहलोक में पृथ्वी मे निर्वासित किया गया होऊँ—दिगत-रेखा पर दम-

कता हुआ वृश्चिक का उदय हो रहा था, ऊपर अँधेरे आकाश में असख्य जोतिर्लोक, नीचे लवटोलिया वैहार का सुनसान जगल, नक्षत्रो की हल्की जोत मे जंगली झाऊ की फुनगियाँ दिखाई दे रही थी—कहीं दूर पर सियारो ने पहर की घोपणा की, और भी आगे मोहनपुरा जंगल की सीमा-रेखा अन्धेरे मे काले पहाड-सी दिखाई पड रही थी। किसी कीड़े की लगातार टी-टी-टी को छोडकर कही कोई आवाज नहीं था। कान लगा कर सुनने से उसी आवाज मे और तरह के कीड़ों के भी शब्द मिले मालूम पडते थे। इस मुक्त जीवन का कैसा अनोखा रोमांस! प्रकृति से घनिष्ठता का कैसा अपूर्व आनन्द! सब कुछ न जाने कैसा एक अनिर्दिष्ट, अव्यक्त रहस्य, पता नही, वह रहस्य क्या था; किन्तु इतना जरूर कह सकता हूँ कि वहाँ से लौट आने के वाद वैसे रहस्य का भाव मन में फिर कभी नही जागा।

मानो इस नीरव-निर्जन रात्रि मे देवतागण नक्षत्रो में सृष्टि की कल्पना में लीन हों, जिस कल्पना में कि सुदूर भविष्यत् के नये-नये विश्वो का आविर्भाव, नये-नये सौन्दर्यो का जन्म, विभिन्न नए प्राणो का विकास बीज-रूप में निहित है। उनके इस रहस्य-रूप को केवल वही आत्माएँ देख पाती है जो ज्ञान की आकुल पिपासा में निरलस जीवन यापन करती है, जिनके प्राण विश्व की विराटता और क्षुद्रता के संबंध मे सजग आनन्द से उल्लसित है और जिसके तुच्छ और क्षुद्र वर्त्तमान के दुःख-शोक जन्म-जन्मान्तर के पथ से होने वाली दूर-यात्रा की आशा मे विन्दु के समान खो गए है। 'नायमात्मा वलहीनेन लभ्यः।'

जिन लोगो ने एवरेस्ट के शिखर पर चढ़कर वर्फ की आँधी और वाढ मे अपने प्राणो की वलि चढाई थी, उन लोगों ने विश्वदेवता के उस विराट् रूप को देखा है अथवा जव कोलम्वस ने अजोरस द्वीप के उपकूल में तैरते हुए तख्ते पर वहते हुए महासमुद्र पार के अजाने महादेश के वारे मे जानना चाहा था, तव विश्व की यह लीला-शक्ति उनके मन मे प्रकट हुई थी, जो घर वैठे तंबाखू का धुआँ उड़ाते हुए

पडोसी की बेटी की शादी और उसके धोबी-नाई का काम किया करते हैं, इस स्वरूप को हृदयगम करना उनके वश की बात नही ।

[दो]

भिछी नदी के उत्तरी किनारे पर जगल-पहाडों के बीच नाप-जोख चल रही थी । कोई दस दिन से मैं खेमे मे यही रह रहा था, शायद और भी दस-बारह दिन रहना पडे, ऐसी आशा थी ।

यह जगह अपने स्थान से बहुत दूर पडती थी । राजा दोबरू पन्ना की रियासत के आस-पास । मैं ने रियासत तो कह दी, मगर दोबरू पन्ना तो राज्य-विहीन राजा है—उनके घर के आस-पास कहना चाहिए ।

बडी बेहतरीन जगह । एक उपत्यका, सामने की तरफ चौडी, पीछे की ओर सँकरी । पूरब-पच्छिम मे पहाडियों की श्रेणी-बीच में थी यह अश्वमुखी उपत्यका । जगलों से भरी, जहाँ-तहाँ बिखरी पडी थी चट्टानें, कँटीले बाँस की झाडियाँ, और भी न जाने क्या-क्या पेड-पौधे । बहुत-से पहाड़ी झरने उत्तर की तरफ से उतर कर इस उन्मुक्त उपत्यका से होते हुए बाहर को बह रहे थे । इन झरनो के दोनो ओर के जंगल खासे घने थे और इस इलाके मे इतने दिनों तक रहने के अनुभव से मैं समझ सकता था कि ऐसी ही जगहो में बाघ का ज्यादा खतरा रहता है । हिरन थे, वनमुर्गों को रात के दूसरे पहर में बोलते सुना था । लोमडी की बोली सुनी थी, मगर बाघ नही देखा था, न उसकी आवाज यहाँ सुनी ।

पूरब की तरफ के पहाड़ मे एक बहुत बडी गुफा थी । गुफा के सामने ही एक पुराना और घना बरगद था—जो हरदम सन्-सन् करता रहता था । दोपहर की धूप मे नीले आसमान के नीचे की यह जनहीन उपत्यका और गुफा मन मे बहुत ही पुराने युग की स्मृतियाँ ले आती, जिस युग मे आदिम जाति के राजाओं का राजमहल रही होगी यह गुफा, जैसी कि दोबरू पन्ना के पुरखो की थी । गुफा की दीवारो मे एक जगह न जाने क्या खुदा हुआ था, शायद कोई तस्वीर थी—अब बिल्कुल धुँधली हो गई

थी, समझ मे नही आती थी। जंगली आदिम जाति की कितने ही नर-नारियों की कल हास्य ध्वनि, कितने सुख-दु ख, बर्बर समाज के जुल्मो-सितम के आँसू से लिखे हुए कितने इतिहास उस गुफा की माटी मे, हवा में, पत्थरो की दीवारो पर लिखे है—यह सोचते हुए अच्छा लगता।

गुफा से रस्सी-दो-रस्सी के फासले पर झरने के किनारे एक गोंड परिवार रहता था। दो झोपडे थे उसके—एक बड़ा और एक छोटा, डालो के घेरे, पत्तो की छौनी। झोपडो के सामने की खुली जगह मे पत्थर के टुकडे बटोर कर उसने चूल्हा बनाया था। झोपड़े एक बहुत वडे जगली वादाम के पेड के नीचे थे। वादाम के झडे हुए सूखे पत्तो से आँगन भर गया था।

उस गोड़ परिवार मे दो लडकियाँ थी—एक की उम्र सोलह-सत्रह, और दूसरी की चौदह होगी। रंग तो उनका घोर काला था; पर चेहरे पर सहज सौन्दर्य का निखार था, सुन्दर स्वास्थ्य। रोज दोनो लडकियाँ दो-तीन भैस लेकर सबेरे पहाड़ पर चराने जाया करती, साँझ से पहले लौट आती। मै अपने तम्बू मे जब चाय पीने को बैठता, तब उन्हे भैंसे लेकर सामने से घर लौटते हुए देखा करता।

एक दिन वह वडी लडकी आप तो रास्ते पर खडी रही और अपनी छोटी वहन को मेरे पास भेज दिया। उसने आकर कहा—"सलाम वावूजी! बीडी है क्या? दीदी माँग रही है।"

—"तुम बीडी पीती हो.?"

—"मै नही, दीदी पीती है। यदि हो तो एक दे दो बाबूजी।"

—"मेरे पास बीडी तो नही, चुरुट है, लेकिन वह मै तुम्हें दूँगा नही। बहुत कड़ी है, पी नही सकोगी।"

वह लडकी चली गई।

थोडी देर बाद मै उनके घर गया। मुझे देखकर गृह-स्वामी अचम्भे मे पड़ गया—आदर से मुझे बिठाया। दोनो लडकियाँ मकई का घाटा सखुए के पत्ते पर परोस कर नमक के साथ खा रही थी। सिर्फ नमक

के साथ, और कुछ नही। उनकी माँ चूल्हे पर कुछ पका रही थी। नन्हे वच्चे खेल रहे थे।

मालिक की उम्र होगी पचास की। स्वस्थ और वलवान शरीर। मुझे उसने वताया कि घर उनका सिवनी जिले में है। चूँकि यहाँ भैंसो के लिए पहाड़ पर घास और पानी काफी मिल जाता है, इसीलिए साल-भर से यहीं है। यहाँ वाँसो से टोकरियाँ, सूप, माथे की वरसाती वनाने की वडी सहूलियत हैं। शिवरात्रि में अखिल कूचा के पहाड़ पर मेले मे उनसे कुछ पैसे मिल जाते है।

मैंने पूछा—"यहाँ कव तक रहोगे ?"

—"जव तक जी चाहे वावूजी ! यह जगह खूब भा गई है, नहीं तो हम लोग लगातार एक साल भी कही नही रहते। एक और सहूलियत है यहाँ, पहाड पर शरीफे वहुत होते है, आश्विन के महीने मे मेरी लड़कियाँ दो-दो टोकरी पक्का शरीफा रोज पहाड पर से तोड लाती थी। दो महीने हमने सिर्फ शरीफो पर काटे है। शरीफों के लोभ से ही यहाँ रहना है। उनसे पूछ देखिए न।"

खाते-खाते ही वड़ी लडकी उल्लास से वोल उठी—"ओः, पहाड़ के पूरव की तरफ एक जगह है। वहाँ न जाने कितने शरीफे है। पक कर टूट गिरते हैं, कोई छूता तक नहीं उन्हे। हम भर-भर टोकरी तोड़ लाते थे।"

इतने में घने जंगल से निकल कर कोई झोपडे के सामने आकर खड़ा हो गया—"सीताराम! सीताराम! जय सीताराम! —जरा आग दोगे ?"

मालिक वोला—"आइए वावाजी, वैठिए।"

जटा-जूटधारी एक बूढ़ा साधु था। इस वीच साधु की नजर मुझ पर पडी और वह अचरज-मिश्रित भय से कुछ थोड़ा खिसक कर एक किनारे खडा हो गया।

मैंने कहा—"प्रणाम वावाजी—"

उसने आशीर्वाद तो जरूर दिया ; मगर तब तक भी उसका भय पूरी तरह भागा नहीं था।

उसे साहस देने की नीयत से मैंने पूछा—"रहना कहाँ होता है बाबा ?"

मेरी बात का जवाब दिया गृहस्वामी ने—"बड़े ही घने जंगल में ये रहते हैं—वह वहाँ, जहाँ दोनों पहाड़ मिल गए हैं। बहुत दिनों से यहाँ हैं।"

बूढ़ा साधु इस बीच में बैठ गया था। उसकी तरफ देखते हुए मैंने पूछा—"यहाँ कब से हैं ?"

अब उसके जी-में-जी आया। बोला—"पन्द्रह-सोलह साल से।"

—"अकेले रहते होंगे ? सुना है, यहाँ बाघ रहता है। डर तो नहीं लगता ?"

—"अकेले नहीं, तो साथ कौन रहेगा बाबू साहब ? परमात्मा का नाम लेते हैं। डरने से काम कैसे चल सकता है। अच्छा बताइए तो, मेरी उम्र कितनी होगी ?"

मैंने उनकी ओर गौर से देखा और बोला—"कोई सत्तर की होगी।"

साधु ने हँसकर कहा—"जी नहीं, नब्बे से ज्यादा हो चुकी है। मैं गया के पास एक जंगल में दस साल तक रहा। वहाँ के इजारादारों ने जब जंगल काटना शुरू किया और लोग-बाग बसने लगे, तब भाग आया। गाँव-घर में नहीं र सकता।"

—"यहाँ एक ुफा है, आप उसमें क्यों नहीं रहते ?"

—"एक क्यों बाबू, गुफाएँ तो इस पहाड़ में बहुत-सी हैं। मैं जहाँ रहता हूँ, वह गुफा तो नहीं है, पर गुफा ही समझिए। याने ऊपर छत है, दो ओर दीवारें हैं, सिर्फ सामने की ओर खुला है।"

—"खाते क्या हैं आप ? भीख माँगते हैं ?"

—"मैं कहीं नहीं जाता। परमात्मा सब जुटा देते हैं। बाँस की निकलनेवाली नई फुनगी को उबाल कर खाया करता हूँ। जंगल में एक

तरह का और कंद मिलता है, काफी मीठा लगता है वह, उसे भी खाता हूँ। पक्का आँवला और शरीफा यहाँ वहुत मिलता है। आँवला खूब खाता हूँ। रोज आँवला खाने से आदमी जल्दी बूढा नही होता, जवानी को बाँध कर रक्खा जा सकता है। गाँव के लोग समय-समय पर मिलने आते है, तो वे दूध, सत्तू औरा बूरा दे जाते है। इन्ही सब पर किसी तरह दिन कट जाते है।"

—"कभी वाघ-भालू से सामना हुआ है या नही ?"

—"कभी नहीं। हाँ, एक वड़ा ही भयानक अजगर इस जंगल में देखा है। वेवस-सा एक जगह पड़ा था वह। ताड़ के पेड़-जैसा मोटा, काला, वदन पर हरी-लाल रेखाएँ। अँगारे-सी लहकती हुई आँखें। अभी भी वह अजगर इस जंगल में है। जव मैंने देखा था, तव वह पानी के पास पड़ा था, हो सकता है हरिण की ताक में रहा हो। अव किसी गुफा में छिप गया है। खैर, रात हो गई। अब चलूँ।"

आग लेकर साधु चला गया। पता चला कि कभी-कभी वह यहाँ आग लेने आता है, गप-शप करता है।

अँधेरा वढ़ चुका था, अव धुमैली-सी चादनी छिटकी। उपत्यका का जंगल अनोखी नीरवता से भर गया। केवल पास के झरने के कल-कल और कभी-कभी वनमुर्गे की वोली के अतिरिक्त दूसरा शब्द सुनाई नहीं पड़ रहा था।

मै खेमे में लौट आया। रास्ते में एक सेमल के वड़े पेड़ पर ढेरों जुगनू जल रहे थे—ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्राकार घूमते हुए—अन्धकार की पृष्ठ-भूमि में ज्यामिति के अनेक क्षेत्र वनाते हुए-से।

[तीन]

यहीं एक दिन आया कवि वेंकटेश्वरप्रसाद। दुवला, छरहरा वदन, सर्ज का कोट, मैली धोती, रूखे और विखरे वाल। उम्र चालीस से ज्यादा।

मैंने सोचा, नौकरी का उम्मीदवार है। पूछा—"क्या चाहिए ?"

उसने कहा—"श्रीमान् के दर्शन को आया हूँ (हुजूर संबोधन नहीं किया)। मेरा नाम वेंकटेश्वरप्रसाद है। घर है बिहार शरीफ—जिला पटना। यहाँ चकमकी टोले मे रहता हूँ—यहाँ से तीन मील पर।"

—"अच्छा। यहाँ किस काम से आना हुआ?"

—"दया करके आप अनुमति दें, तो कहूँ। आपका समय तो बर्बाद नही कर रहा हूँ मै?"

तब भी मै समझ रहा था कि वह नौकरी की खोज मे आया है; लेकिन चूँकि उसने 'हुजूर' नही कहा, इसलिए मेरा ध्यान उसने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। मैंने कहा—"बैठिए, इस गरमी में बड़ी दूर से पैदल आए है।"

एक बात और देखी कि उसकी भाषा बडी मार्जित थी। वैसी हिंदी मै नही बोल सकता। अमले-प्यादे और गाँव के रैयतो से अपना कारोबार ठहरा, मेरी हिंदी उनकी देहाती बोली और बगला मुहावरो की मिली-जुली एक अजीब खिचडी थी। यह कैसे कहूँ कि इतनी सुदर और शुद्ध हिंदी कभी सुनी ही नही? सो जरा सँभलकर कहा—"आखिर आपके यहाँ आने का उद्देश्य?" वह बोला—"मै आपको अपनी कुछ कविताएँ सुनाने आया हूँ।"

मै तो अचरज मे पड गया। कवि ही क्यो न हो, इस जंगल मे मुझे कविता सुनाने की कौन-सी गरज पडी इसे? कहा—"तो आप कवि हैं? खुशी हुई आपसे मिलकर। मै खुशी-खुशी आपकी कविता सुनूँगा। मगर आपको मेरा पता कैसे चला?"

—"यहाँ से तीन ही मील पर मेरा घर है—पहाड़ के ठीक उस पार। गाँव के सब लोग कह रहे थे कि कलकत्ता से एक बंगाली बाबू आए है। आप लोगो मे विद्या की बडी कद्र है, क्योकि आप लोग खुद विद्वान् है। कवि ने कहा है—

विद्वत्सु सत्कवि वाचा लभते प्रकाशं
छात्रेषु कूटमलसमं तृणवज्जड़ेषु।"

वेंकटेश्वरप्रसाद ने मुझे कविता सुनाई। किसी `लवे लाइन के टिकट चेकर, वुकिंग क्लर्क, स्टेशन मास्टर, गार्ड इन्ही सव पर एक बड़ी लंवी कविता। कविता खास अच्छी नही जँची ; लेकिन मै उसके प्रति अविचार नही करना चाहता। उसकी भापा मै ठीक तरह समझ नही सका, सच कहूँ, तो कुछ भी नही समझ सका। फिर भी वीच-वीच में उत्साह और समर्थन में कुछ-न-कुछ कहता गया।

वड़ी देर हो गई, मगर वेंकटेश्वरप्रसाद की कविता क्यो खत्म होने लगी, उठने की वात तो दूर रही।

दो घंटे के वाद जरा चुप होकर उसने पूछा—"आपको कैसी लगी मेरी कविता ?"

मैंने कहा—"क्या कहने है ! ऐसी कविता मैंने वहुत कम सुनी है। आप इन्हें किसी पत्रिका मे क्यो नही भेजते ?"

उसने दुखित होकर कहा—"यहाँ सव लोग मुझे पागल कहते है वावूजी। यहाँ कविता का समझनेवाला भी कोई नही है। आज तृप्ति हुई आपको सुनाकर। समझदारो को ही सुनाने की चीज है यह। जैसे ही सुना कि आप आए है, मैंने तै किए कि एक दिन आपको अवश्य ही कष्ट दूँगा।

उस दिन तो वह चला गया ;पर दूसरे ही दिन तीसरे पहर आकर मुझे अपने यहाँ चलने के लिए तग करने लगा। आखिर टाला न गया, उसी समय उसके साथ चकमकी टोले के लिए मै पैदल ही चल पडा।

वेला झुक आई थी। सामने जहाँ तक पहाड की छाया पडी थी, वहाँ तक गेहूँ के खेत लहरा रहे थे। चारों ओर एक अद्भुत शांति विराज रही थी। झुंड-के-झुंड सिल्ली वाँसो की झाडियों पर उड़-उड़ कर वैठ रहे थे, एक जगह छोटे वच्चे जाने कौन-सी मछली पकड़ने की कोशिश कर रहे थे।

गाँव में घनी आवादी। सटे-सटे घर, कितने ही घरो मे आँगन

नाम की चीज ही नही। वेंकटेश्वर मुझे बीच-बीच के ढंग के एक मकान मे ले गया। बाहरी कमरा रास्ते के किनारे ही था, उसी में एक चौकी पर बैठ गया। जरा देर बाद कविप्रिया के भी दर्शन हुए—मेरे लिए उसने मकई का भूँजा और दहीबडा लाकर, जिस चौकी पर बैठा था, उसी के एक ओर रख तो दिया; लेकिन कुछ बोली नही, यद्यपि उन्होने घूँघट नही काढा था। चौबीस-पचीस की होगी, रंग साफ तो नही, पर बुरा भी नही। शात चेहरा, सुदरी चाहे न कहे, कवि-पत्नी कुरूपा न थी।

एक चीज खास तौर से देखी, वह थी कवि-पत्नी की तंदुरुस्ती। पता नही क्यो, इधर जहाँ कही भी गया, स्त्रियो की तंदुरुस्ती मुझे बंगाल की स्त्रियों से कही अच्छी लगी। मोटी नही, लेकिन खासी छरहरी कूँदे हुए शरीर वाली और चुस्त-दुरुस्त लडकियाँ यहाँ जितनी मिली, बंगाल में उतनी नही होती। कवि-पत्नी ऐसी ही औरत थी।

जरा देर बाद कटोरे में भैस का दही वे मेरी चौकी के पास रख गई और खुद किवाड की आड मे जा खडी हुईं। जंजीर की खटाखट सुनकर वेंकटेशप्रसाद गया और हँसते हुए आकर बोला—"देवीजी कह रही है कि आप तो हमारे बंधु हुए। बंधु को ठढा करना होता है न, इसलिए दही मे पीपल, सोंठ और मिर्च की बुकनी ज्यादा दी गई है।"

मैंने हँसकर कहा—"अगर ऐसी ही बात है, तो केवल मेरी ही क्यों, जिसमे सबकी आँखों से पानी निकले, ऐसा किया जाय। आइए, यह दही हम तीनो ही खाएँ।" दरवाजे की ओट से वे हँसी। मै भी अजीब आदमी, उन्हे दही खिला कर ही माना।

थोडी देर में कवि-पत्नी फिर अदर गईं। हाथ मे एक थाली लिए आईं। और उसे मेरी चौकी पर रक्खा। अबकी बार जरा दबे और कौतूहल-भरे स्वर मे मेरे सामने ही वे बोली—"जरा बाबू साहब से कहो कि घर के बने इन पेडो से मुँह की जलन मिटाएँ।"

औरत के मुँह से यह बोली कितनी फबती थी! इधर की औरतों की जबान मुझे बेहद भली लगती थी। मैं खुद अच्छी हिंदी नहीं बोल पाता; इसलिए हिंदी बोली की तरफ मेरा बडा खिचाव था। यह हिंदी किताबी हिंदी न थी—इन गाँवो में पहाड की तलहटी में, जंगली इलाकों में, जौ-गेहूँ के दूर तक फैले खेतो के पास, जहाँ रहट के पानी से खेतो की सिचाई होती, डूबते सूरज की छाया से भरी गिरि-मालाओं की ओर उडते हुए सिल्ली और बगले एक दूर विस्तृत भूभाग का आभास लाते, वहाँ की यह अचानक खत्म हो जाने वाली टूटे-फूटे क्रियापदो वाली भाषा, जो आमतौर से औरतों के ही मुँह से सुनी जाती थी, उस भाषा की तरफ मेरा खास झुकाव था।

मैंने कवि से कहा—"अपनी दो-एक रचनाएँ तो सुनाइए कृपा करके।"

उत्साह से वेंकटेशप्रसाद का चेहरा खिल उठा। उसने एक कविता सुनाई—गाँव के प्रेम पर लिखी हुई कविता। एक नाले के इस पार एक युवक मकई जोता करता था और उस पार कमर में घडा लिये रोज एक युवती पानी भरने आया करती। युवक सोचा करता, वह युवती बड़ी सुंदर है। वह दूसरी तरफ मुँह कर सीटी बजाया करता, गाय-बकरी चराता और बीच-बीच में नजर बचा कर युवती को देख लिया करता। बहुत बार दोनो की आँखे भी मिल जाती। युवती का चेहरा ऐसे मे लाज से लाल हो उठता, और वह गर्दन घुमा लेती। युवक रोज यही सोचता कि कल उससे वह जरूर बात करेगा। घर में भी वह उस युवती की ही बात सोचा करता; मगर जाने कितने कल आए और चले गए, मन की बात मन ही मे रह गई। उसके बाद एक दिन युवती पानी भरने नही आई, उसके दूसरे दिन भी नही आई, दिन बीते, सप्ताह गुजरा, महीना बीत गया, आखिर गई कहाँ वह सुपरिचिता किशोरी? बेचारा रोज निराश हो-होकर खेत

से लौटा करता—अपनी यह प्रेम-कथा किसी से कहते भी नहीं बनती। फिर उसे रोजी की फिक्र में कही परदेश मे नौकरी करनी पड़ी। बहुत दिन बीत गए—बीत गए ; लेकिन तो भी वह अपनी उस पनिहारिन प्रेयसी को न भुला सका।

दूर तक फैली सुनील शैलमाला और दिगतव्यापी खेतो की ओर देखते हुए मेरे जी मे आया कि यह कथा कवि वेंकटेशप्रसाद के अपने ही जीवन की अभिज्ञता तो नही है? कविप्रिया का नाम था रुक्मा, यह मैने यो समझा कि इस शीर्षक की कवि की एक कविता है, जो उसने मुझे सुनाई थी। मै सोचने लगा—रुक्मा-जैसी सुदर और गुणवती पत्नी पाकर भी क्या कवि के बचपन का वह दुःख अब तक दूर नहीं हो सका?

वेंकटेशप्रसाद मुझे मेरे तबू तक छोडने आया। रास्ते मे एक बडे बरगद की तरफ इशारा करके कहा—"वह जो पेड़ है, वहाँ उसीके नीचे, एक सभा हुई थी। बहुत-से कवि आए थे, सबने अपनी-अपनी कविताए सुनाई थी। ऐसी सभा को इधर कवि-सम्मेलन कहते है। मै भी बुलाया गया था। मेरी कविता सुनकर पटना के ईश्वरीप्रसाद दुबे ने—'जानते है आप उन्हे? बड़े पंडित है—'दूत' पत्र के सपादक है, खुद कवि भी बहुत अच्छे है—उन्होने मेरी बड़ी तारीफ की थी।"

मैने समझा, बेचारे को जिदगी मे एक ही बार ऐसे सम्मेलन मे खड़े होकर कविता सुनाने का मौका मिला है और वह दिन इसीलिए इसके जीवन मे बडा स्मरणीय है। इतना बडा आदर इसे और कभी नही मिला।

———

से लौटा करता—अपनी यह प्रेम-कथा किसी से कहते भी नही बनती। फिर उसे रोजी की फिक्र में कही परदेश मे नौकरी करनी पड़ी। बहुत दिन बीत गए—बीत गए ; लेकिन तो भी वह अपनी उस पनिहारिन प्रेयसी को न भुला सका।

दूर तक फैली सुनील शैलमाला और दिगतव्यापी खेतो की ओर देखते हुए मेरे जी मे आया कि यह कथा कवि वेकटेशप्रसाद के अपने ही जीवन की अभिज्ञता तो नही है ? कविप्रिया का नाम था रुक्मा, यह मैने यों समझा कि इस शीर्पक की कवि की एक कविता है, जो उसने मुझे सुनाई थी। मै सोचने लगा—रुक्मा-जैसी सुदर और गुणवती पत्नी पाकर भी क्या कवि के बचपन का वह दुख अब तक दूर नही हो सका ?

वेकटेशप्रसाद मुझे मेरे तबू तक छोडने आया। रास्ते मे एक बडे बरगद की तरफ इशारा करके कहा—"वह जो पेड है, वहाँ उसीके नीचे, एक सभा हुई थी। बहुत-से कवि आए थे, सबने अपनी-अपनी कविताए सुनाई थी। ऐसी सभा को इधर कवि-सम्मेलन कहते है। मै भी बुलाया गया था। मेरी कविता सुनकर पटना के ईश्वरीप्रसाद दुबे ने —'जानते है आप उन्हें ? बडे पडित है—'दूत' पत्र के सपादक है, खुद कवि भी बहुत अच्छे है—उन्होने मेरी बडी तारीफ की थी।"

मैने समझा, बेचारे को जिदगी मे एक ही बार ऐसे सम्मेलन मे खड़े होकर कविता सुनाने का मौका मिला है और वह दिन इसीलिए इसके जीवन मे बडा स्मरणीय है। इतना बडा आदर इसे और कभी नही मिला।

तेरहवाँ परिच्छेद

[एक]

तीन महीने के बाद अपने गाँव को लौट रहा था। इतने दिनो में यहाँ नाप-जोख का काम खत्म हो गया।

ग्यारह कोस की दूरी। पिछली बार पूस सक्रान्ति का मेला देखने के लिए इसी मार्ग से आया था। सखुए-पलास का वही जगल, चट्टानो से भरा वही प्रातर, वही ऊँची-नीची पहाडियाँ। कोई दो घटे तक जब चल चुका, तब क्षितिज के पास एक धुँधली-सी रेखा दिखाई पड़ी—मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट।

दिशा बताने वाले इस जाने-पहचाने दृश्य को पिछले तीन महीनों से मैंने नही देखा। इस लंबी अवधि तक यहाँ रहने की वजह से लवटोलिया और नाढा बैहार के प्रति ऐसा एक आकर्षण हो गया था कि ज्यादा दिनो तक और कही रह जाने से तकलीफ होती, लगता कि परदेश मे आ गया हूँ। तीन महीने बाद आज मोहनपुरा जगल की सीमा-रेखा पर नज़र पडते ही उस आनंद की अनुभूति हुई, जो परदेसी को स्वदेश लौटते हुए होती है। वैसे लवटोलिया की सीमा अभी सात-आठ कोस पर थी।

एक छोटे-से पहाड के नीचे बहुत-सी जगह साफ-सुथरी करके कुसुमी की खेती की गई थी। पकने का समय आ गया था, कटनिए खेतो मे आ जुटे थे।

खेत के पास से ही मै गुजर रहा था। अचानक किसी ने मुझे पुकारा —"बाबूजी, ओ बाबूजी—"

मैने उलटकर देखा—पिछले साल वाली मची थी! विस्मित भी हुआ और आनदित भी। मैने घोडे को रोका। हँसिया हाथ में लिए

हुए मंची हँसती हुई दौड़ी आई। बोली—"दूर से ही घोडे को देखकर मै पहचान गई। इधर कहाँ गए थे बाबूजी?"

मंची वैसी ही है—बल्कि पहले से कुछ और तंदुरुस्त हो गई है। कुसुमी की पंखुड़ियों से उसका हाथ और साडी के सामने का हिस्सा रँग गया था।

मैंने कहा—"बहराबुरू पहाड की तलहटी मे काम चल रहा था। तीन महीने से वही था। वही से लौट रहा हूँ। तुम लोग?"

—"कुसुमी काट रही हूँ बाबूजी। दिन तो काफी निकल आया। इस वक्त तो यही रुक जायँ। वह रही झोपडी अपनी।"

मुझसे 'ना' कहते नही बना। मंची ने काम छोड़ दिया और मुझे अपने झोंपड़े मे ले गई। उसका पति नकछेदी भगत भी मेरे आने की बात सुनकर खेत से लौट आया।

नकछेदी की पहली स्त्री झोपडी मे रसोई बना रही थी। मुझे देखकर वह भी खुश हुई।

मगर मंची सब में आगे-आगे थी। मेरे लिए उसने गेहूँ के खड़ का काफी मोटा गद्दा बनाया। छोटे-से कटोरे में महुए का तेल देकर बोली—"आप नहा लीजिए। उस टीले के दक्खिन में एक छोटा-सा कुड है। बड़ा ही निर्मल पानी है। चलिए, मै आपको लिए चलती हूँ।"

मैंने कहा—"मै तो उस पानी में नही नहाऊँगा! बस्ती-भर के लोग उसीमें कपडे फीचते है, मुँह धोते है, नहाते है, बर्तन माँजते है। वह पानी तो बड़ा गदा होगा। तुम लोग भी वही पानी पीते हो क्या? तो मुझे इजाजत दो, मै तो वह पानी नही पी सकता।

मंची सोच मे पड गई। मै ताड गया कि यहाँ उसके सिवाय और पानी कहाँ मिलेगा कि ये उसे न पिएँ? उसको छोडकर दूसरा उपाय भी क्या था?

मंची का उदास चेहरा देखकर मुझे दुःख हुआ। अब तक ये

इस गंदे पानी को खुशी-खुशी पीते चले आ रहे हैं, कभी सोचा भी नही कि इसमें और क्या हो सकता है और आज अगर इसी पानी के चलते मैं इसकी मेहमानी कबूल न करके लौट जाऊँ, तो इस सरल-प्राणा स्त्री के जी को चोट पहुँचेगी।

मैंने कहा—"खैर, उस पानी को खूब उबाल दो—पी लूँगा। और, नहाना रहने दो।"

वह बोली—"क्यो, मैं एक कनस्तर पानी उबाल देती हूँ, आप उसीसे नहा भी लीजिए। अभी बहुत ज्यादा देर नही हुई। मैं अभी पानी ले आती हूँ।"

मची पानी ले आई। रसोई का सारा इतजाम करके बोली—"मेरे हाथ का बनाया तो आप खाएँगे नही। खुद ही बनाइए।"

—"क्यो, खाऊँगा क्यो नहीं, तुम्ही बनाओ।"

—"नही-नही, आप खुद बनाइए। एक दिन के लिए आपकी जात क्यो लूँ, मुझे पाप लगेगा।"

—"पाप-ताप कुछ नही होगा, मैं कहता हूँ, बनाओ तुम।"

लाचार होकर मंची पकाने बैठी। कोई लाम-काफ नही, मोटी-मोटी दो-चार रोटियाँ और जगली निनुए की तरकारी। नकछेदी न जाने कहाँ से भैंस का दूध ले आया।

रसोई में बैठी-मैठी मंची का मन न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। वह किस्सा सुनाने लगी—उड़द काटने पहाडो में गई थी, वहाँ उसने एक बकरा पाला था। वह बकरा कैसे खो गया, इसकी भी कहानी सुननी पडी वही बैठकर।

मुझसे बोली—"कँकवारा में गरम पानी का कुड है, जानते हैं आप? उसीके आस-पास तो आप गए थे, वहाँ नही गए?"

मैंने कहा—"कुड के बारे में सुना तो है, मगर वहाँ जाना नहीं नसीब हुआ।"

हुए मंची हँसती हुई दौडी आई। बोली—"दूर से ही घोडे को देखकर मैं पहचान गई। इधर कहाँ गए थे बाबूजी ?"

मची वैसी ही है—बल्कि पहले से कुछ और तंदुरुस्त हो गई है। कुसुमी की पंखुडियों से उसका हाथ और साड़ी के सामने का हिस्सा रँग गया था।

मैंने कहा—"बहराबुरू पहाड की तलहटी मे काम चल रहा था। तीन महीने से वही था। वही से लौट रहा हूँ। तुम लोग ?"

—"कुसुमी काट रही हूँ बाबूजी। दिन तो काफी निकल आया। इस वक्त तो यही रुक जायँ। वह रही झोंपड़ी अपनी।"

मुझसे 'ना' कहते नही बना। मची ने काम छोड दिया और मुझे अपने झोंपडे मे ले गई। उसका पति नकछेदी भगत भी मेरे आने की बात सुनकर खेत से लौट आया।

नकछेदी की पहली स्त्री झोपडी में रसोई बना रही थी। मुझे देखकर वह भी खुश हुई।

मगर मंची सब मे आगे-आगे थी। मेरे लिए उसने गेहूँ के खड़ का काफी मोटा गद्दा बनाया। छोटे-से कटोरे में महुए का तेल देकर बोली—"आप नहा लीजिए। उस टीले के दक्खिन मे एक छोटा-सा कुड है। बड़ा ही निर्मल पानी है। चलिए, मैं आपको लिए चलती हूँ।"

मैंने कहा—"मै तो उस पानी में नही नहाऊँगा। बस्ती-भर के लोग उसीमे कपडे फीचते है, मुँह धोते है, नहाते है, बर्तन माँजते हैं। वह पानी तो बडा गंदा होगा। तुम लोग भी वही पानी पीते हो क्या? तो मुझे इजाजत दो, मै तो वह पानी नही पी सकता।

मची सोच में पड गई। मै ताड गया कि यहाँ उसके सिवाय और पानी कहाँ मिलेगा कि ये उसे न पिएँ? उसको छोडकर दूसरा उपाय भी क्या था?

मची का उदास चेहरा देखकर मुझे दु:ख हुआ। अब तक ये

इस गंदे पानी को खुशी-खुशी पीते चले आ रहे है, कभी सोचा भी नही कि इसमें और क्या हो सकता है और आज अगर इसी पानी के चलते मै इसकी मेहमानी कबूल न करके लौट जाऊँ, तो इस सरल-प्राणा स्त्री के जी को चोट पहुँचेगी।

मैंने कहा—"खैर, उस पानी को खूब उबाल दो—पी लूँगा। और, नहाना रहने दो।"

वह बोली—"क्यो, मै एक कनस्तर पानी उबाल देती हूँ, आप उसीसे नहा भी लीजिए। अभी वहुत ज्यादा देर नही हुई। मै अभी पानी ले आती हूँ।"

मंची पानी ले आई। रसोई का सारा इंतजाम करके वोली—"मेरे हाथ का बनाया तो आप खाएँगे नही। खुद ही बनाइए।"

—"क्यो, खाऊँगा क्यों नहीं, तुम्ही बनाओ।"

—"नहीं-नही, आप खुद बनाइए। एक दिन के लिए आपकी जात क्यों लूँ, मुझे पाप लगेगा।"

—"पाप-ताप कुछ नही होगा, मै कहता हूँ, बनाओ तुम।"

लाचार होकर मची पकाने वैठी। कोई लाम-काफ नही, मोटी-मोटी दो-चार रोटियाँ और जगली निनुए की तरकारी। नकछेदी न जाने कहाँ से भैस का दूध ले आया।

रसोई में वैठी-मैठी मंची का मन न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। वह किस्सा सुनाने लगी—उड़द काटने पहाड़ो मे गई थी, वहाँ उसने एक बकरा पाला था। वह बकरा कैसे खो गया, इसकी भी कहानी सुननी पड़ी वही वैठकर।

मुझसे बोली—"कँकवारा में गरम पानी का कुड है, जानते हैं आप? उसीके आस-पास तो आप गए थे, वहाँ नही गए?"

मैंने कहा—"कुड के वारे मे सुना तो है, मगर वहाँ जाना नहीं नसीब हुआ।"

मंची बोली—"आपको पता है, मैं एक बार वहाँ पिटी थी, मुझे नहाने नही दिया गया था ?"

उसके पति ने कहा—"वह भी एक अजीब घटना रही। वहाँ के पंडे बड़े बदमाश है।

मैंने पूछा—"क्या हुआ था ?"

मची ने अपने पति से कहा—"आप बाबूजी को बता दे। ये तो कलकत्ता रहते है। लिख मारेंगे, तो बच्चू को पता चलेगा !"

नकछेदी ने कहा—"वहाँ सूरजकुड जो है, वह बहुत अच्छा है। यात्री उसमें नहाते है। हम लोग उन दिनो आँवलातल्ली की तलहटी मे उडद काट रहे थे। इस बीच आ पडा पूर्णिमा का योग। मंची काम-धाम छोडकर नहाने चली गई। मुझे बुखार आ रहा था, नहाना नही था। बडी बहू तुलसी भी नही गई। धरम-करम पर उसे वैसा विश्वास भी नही है। मची सूरजकुड में उतरने लगी कि पडो ने कहा—'उधर कहाँ जाती है ?' मंची ने कहा—'नहाने जा रही हूँ, और कहां ?' पडो ने पूछा —'कौन जात है तू ?' वह बोली—'गगोता।' पंडो ने कहा—'हम गगोतों को कुंड में नही नहाने देते, लौट जा तू।' 'मंची को तो आप जानते ही है, कैसी है !' वह बोली—'यह तो पहाड़ी झरना है, इसमें कोई भी नहा सकता है। इतने लोग तो नहा रहे है, सब क्या ब्राह्मण और छत्री ही हैं ?' और वह कुंड में उतरने लगी। पडो ने उसे घसीटकर मारते-मारते निकाल दिया। वह रोती-रोती लौट आई।"

—"फिर ?"

—"फिर क्या होता बाबूजी ! हम गरीब गगोते, कटनिए ठहरे। हमारी फरियाद सुनता भी कौन ? मैंने इसे दिलासा दिया—रो मत, मै तुझे मुगेर के सीताकुड से नहला लाऊँगा।"

मंची बोली—"आप जरा इसे लिख तो देगे बाबूजी, बगाली

बाबुओ की कलम में बडा जोर रहता है—ये कबख्त जरा आटे-दाल का भाव समझेंगे।"

मैंने सोत्साह कहा—"जरूर लिखूँगा मैं।"

इसके बाद मची ने मुझे बडे जतन से खिलाया। उसका आग्रह और सेवा-जतन मुझे बड़ा अच्छा लगा।

रुखसत होते समय मैंने बार-बार कहा—"जौ-गेहूँ की कटनी के समय लवटोलिया बैहार जरूर आना।"

मंची बोली—"यह भी कहने की बात है—जरूर जाऊँगी।" लौटते हुए लगा कि मची आनद, स्वास्थ्य और सरलता की प्रतिमूर्ति हो मानो। मानो इस वन-भूमि की वह लक्ष्मी हो—परिपूर्ण यौवना, जीवनमयी, तेजस्विनी लेकिन मुग्धा, अनभिज्ञ, बालस्वभावा।

बंगाली की कलम के जोर का भरोसा करनेवाली उस औरत को उस दिन जो वचन देकर आया था, आज इतने दिनो के बाद मैंने उसक पालन किया—पता नही, अब इससे उसका कौन-सा उपकार होगा। आज जाने वह कहाँ है, कैसी दशा में है, जीवित भी है या नही, कौन जाने।

[दो]

सावन का महीना था। नए मेघो की करुणा बहुत पहले ही बरस पडी थी, नाढा और लवटोलिया बैहार या ग्राट साहब के बरगद के नीचे खडे होकर चारो तरफ निगाह दौडाइए, तमाम हरे समुद्र-सा नया कोमल कास-वन लहरा उठा है।

राजा दोबरू पन्ना ने झूलने का न्योता भेजा था। एक दिन पूर्णिमा के उत्सव में शामिल होने के लिए मै चला। राजू और मटुकनाथ ने भी पीछा नही छोडा, साथ लग लिए। उन्हे पैदल जाना था, सो वे मुझसे पहले ही रवाना हो गए।

डेढ बजे के करीब डोंगी से भिद्दी नदी को पार किया। सबके

मंची बोली—"आपको पता है, मै एक बार वहाँ पिटी थी, मुझे नहाने नही दिया गया था?"

उसके पति ने कहा—"वह भी एक अजीब घटना रही। वहाँ के पडे बड़े बदमाश है।

मैने पूछा—"क्या हुआ था?"

मची ने अपने पति से कहा—"आप बाबूजी को बता दे। ये तो कलकत्ता रहते है। लिख मारेगे, तो बच्चू को पता चलेगा!"

नकछेदी ने कहा—"वहाँ सूरजकुड जो है, वह बहुत अच्छा है। यात्री उसमे नहाते है। हम लोग उन दिनो आँवलातल्ली की तलहटी मे उडद काट रहे थे। इस बीच आ पडा पूर्णिमा का योग। मंची काम-धाम छोडकर नहाने चली गई। मुझे बुखार आ रहा था, नहाना नही था। बड़ी बहू तुलसी भी नही गई। धरम-वरम पर उसे वैसा विश्वास भी नही है। मंची सूरजकुड मे उतरने लगी कि पंडो ने कहा—'उधर कहाँ जाती है?' मंची ने कहा—'नहाने जा रही हूँ, और कहां?' पंडो ने पूछा —'कौन जात है तू?' वह बोली—'गगोता।' पंडों ने कहा—'हम गगोतो को कुड में नही नहाने देते, लौट जा तू।' 'मंची को तो आप जानते ही है, कैसी है!' वह बोली—'यह तो पहाड़ी झरना है, इसमें कोई भी नहा सकता है। इतने लोग तो नहा रहे है, सब क्या ब्राह्मण और छत्री ही हैं?' और वह कुंड में उतरने लगी। पडों ने उसे घसीटकर मारते-मारते निकाल दिया। वह रोती-रोती लौट आई।"

—"फिर?"

—"फिर क्या होता बाबूजी! हम गरीब गगोते, कटनिए ठहरे। हमारी फरियाद सुनता भी कौन? मैने इसे दिलासा दिया—रो मत, मै तुझे मुगेर के सीताकुड से नहला लाऊँगा।"

मची बोली—"आप जरा इसे लिख तो देगे बाबूजी, बंगाली

बाबुओं की कलम में बड़ा जोर रहता है—ये कबख्त जरा आटे-दाल का भाव समझेंगे।"

मैंने सोत्साह कहा—"जरूर लिखूँगा, मैं।"

इसके बाद मंची ने मुझे बड़े जतन से खिलाया। उसका आग्रह और सेवा-जतन मुझे बड़ा अच्छा लगा।

रुखसत होते समय मैंने बार-बार कहा—"जौ-गेहूँ की कटनी के समय लवटोलिया बैहार जरूर आना।"

मची बोली—"यह भी कहने की बात है—जरूर जाऊँगी। लौटते हुए लगा कि मची आनंद, स्वास्थ्य और सरलता की प्रतिमूर्ति हो मानो। मानो इस वन-भूमि की वह लक्ष्मी हो—परिपूर्ण यौवना, जीवनमयी, तेजस्विनी लेकिन मुग्धा, अनभिज्ञ, बालस्वभावा।

बंगाली की कलम के जोर का भरोसा करनेवाली उस औरत को उस दिन जो वचन देकर आया था, आज इतने दिनो के बाद मैंने उसक पालन किया—पता नही, अब इससे उसका कौन-सा उपकार होगा। आज जानें वह कहाँ है, कैसी दशा मे है, जीवित भी है या नही, कौन जाने!

[दो]

सावन का महीना था। नए मेघो की करुणा बहुत पहले ही बरस पडी थी, नाढा और लवटोलिया बैहार या ग्राट साहब के बरगद के नीचे खडे होकर चारो तरफ निगाह दौडाइए, तमाम हरे समुद्र-सा नया कोमल कास-वन लहरा उठा है!

राजा दोबरू पन्ना ने झूलने का न्योता भेजा था। एक दिन पूर्णिमा के उत्सव मे शामिल होने के लिए मै चला। राजू और मटुकनाथ ने भी पीछा नही छोड़ा, साथ लग लिए। उन्हे पैदल जाना था, सो वे मुझसे पहले ही रवाना हो गए।

डेढ बजे के करीब डोंगी से मिद्दी नदी को पार किया। सबके

पार होते-होते ढाई बज गए। मैं सबको छोड़कर घोड़े से आगे निकल गया।

पश्चिम के आसमान मे घने मेघ घिर आए और जरा देर में झमाझम पानी पडना शुरू हो गया।

अरण्य-प्रातर में झमाझम झडी का अपूर्व ही दृश्य देखा! मेघों से सारी शैलमाला नीली हो उठी, बिजली वाले घने काले मेघो से आच्छन्न आकाश, कही-कही सखुए या केंद की डालो पर पख फैलाए नृत्य-तत्पर मोर, पहाडी झरनो में बालक-बालिकाएँ कटची की चचटी लगाकर नन्ही-नन्ही मछलियाँ पकड रहे थे, धुमैली चट्टाने भीग कर काली दिखने लगी थी और उन पर चरवाहे सखुए के पत्तों के बने चुरुट पी रहे थे। शांत और सुनसान स्थान—जंगल और जंगल, प्रातर-पर-प्रातर, झरने, पहाड़ी बस्तियाँ, रगीन मिट्टीवाली जमीन, कहीं-कही फूले कदब और पियार के पेड।

साँझ से पहले ही मै राजा दोबरू पन्ना की राजधानी मे पहुँच गया।

पिछली बार का कमरा मेहमानो के लिए लीप-पोतकर रक्खा गया था। दीवारो पर गेरू की पोताई, कमल और मोर के चित्र, सखुए के खंभो पर लता और फूलो की झालर। मैं घोड़े से पहले ही पहुँच गया—मेरा बिस्तर नही पहुँच सका था; मगर मुझे उससे कोई असुविधा नही हुई। नई चटाई कमरे मे बिछी थी, दो तीन साफ तकिए भी उस पर डाल दिए गए।

कुछ क्षणों के बाद पीतल की तश्तरी मे फल-मूल और कटोरे मे गरम दूध लिए कमरे मे भानुमती आई और उसके पीछे-पीछे सखुए के पत्ते पर छुट्टे पान, समूची सुपारी और पान के और-और मसाले लिए, उसी की हमउम्र एक दूसरी लड़की आई।

भानुमती जमुनिया रंग की साडी पहने थी, जो घुटने तक उठ आई थी, गले में सब्ज और नीले दानो की माला, जूड़े में स्पाइडर

लिली के फूल। और भी तंदुरुस्त तथा लावण्यमयी हो उठी थी भानुमती—गठे हुए वदन मे जवानी के लावण्य का ज्वार उभर उठा था; लेकिन आँखो की सरलता वही रह गई थी, जो पहले देख आया था।

मैने पूछा—"क्यो भानुमति अच्छी तो हो?"

नमस्कार करना भानुमती जानती ही नही थी। मेरे उत्तर मे हँस कर वह वोली—"और आप?"

—"मै सकुशल हूँ।"

—"कुछ खा लीजिए। तमाम दिन घोड़े पर सवार रहे हो, भूख तीखी लग आई होगी।"

मेरे हॉ-ना का उसने इंतजार ही न किया और घुटने गाड़ कर, नीचे वैठ गई। तश्तरी मे से पपीते के दो टुकड़े निकालकर उसने मेरे हाथ मे दिए।

उसका यह नि.सकोच वंधुत्व मुझे अच्छा लगा। मेरे-जैसे आदमी के लिए यह व्यवहार अद्भुत, अप्रत्याशित-सा नया, सुदर और मधुर था। कोई बंगालिन-किशोरी ऐसा करती कभी? औरतों के बारे मे कहाँ तो हमारा मन सदा-सर्वदा सिकुड़ा-सिमटा रहता है। उनके बारे में न तो जी खोलकर सोच सकते है, न प्राण खोलकर उनसे मिल सकते है।

यह भी पाया मैने कि यहॉ के प्रातर जैसे खुले है, वन, मेघमाला, गिरि-पंक्तियाँ जैसी मुक्त और दूरच्छन्दा है, वैसा ही संकोचहीन, सरल और वाधाविहीन है भानुमती का व्यवहार। आदमी से आदमी का जैसा स्वाभाविक व्यवहार होना चाहिए। ऐसा ही व्यवहार मैने मंची और वेकटेश्वरप्रसाद की स्त्री मे भी पाया। जगल और पहाड़ों ने इनके मन को मुक्त कर दिया है, दृष्टि को उदार कर दिया है—उसी अनुपात मे इनका प्रेम भी मुक्त, दृढ और उदार है। चूँकि इनका मन वड़ा है, इसलिए इनका प्रेम भी महत् है।

मगर पास मे वैठकर भानुमती ने अपने हाथों से जिस प्रकार

खिलाया, उसकी तुलना नही हो सकती! उस दिन मैंने नारी के नि.संकोच व्यवहार की मधुरता को अपने जीवन मे पहली बार अनुभव किया। समझा कि नारी जब स्नेह करती है, तब न जाने कौन-से स्वर्ग का द्वार खोल देती है!

भानुमती के अदर जो आदिम नारी है, सभ्य समाज मे संस्कार और बंधन के दबाव से उस नारी की आत्मा मूर्च्छित पड़ी है।

पिछली बार इससे जो व्यवहार मिला था, अबकी का व्यवहार उससे भी अधिक अपनापन लिए था। भानुमती ने समझा है कि मैं उसके परिवार का बन्धु हूँ, उनका भला चाहने वाले अपनो मे से ही एक हूँ, लिहाजा उससे जो व्यवहार मिला, वह अपनी स्नेहमयी सगी बहन का व्यवहार था।

इतने दिन हो गए; किंतु भानुमती की वह प्रीति और बंधुत्व की बात मेरे स्मृति-पटल पर वैसी ही उज्ज्वल है। जगली सभ्यता के उस दान के आगे मेरे मन मे सभ्य समाज के अनेक वैभव निस्तेज होकर पड़े हैं।

अब तक राजा दोबरू उत्सव के आयोजनों मे लगे थे। अव मेरे कमरे मे आए।

मैंने पूछा—"झूला क्या आपके यहाँ बराबर होता है?"

वे बोले—"यह उत्सव पुश्तैनी है। इस मौके पर दूर-दूर के सगे-संबंधी यहाँ नाचने को आते है। कल ढाई मन चावल यहाँ पकेगा!"

मटुकनाथ विदाई के लोभ से आया था। उसने सोच रक्खा था, बहुत बड़े राजा का दरबार है, कितना क्या होगा जानें। उसके चेहरे से लगा, उसे निराशा हुई। लगा, इस राजदरबार से तो उसकी पाठशाला ही अच्छी है।

राजू से मन की बात दबाते न बनी। बोल उठा—"यह राजा कहाँ है हुजूर, संथाल-सरदार तो है! मेरे यहाँ जितनी भैसे है, मैंने सुना है, राजा के यहाँ उतनी भी नही!"

इसी वीच उसने राजा की धन-सपत्ति की भी थाह पा ली—गाय-भैंस इधर वैभव का बहुत बडा मानदंड है। जिसके जितनी अधिक भैंसें हैं, इधर वह उतना ही बडा आदमी गिना जायगा।

काफी रात गए चौदहवी की चॉदनी ने जब गृहस्थो के ऑगन में ज्योति-तिमिर का जाल-सा वुन दिया, तब राजमहल से नारियो के समवेत स्वर मे एक अजीब ढग का गीत सुनाई पडा। कल सावनी पूर्णिमा होगी, वाहर से आई हुई मेहमान और राजकुमारी की सहेलियॉ कल के नाच-गीत की तैयारी कर रही थी। उनके गीत और मादर की आवाज रात-भर एक साथ उठती रही।

सुनते-सुनते मै जाने कब सो गया, नीद मे भी मानो कितनी ही वार मै उनका वह गीत सुन रहा था।

[तीन]

दूसरे दिन झूले का उत्सव देखा, तो मटुकनाथ और राजू ही क्या, मुनेश्वरसिंह भी मुग्ध हो गया।

सुबह ही देखा, आस-पास की वस्तियो से भानुमती की हम-उम्र कोई तीस-एक लडकियाँ आ जुटी है। एक प्रथा मुझे इनकी अच्छी लगी कि नाच-गान की ऐसी वाढ में भी उन्होंने महुए की शराव नही पी। मैंने राजा दोवरू से इसके वारे मे पूछा भी। उन्होने नाज के साथ हँसकर कहा—"हमारे कुल की औरतो मे यह बात नही। फिर मै आज्ञा न दूँ, तो किसी की मजाल नही कि मेरे वाल-वच्चों के सामने शराव पिए।"

दोपहर को मटुकनाथ ने मुझसे चुप-चुप कहा—"देखता हूँ, ये राजा साहव तो मुझसे भी गए-बीते है। पकाने के लिए बड़ा ही मोटा और लाल चावल दिया है, पका कोहड़ा और जगली परोल। इतने सारे लोगो के लिए आखिर मै क्या पकाऊँ?"

सवेरे से भानुमती की शक्ल भी नही दिखाई दी। जब मैं खाने को ा, तब एक कटोरे में दूध लिए वह मेरे पास आकर बैठ गई।

मैंने कहा—"रात तुम्हारा गाना मुझे बड़ा अच्छा लगा।"

हँसकर उसने पूछा—"हमलोगो के गीत आप समझ लेते है?"

मैंने कहा—"क्यों, तुम लोगों के बीच रहते हुए इतने दिन हो ;, तुम्हारे गीत समझूँगा क्यो न भला!"

—"आज शाम आप झूला देखने जाएँगे न?"

—"उसी के लिए तो आया हूँ। कितनी दूर जाना है?"

वनझरी पहाड की तरफ अँगुली दिखाकर भानुमती बोली—"उस ाड तक तो आप गए है। हम लोगो का मदिर नही देखा है क्या?"

इतने में उसकी हमजोली लडकियाँ दरवाजे पर आकर रुकीं और : कौतूहल से मेरा खाना देखकर आपस में जाने क्या-क्या बोलने-तेयाने लगी।

भानुमति बोली—"यहाँ क्या है, जाओ।"

उनमे से एक जरा चचल थी। बढकर बोली—"झूले के दिन ब्र साहब को नमक-करौदा तो खाने को नही दे दिया है तू ने?"

बाकी लडकियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ी और एक दूसरे के बदन : गिरने लगी।

मैंने भानुमती से पूछा—"ये हँस क्यों रही है?"

लजाती हुई बोली—"उन्ही से पूछ लो, मै क्या जानूँ?"

इतने में एक लड़की ने मेरी पत्तल में कमरख और मिर्च डाल ग और बोली—"मिर्च का अचार खा लें बाबूजी। भानुमती तो पको केवल मिठाई ही खिला रही है। यह कैसे होगा—हम कुछ ड़वा भी खिला लें।

फिर सभी लड़कियाँ ठठाकर हँस पड़ी। इतनी-इतनी तरुणियो की .ल हँसी से दिन में ही पूनो की चाँदनी छिटक पड़ी।

साँझ से पहले युवक-युवतियो की एक टोली पहाड़ की ओर

रवाना हुई। हम भी उन्ही के साथ लग गए—एक विशाल जुलूस ही समझिए! पूरब की तरफ नवादा-लक्ष्मीपुर की सरहद पर धनझरी पहाड़, जिसके नीचे से मिट्टी नदी उत्तर की ओर प्रवाहित हुई है, उसी पहाड पर पूर्णमासी का पूर्ण चद्र उगता आ रहा था। एक तरफ नीची उपत्यका—जंगलों से हरी-भरी, दूसरी तरफ धनझरी की पक्ति। मील-भर चलकर हम पहाड के नीचे पहुँचे। थोडी उँचाई चढ़ जाने पर एक समतल-सी जगह पड़ती थी। उसके बीचोबीच पियार का एक पेड, जिसके तने को फूल और लता ने घेर रक्खा था। राजा दोवरू ने बताया, यह पेड़ बड़ा पुराना है, मैं बचपन से ही इसे देखता आया हूँ। झूले के समय स्त्रियाँ इसी के नीचे नाचा करती हैं।

ताड के पत्ते की चटाई डालकर हमलोग एक तरफ बैठ गए। और पूनो की चाँदनी से धुली उस वनभूमि मे लगभग तीस तरुणियाँ पेड़ का चक्कर काटती हुई नाचने लगी—कुछ युवक मादर (मृदंग) बजाते हुए उनके साथ घूमने लगे। भानुमती, दल मे सबसे आगे थी। लड़कियो के जूड़े में फूलो की माला, वदन मे फूलो के गहने लदे थे।

बड़ी रात तक यह नृत्य-गीत लगातार चलता रहा। बीच-बीच में वे थोडा साँस भी ले लेती और फिर नाचना शुरू कर देती—मादर के बोल, चाँदनी, वर्षास्निग्ध वनभूमि और सुठाम, श्यामा नृत्परायण तरुणियो की टोली—सब मिलकर किसी बड़े चित्रकार की आँकी हुई तस्वीर जैसी शोभामयी लग रही थी। उसका आकुल आवेदन किसी मधुर-सगीत-सा प्रतीत हो रहा था। सोलकी राजकन्या और उनकी सहचरियो के ऐसे ही झूले के नाच-गान की बात याद हो आई, चरवाहे बालक बप्पादित्य को खेल के बहाने माला देने की बात।

इससे भी सुदूर अतीत के, प्राचीन प्रस्तर-युग के भारत के रहस्य से ढँके इतिहास की सारी घटनाएँ मेरी आँखों के आगे मानो फिर से अभिनीत होने लगी—भानुमती और उसकी सखियो के नृत्य मे आदिम

भारत की वह संस्कृति मानो मूर्तिमती हो उठी है—हजारो साल पहले ऐसे कितने ही वन, कितनी पर्वतमालाएँ, ऐसी कितनी ही चाँदनी रातें भानुमती-जैसी कितनी ही वालिकाओ के नृत्य-चंचल चरणो के छंद से आकुल हो उठी थी; उनकी वह हँसी आज भी मरी नही, इन जंगलो और गिरि-मालाओ की आड़ से वे अपने वर्धमान वशधरो के लहू मे आज भी उत्साह और आनन्द की उस वाणी को भेजती रहती है।

गहरी रात। पच्छिम के जंगल के पीछे चाँद झुक गया। हम सभी पहाड से नीचे उतर आए। यह अच्छा रहा कि आसमान मे आज वदली नहीं थी, मगर सुबह की तरफ ओदी हवा काफी सर्द हो गई। उतनी रात वीतने पर भी खाने वैठा, तो भानुमती दूध और पेडा लेकर आई।

मैंने कहा—"तुम लोगो का वेहतरीन नाच रात मैंने देखा।"

लजाकर वह बोली—"आपको वह नाच भला क्या लगेगा, भला—कलकत्ता में यह सब कोई देखता भी है!"

दूसरे दिन भानुमती और उसके प्रपितामह लौटने देने में आनाकानी करने लगे। मगर रुकने से अपना काम नही चल सकता था, सो लौट आया।

चलते समय भानुमती ने कहा—"कलकत्ता से मेरे लिए एक आईना ला देंगे वावूजी? मेरे पास एक था; पर कुछ दिन हुए वह टूट गया!"

सोलह साल की सुंदरी तरुणी को आईने की कमी! आखिर आइना वना किसके लिए है? एक हफ्ते के अंदर ही मैंने पूर्णियाँ से एक आइना मँगवा कर उसे भिजवा दिया था।

—

चौदहवाँ परिच्छेद

[एक]

कई महीने बाद, फागुन का आरभ। लवटोलिया से मै अपनी कचहरी को लौट रहा था। रास्ते मे कुड के पास बँगला बोली सुनाई पडी। मैंने घोडे को रोका। जितना ही पास पहुँचने लगा, मेरा अचरज बढता गया। औरतो की भी आवाज आ रही थी—आखिर माजरा क्या है? जंगल से होकर मे कुंड के पास पहुँचा। देखता क्या हूँ कि झाऊ की झाडियों के पास दरी डाल कर आठ-दस बगाली बाबू गप-शप कर रहे हैं। पास ही पाँच-छै औरते कुछ पका रही हैं, छै-सात बच्चे-बच्चियाँ दौड-धूप रही हैं। मै समझ नही सका कि इतने सारे औरत-मर्द इस जगल में पिकनिक के लिए कहाँ से आ गए? मै अवाक् खडा रह गया। इतने मे उन लोगों की नजर मुझ पर पडी। एक ने बगला मे कहा—"अरे , यह कम्बख्त सत्तू कहाँ से आ गया?"

मै घोडे से उतर कर उनके पास गया। पूछा—"आप लोग तो बगाली-से दीखते है—यहाँ कैसे आना हुआ?"

वे अचभे में पड गए, कुछ अप्रतिभ भी हुए। बोले—"ओ, आप बंगाली है? हे-हे बुरा न मानेंगे, हमने सोचा—हे-हे .."

मैंने कहा—"जी बुरा मानने की क्या बात है इसमे? मगर आप लोग कहाँ से आए और इन औरतो के साथ . . ."

बाते होने लगी। दल मे जो प्रौढ सज्जन थे, वे रिटायर्ड डिप्टी मजिस्ट्रेट थे—राय बहादुर। बाकी लोग उन्ही के लडके, भतीजे, भतीजी, लडकी, पोती, दामाद के दोस्त आदि। कलकत्ता मे राय बहादुर ने किसी किताब में पढा था कि पूर्णियाँ मे शिकार बहुत मिलता है। पूर्णियाँ में उनके भाई मुसिफ थे, वे यह देखने के लिए यहाँ आकर टिके थे कि सच-

मुच ही यहाँ शिकार की सहूलियत है या नहीं। आज सुबह के ट्रेन से चले और दस बजे कटोरिया मे उतरे। वहाँ से नाव पर चढ़कर कोसी पार करके पिकनिक के लिए यहाँ आए, क्योंकि जिसके मुँह से भी सुना, यही सुना कि लवटोलिया, बोमाइबुरू और फुलकिया का जगल नही देखा, तो कुछ नही देखा। सो यहाँ से पिकनिक खत्म करके ये मोहनपुरा के पास कोसी में नाव पर सवार होंगे और आज ही रात को कटोरिया पहुँच जाएँगे।

मैं तो अवाक् रह गया। सबल के नाम पर उनके पास एक दोनली बदूक थी, बस। उसी के भरोसे पर बाल-बच्चो के साथ थे इस घोर जंगल मे पिकनिक के लिए चले आए। साहस की तारीफ करनी पड़ी, लेकिन राय बहादुर तो दुनिया देखे हुए व्यक्ति थे, उन्हे जरा सावधान होना चाहिए था। साँझ होते-होते इधर के जगली लोग भी मोहनपुरा जगल के पास से गुजरने की हिम्मत नही करते। जगली भैसो का खतरा रहता है। बाघ भी निकल आए, तो ताज्जुब नही। बनैले सूअर और साँपो की तो बात ही क्या। बच्चो के साथ पिकनिक मे आने की यह जगह ही नही।

राय बहादुर मुझे छुट्टी देने को राजी न थे—बैठना ही पडेगा, चाय पीनी ही पडेगी। मेरा हाल पूछने लगे—मै यहाँ इस जगल में क्या करता हूँ। लकडी का तो व्यवसाय नही करता ? मैंने अपना सारा किस्सा बताया और सबके साथ उन्हे अपने यहाँ रात बिताने का अनुरोध किया; मगर वे रुकने को राजी न हुए। आज रात तक उन्हे पूर्णियाँ पहुँचना जरूरी था, नही तो वहाँ लोग फिक्र मे पड जायँगे।

मैं समझ नही सका कि ये इतनी दूर जगल मे पिकनिक करने को आए क्यो। लवटोलिया के मुक्त प्रांतर और वन, दूर की पहाड़ियों की शोभा, सूर्यास्त की सुषमा, पछियों की बोली, पास ही वन के माथे पर वसन्त के न जाने कितने तरह के फ़ूल खिले थे—मैंने देखा कि इन बातो का इन्हे जरा भी खयाल नही। ये तो केवल चीख रहे थे,

उछल-कूद रहे थे, गीत गा रहे थे और इस फिक्र मे लगे थे कि खाने की क्या तदबीर हो। लडकियाँ जो थी, उनमे से दो तो कलकत्ता मे कालेज मे पढती थी, बाकी स्कूल में। लडकों में से एक था मेडिकल कालेज का छात्र, दूसरे सब स्कूल-कालेज के विद्यार्थी, मगर किसी तरह से हो, जब प्रकृति के इस अचरज-भरे सौन्दर्य-राज्य मे आ ही निकले थे, तो भी उन्हे देखने की आँखे ही न थी। सच पूछिए, तो ये लोग तो शिकार के लिए आए थे, खरगोस, चिडिया, हिरन—मानो ये जीव इनकी गोली का निशाना बनने के लिए राह के किनारे ही बैठे हो!

और जो लडकियाँ आई थी, वैसी कल्पनालेश हीन लडकियाँ कही भी जो देखी हो मैने! बस इधर से उधर की दौड-धूप, जगल से रसोई के लिए सूखी लकडियाँ बटोर कर लाना और बक-बक—उनमे से किसी ने भी एक बार चारो तरफ निहार कर नही देखा कि उनकी यह खिचडी कहाँ बन रही है, किस निविड सौन्दर्यमय वन के किनारे।

एक लडकी बोली—"यहाँ 'टिन कटर' ठोकने की बडी सुविधा है, क्यो? पत्थर कितने है।"

एक दूसरी ने कहा—"उँह, क्या जगह है यह—बढ़िया चावल कही ढूँढ़े नही मिलता। कल सारे शहर की खाक छानती रही—कैसा घिनौना चावल मिला, तिस पर तुर्रा यह कि तुम लोग पुलाव पकाने के मनसूबे गाँठ रहे थे।"

उन्हे क्या पता था कि जहाँ वे रसोई पका रही थी, वहाँ चाँदनी रात में परियाँ आकर खेला करती है?

उन्होने बाइस्कोप की बाते शुरू की। रात भी उन्होने पूर्णियाँ में तसवीर देखी और वह शायद बिलकुल वाहियात थी। बस, इसी तरह की बातचीत। साथ ही कलकत्ता के सिनेमा से यहाँ की तुलना! ढेकी स्वर्ग मे भी धान ही कूटता है जाकर—बात झूठ नही। शाम के पाँच बजे वे चल दिए।

जाते समय जमे दूध और जैम के कुछ खाली डिब्बे छोड़ गए। वहाँ पेड़ो के नीचे ये चीजें मुझे कैसी तो बेमेल लगी।

[दो]

वसत के विदा होते ही इस साल लवटोलिया मे गेहूँ की फसल पक गई। पिछले साल अपने मौजे मे सरसो की फसल बहुत ज्यादा थी, अबकी बहुत खेतो मे गेहूँ भी था, सो वैशाख के आरभ ही मे कटनी का मेला लग गया।

कटनिए जैसे भविष्यद्रष्टा थे, इस साल सर्दियो में वे नही आए, इस समय जमात बाँधकर आने और जंगल के पास, मैदानो मे झोपड़े बनाकर रहने लगे। दो-तीन हजार बीघे मे फसल लगी थी, लिहाजा मजदूर भी तीन-चार हजार से कम नही आए होगे। सुना, अभी लोग आ ही रहे है।

मैं सुबह जो घोडे की पीठ पर सवार होता, सो शाम को ही उतरता। जाने कैसे-कैसे लोग आ रहे है, इनमे कितने बदनाश, कितने गुडे, कितने रोगी होंगे, सब पर निगाह न रखने से ऐसी जगह मे, जहाँ पुलिस नही, कभी भी कोई दुर्घटना हो सकती है।

एकाध घटना सुना ही दूँ।

एक दिन रास्ते में दो लड़के और एक लडकी रोते मिले। मै घोड़े से उतर पडा। पूछा—"क्यो रो रहे हो, क्या हुआ?"

उन्होंने जो बताया, उसका साराश यह है—वे लडके उस गाँव के नही थे, नंदलाल ओझा गोलावाला के गाँव के थे। सगे भाई-बहन थे, सब मेला देखने आए थे। आज ही आए थे। कही लाठी और फंदे का जूआ चल रहा था। बडा लडका खेलने लगा। एक लाठी जमीन से लगी खडी थी, उसी पर रस्सी फेंकनी पडती थी। अगर लाठी मे फदा लग गया, तो एक का चार लीजिए।

बड़े भाई के पास दस आने पैसे थे। उसने बार-बार फंदा फेंका,

और एक बार भी न लग सका। इस तरह वह अपना सब हार गया। छोटे भाई के आठ आने और बहिन के चार आने भी हार बैठा। पास मे फूटी पाई भी न रही कि कुछ खा सके, तमाशा देखने की तो दूर रही।

मैंने उन्हे चुप होने को कहा और जहाँ जुआ हो रहा था, उन्हें लेकर उसी तरफ चला। पहले तो वे जगह ही नही बता पा रहे थे, अत मे वहेड़े का एक पेड दिखाकर बोले, इसी के नीचे जुआ हो रहा था। लेकिन वहाँ कोई नही था। कचहरी के जमादार रूपसिंह का भाई मेरे साथ था। उसने कहा—"ऐसे जुआरी भी कही एक जगह ठहरते है हुजूर। चल दिए होगे कही।"

तीसरे पहर वह जुआरी पकड गया। किसी बस्ती मे वह जुआ खेल रहा था। मेरे प्यादो ने देखा, पकड़ लाए। उन बच्चों ने भी जुआरी को पहचाना।

पहले तो वह पैसे लौटाने को राजी नही हो रहा था। बोला—"मैंने इनके पैसे छीन तो नही लिए, खेल कर ये खुद ही हार गए है, इसमे मेरा कौन-सा कसूर है ?" लेकिन उन बच्चों के पैसे तो उसे देने ही पडे। मैंने हुक्म दिया कि इसे पुलिस के हवाले करो।

वह पैरों पडकर गिडगिड़ाने लगा। मैंने पूछा—"तुम्हारा घर ?"

—"बलिया जिला, बाबूजी !"

—"लोगो को इस तरह ठगा क्यो करते हो ? कितने पैसे ठगे ?"

—"गरीब आदमी हूँ हुजूर, मुझ पर रहम करे। तीन दिन मे कुल दो रुपए तीन आने पैदा कर सका हूँ।"

—"इन मजदूरों से तीन दिन में तुमने बहुत ज्यादा पैदा किया है।"

—"मगर साल मे रोजगार के ऐसे मौके ही कितने आते हैं हुजूर ? सारे वर्ष में तीस-चालीस रुपए की आमदनी हो पाती है।"

मैंने उसे इस शर्त पर छुडवा दिया, कि आज ही वह मेरा गाँव छोड़ कर चला जाय। उस दिन से फिर उसे वहाँ किसी ने नही देखा।

कटनियो मे इस बार मंची को न देखकर मुझे उद्वेग भी हुआ, और अचरज भी। उसने गेहूँ की फसल के समय आने का बार-बार वादा किया था। कटनी का मेला लगा, उठ भी गया—मै समझ नही सका कि वह आई क्यो नही।

दूसरे मजूरो से पूछ-ताछ भी की , पर कोई पता नही चला। मै सोचने लगा—कोसी नदी के दक्खिन मे इस्माइलपुर दीयरे को छोड़कर आस-पास यहाँ जितना बडा खेती का इलाका दूसरा तो है नही। फिर जब मजदूरी भी एक ही-सी मिलती है, तब वह इतनी दूर क्यो जायगी ?

मेला उठने-उठने के समय एक गगोते मजूर से उसका समाचार मिला। वह मची और उसके पति नकछेदी भगत को पहचानता था। साथ-साथ बहुत जगह काम भी किया था शायद। उसने बताया—उसने उन्हे फागुन में अकबरपुर के सरकारी खासमहाल मे काम करते देखा था। उसके बाद वे कहाँ गए, पता नही।

कटनी का मेला आधे जेठ तक उठ गया। एक दिन कचहरी में नकछेदी भगत को देखकर मैं अचरज मे पड़ गया। मेरा पाँव पकड कर वह फुक्का फाड कर रो पडा। मैंने पाँव छुडाया तथा और भी ताज्जुब मे पडकर पूछा—"बात क्या है ? तुम लोग कटनी के दिनो यहाँ आए क्यो नही ? मची मजे मे तो है ? है कहाँ वह ?"

मेरी बात के जवाब मे उसने जो जवाब दिया, वह संक्षेप मे यो है—मंची कहाँ है, इसकी उसे कोई खबर नही। खासमहाल मे काम करते समय वह उसे छोडकर न जाने कहाँ भाग गई। खोज-ढूँढ बहुत की , पर उसका पता न चला।

मै चकित और विस्मित रह गया , लेकिन मुझे नकछेदी भगत के लिए कोई हमदर्दी न थी, ऐसा लगा। सोच-फिकर जो कुछ भी थी, सब उस वन्य स्त्री के लिए। आखिर वह गई कहाँ, उसे कौन फुसला कर ले भागा, वह कहाँ और किस हालत मे है ? सस्ती शौकीनी की चीजो की

जैसी रुझान मैंने उसमें देखी थी, उन चीजो का लोभ दिखाकर उसे भगा ले जाना मुश्किल न था। हुआ भी ऐसा ही होगा।

मैंने पूछा—"और उसका बच्चा?"

—"वह दुनिया मे नही रहा। चेचक से मारा गया।"

सुनकर मैं बहुत दुखी हुआ। निश्चय ही वच्चे के शोक मे पागल होकर ही वह बेचारी निकल पडी होगी—"दो आँखे जिधर ले जायँ।" जरा देर मैं चुप रह गया। फिर पूछा—"तुलसी कहाँ है?"

—"वह यही है, साथ आई है।—हुजूर, मुझे थोडी-सी जमीन दे। कटनी पर अब बूढे-बूढी का गुजारा नही चल सकता। मची थी, तो वल था। उसी के भरोसे घूमा करता था। वह मेरे हाथ-पाँव तोडकर चली गई!"

सध्या समय उसके झोपड़े मे गया। तुलसी बाल-बच्चो को लिए हुए चीना तैयार कर रही थी। मुझे देखकर वह रो पडी। देखा—मची के चले जाने से वह भी बहुत दुखी है। बोली—"हुजूर, यह सारा कसूर इस बूढे का है। वहाँ सरकारी लोग टीका लगाने आए थे। बुड्ढे ने चार आना घूस देकर उन्हे विदा कर दिया, टीका नही लगाने दिया। कहा—टीका लगाने से चेचक होगा। तीन दिन भी नही गुजरे थे कि मची के बेटे को चेचक निकली और उसी मे वह चल भी बसा। उसके शोक मे वह पागल-सी हो गई। खाना-पीना छोड बैठी—सिर्फ रोती और रोती।"

—"उसके बाद?"

—"उसके बाद खासमहाल से हम लोगो को निकाल दिया गया हुजूर। कहा गया—'चेचक मे तुम्हारा बच्चा मरा है, अब तुम लोगो को यहाँ नही रहने दिया जायगा।' एक रजपूत छोकरा मची पर निगाह गडाए था। जिस दिन हम लोग ख़ासमहाल से रुखसत हुए, मची उसी रात को गायब हुई। उस दिन सबेरे मैंने उस छोकरे को झोपडे का चक्कर क़ाटते देखा था। यह जरूर उसी की कारस्तानी होगी हुजूर। इधर मची

कलकत्ता देखने की बडी रट लगाए हुए थी। जभी मै समझ रही थी कि कुछ-न-कुछ होगा।"

मुझे भी याद आया, पिछले साल भी उसने मुझसे कलकत्ता देखने का बडा आग्रह दिखाया था। उस धूर्त राजपूत छोकरे ने कलकत्ता दिखान के लोभ से उसे भगा लिया हो, तो ताज्जुब क्या।

मुझे पता था कि ऐसी दशा मे इधर की औरतों की अतिम परिणति चाय के बगीचो की कुलीगिरी में होती है। मंची के नसीब मे आखिर क्या आसाम की पहाडियो की दासता और निर्वासन ही लिखा था?

मुझे बूढे नकछेदी भगत पर बड़ा गुस्सा आया। सारी खुराफातों की जड कम्बख्त यही बूढ़ा है। बुढापे में इसने मची से शादी ही क्यों की थी? फिर सरकारी टीके वाले को घूस देकर इसने लौटा क्यो दिया? इसे मै जमीन भी दूँगा, तो इसके लिए हर्गिज नही, इसकी बूढ़ी औरत और बच्चों की खातिर दूँगा।

दिया भी। सदर से हुक्म आया था, नाढा बैहार में जल्दी-से-जल्दी रैयत बसाऊँ। नकछेदी भगत को ही मैंने सबसे पहले बसा दिया।

नाढा बैहार घने जगल से भरा था। महज दो-एक रैयतों ने अभी-अभी झोपडा बनाना शुरू किया था। जगल देख कर पहले तो नकछेदी की हिम्मत टूट गई, कहा—"हुजूर! वहाँ तो दिन दहाड़े ही बाघ उठा ले जाएँगे—इन नन्हे बच्चो को लेकर ...."

मैंने साफ-साफ कह दिया—"अगर वहाँ रहना पसन्द न हो, तो और कही जाओ—"

लाचार होकर उसने उस जगल मे ही जमीन ले ली।

[तीन]

नकछेदी जब से यहाँ है, मै एक बार भी उसके झोंपड़े पर नहीं गया। उस दिन साँझ को बैहार होकर लौट रहा था—एक जगह थोड़ी

साफ की हुई जगह दिखाई पडी—पास-पास कसाल के दो झोपड़े। एक में से रोशनी छनकर बाहर आ रही थी।

मुझे पता नही था कि यह झोपडा नकछेदी का है। घोडे की टाप सुनकर जो प्रौढा स्त्री झोपडे के अन्दर से बाहर आई, वह नकछेदी की स्त्री तुलसी थी।

—"तुम लोगो ने यहाँ पर जमीन ली है? नकछेदी कहाँ है?"

मुझे देखकर वह आश्चर्य मे पड गई। जल्दी मे गेहूँ का भूसा भरी टाट की एक गद्दी उसने डाल दी और बोली—"जरा देर बैठिए बाबूजी। वह लवटोलिया गए है—नमक-तेल लाने। बडे लडके को साथ ले गए है।"

—"और तुम इस घोर जंगल मे अकेली हो?"

—"यह सब रम गया है अब तो बाबूजी। डरने से हम गरीबों का काम चल सकता है भला? यो अकेली रहना तो नही पड़ता; मगर अपनी खोटी तकदीर। जब तक मची रही, क्या जंगल और क्या पानी, कही डर नही था। गजब का साहस और तेज था उसमे बाबूजी।"

तुलसी अपनी तरुणी सौत को चाहती थी। उसे यह भी पता था कि मची की चर्चा से मुझे खुशी होगी।

तुलसी की लड़की सुरतिया ने कहा—"मैने नीलगाय का एक बच्चा पकड़ रक्खा है, देखेगे? उस दिन हमारे झोपडे के पीछे तीसरे पहर खस्-खस् करता फिर रहा था। मैने और छनिया ने मिलकर पकड लिया। बड़ा सुन्दर है।"

मैने पूछा—"खाता क्या है वह?"

सुरतिया बोली—"चीना और कोमल पत्ते। केंद के नए पत्ते तोड़कर ला देती हूँ।"

तुलसी बोली—"बाबूजी को दिखा—"

सुरतिया हरिन-जैसी तेज पीछे की तरफ भाग गई। जरा देर मे उसकी चीख पुकार सुनाई पड़ी—"अरे छनिया, नीलगैया त भागी गेलौ रे—हिन्ने-हिन्ने—जल्दी पकड़—"

दोनों बहनों ने आखिर बच्चे को पकड़ ही लिया और हँसती-हाँफती उसे मेरे पास ले आईं।

अँधेरे में मैं उसे देख सकूँ, इस ख्याल से तुलसी ने एक जलती हुई लकड़ी को ऊपर उठा कर रक्खा। सुरतिया ने पूछा—"सुन्दर है न बाबूजी! कल रात को भालू इसे खाने की फिराक में था। महुए खाने के लिए कल रात उस पेड़ पर भालू चढ़ा था—बहुत रात हो चुकी थी—बप्पा और मैया गहरी नींद में थे, मुझे खबर थी। भालू पेड़ से उतर कर हमारे पिछवाड़े आया। मैं रात को इसे अपनी छाती से लगाकर सोती हूँ—भालू की आहट पाकर मैंने इसका मुँह दबाकर छाती से और भी कसकर चिपका लिया।"

—"तुझे डर नहीं लगा?"

—"इस्...डर क्या, मैं डरती नहीं। लकड़ी चुनने जाती हूँ, तो कितना भालू देखती हूँ, वहाँ भी डर नहीं लगता, डरने से काम चलेगा बाबूजी?"

उसने पुरखिन-जैसी शक्ल बना ली।

झोंपड़े के चारों तरफ मिल की काली चिमनियों-जैसे केंद के काले-काले तने आसमान की ओर सिर उठाए थे, जैसे कैलिफोर्निया के रेडउड् पेड़ का जंगल हो। चमगादड़ और निशाचर पक्षियों के डैनों की फटाफट हर डाल पर होने लगी थी। झाड़ियों पर झुंड-के-झुंड जुगनू जल रहे थे, झोंपड़े के पीछे ही सियार बोल रहे थे—मैं समझ नहीं पा रहा था कि इन कई छोटे-छोटे बच्चों को लेकर इनकी माँ इस सुनसान जंगल में रहती कैसे है। हे विज्ञ, रहस्यमय अरण्य, आश्रितों पर सचमुच ही तुम्हारी बड़ी कृपा है।

बातों-ही-बातों में मैंने पूछा—"मची क्या अपना सब कुछ साथ लेती गई है?"

सुरतिया बोली—"साथ कुछ भी नहीं ले गई है छोटी माँ। उस

बार उसका जो बक्स आप देख गए थे, उसे भी छोड गई। देखेंगे आप ? अभी लाई।

बक्स को लाकर उसने मेरे सामने खोला। कघी, छोटा-सा आइना, नकली दाने की माला, एक सब्ज रूमाल—ठीक जैसे किसी नन्ही बच्ची के खिलौनो का बक्स हो, मगर पिछली बार लवटोलिया में जिसे खरीदा था, वह माला इसमें नही थी।

कौन कह सकता है कि अपना घर-ससार छोड़ कर वह कहाँ चली गई ? इन लोगो ने तो आखिर झोपडा डालकर अपनी दुनिया बसाई, इनमें से वह जैसी खानाबदोश थी, वैसी खानाबदोश ही रह गई।

घोडे पर सवार होते समय सुरतिया बोली—"और किसी दिन आइए बाबूजी। फदे से हम चिडिया फँसाते है। नया फदा बुन रक्खा है। एक डाहूक और गुडगुडी को पाला भी है। ये जब बोलते है, तो जंगल से दूसरी चिडियाँ आकर फदे मे फँसती है। आज तो समय नही रहा, नही तो फँसा कर आपको दिखाती—"

इतनी रात को नाढा बैहार होकर जाने मे भय-सा लगता। बाई ओर एक छोटे-से पहाडी झरने का पानी कल-कल करता हुआ बह रहा था। कही कोई फूल फूला था—गध से भरा अँधेरा कही-कही इतना गाढा हो उठा था कि घोडे की गर्दन का रोआँ नही सूझता, कही तारो की जोत से अँधेरा कुछ मद पड़ गया था।

नाढा बैहार तरह-तरह के पेड-पौधे, जीव-जतु और पछियो का अड्डा है—इसकी वनभूमि और प्रातर को प्रकृति ने अनत वैभव से सजाया है, सरस्वती कुड इसी बैहार की उत्तरी सीमा पर पडता है। जरीब के पुराने कागजात से पता चलता है, पहले यहाँ कोसी की धारा थी, अब वह भर गई है और यही इतना पानी बच रहा है। दूसरी तरफ वही प्राचीन धारा घने जगल में जाग उठी है—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्

इस वनभूमि की कैसी वर्णनातीत शोभा उस अँधेरे मे देखी मैने।

मगर जैसे ही यह खयाल आया कि इस जंगल की आयु ज्यादा नही रह गई, वैसे ही एक कचोट-सी उठी। मैं इसे इतना प्यार करता हूं और मेरे ही हाथो इसका विनाश होगा! महज दो साल के अन्दर सारा-का-सारा गाँव गदे टोलो और घिनौनी बस्तियों से भर जायगा। प्रकृति के अपने हाथों से सजाया हुआ, उसकी सैंकड़ो साल की साधना का फल यह नाढ़ा वैहार, अपनी अतुल सौन्दर्य-राशि और दूरव्यापी प्रातर को लेकर जाने कहाँ गायब हो जायगा, मगर इसके बदले मिलेगा क्या?

कुछ फूस के बदसूरत घर, गोशाला, मकई के खेत, सन की ढेरी, रस्सी की चारपाई, महावीरी पताका, सीझ के काँटे, भरपूर तम्बाकू, भरपूर खैनी और भरपूर चेचक और हैजे के दौरे!

हे अरण्य, हे सुप्राचीन, मुझे माफ करना।

एक दिन सुरतिया के यहाँ फिर गया, उसका चिडिया फंसाना देखने।

सुरतिया और छनिया, दोनो दो पिंजरे लिए मेरे साथ नाढा वैहार के जगल के पास गई।

तीसरे पहर का समय। वैहार पर लम्बी छाया छोडकर, सूरज पहाड के पीछे उतर गया था।

एक सेमल के पेड के नीचे उन्होंने दोनो पिंजरो को उतारा। एक में था एक डाहुक, दूसरे मे गुडगुड़ी। दोनो ही सिखाई-पढाई चिडियाँ थी। जगली चिड़ियो को बुलाने के लिए पोडकी बोलने लगी।

गुडगुड़ी पहले नही बोली।

सुरतिया ने सीटी बजाकर कहा—"बोल री बहिनिया, तोहर फिर..."

कहना था कि गुडगुड़ी बोल उठी—"गुड़-ड़-ड़-ड—"

सूने अपराह्न मे, दूर तक फैले मैदान की निर्जनता में वह अनोखी आवाज मन मे ऐसे ही दिगत-विस्तारी प्रांतर की तसवीर भर देती, ऐसे ही मुक्त क्षितिज का स्वप्न, छायाहीन ज्योत्स्नालोक। पास ही हरियाली पर, जहाँ दुधली के राशि-राशि फूल खिले थे, छनिया ने फंदा बिछाया,

बाँस की करची का बना घेरा, उन्ही घेरों से उसने गुडगुडी के पिंजरे को ढक दिया।

सुरतिया बोली—"चलिए, हमलोग झाडी की आड मे छिप जायँ। आदमी देखकर चिडियाँ उड़ जाएँगी।"

कुछ देर हम लोग सखुए की ओट मे दुबके बैठे रहे। डाहुक तो जब-तब चुप भी हो जाता, मगर गुडगुडी की पुकार बन्द न होती—बोलती ही चली जा रही थी वह—गुड-ड-ड़-ड।

बड़ा ही अलौकिक स्वर। मैंने कहा—"सुरतिया, अपनी यह गुड-गुडी बेचेगी तू? क्या लेगी इसका?"

सुरतिया बोली—"चुप्-चुप्, वह सुनिए, चिड़िया आ रही है—"

जरा देर की नीरवता के बाद एक दूसरी आवाज वन-प्रातर को गुँजाती हुई मैदान के उत्तर से आई—गुड-ड-ड

मेरा शरीर सिहर उठा—पिंजरे की चिडिया की पुकार पर जंगल की चिडिया ने जवाब दिया.....

धीरे-धीरे वह आवाज पास आने लगी।

कुछ देर तक दोनों चिडियों की आवाज पास-पास सुनाई देती रही, फिर दोनो सुर मिलकर एक हो गए—अचानक एक सुर थम गया—सिर्फ पिंजरे की चिड़िया बोलती रही।

छनिया और सुरतिया दौड पड़ी—"चिडिया फँसी!" मैं भी दौड़ा।

फंदे में पैर फँसाकर चिडिया छटपटा रही थी। फँसते ही उसकी बोलती बन्द हो गई थी—गजब हो गया! अपनी आँखो पर मुझे एत-बार नही हो रहा था।

सुरतिया ने चिडिया को हाथ पर उठा लिया—"देखिए बाबूजी! किस तरह से पाँव फँस गया है। देखा?"

मैंने पूछा—"चिडियों का तू क्या करती है?"

उसने कहा—"बाबूजी इन्हे तिरासी रतनगंज की हाट मे बेच आते हैं। दो पैसे में गुडगुडी और सात पैसे को पोंडकी।"

मैने कहा—"तो मेरे हाथ वेंच, मै दाम दूँगा।"

उसने मुझे मुफ्त मे ही चिडिया दे दी। मैने लाख कोशिश की, मगर उसने पैसा लेना मंजूर नही किया।

[चार]

आश्विन का महीना। एक दिन सबेरे-ही-सबेरे इस आशय की चिट्ठी मिली कि राजा दोब्रू पन्ना का देहान्त हो गया—राजा-परिवार बड़ी मुसीबत मे है—अगर समय हो, तो एक बार मै वहाँ जाऊँ। पत्र जगरू पन्ना ने लिखा था—भानुमती के दादा ने।

मै उसी समय चल पडा और साँझ होने से कुछ पहले ही चकमकी टोला पहुँचा। राजा का वडा लडका और पोता मेरी अगवानी के लिए वहाँ तक आए थे। सुना कि गाय चराते हुए राजा दोबरू पन्ना गिर पड़े थे और उनके घुटने में चोट आई थी। घुटने की वही चोट उनकी मौत का कारण बनी।

राजा का मरना था कि महाजन आ धमका। उसने गाय-भैसो को अपने कब्जे में कर लिया। रुपया चुकाए बगैर वह देने का नही। मुसीबत पर मुसीबत। कल नए राजा का अभिषेक होना चाहिए। उसमे भी रुपयो का खर्च था, मगर रुपया आए तो कहाँ से? और महाजन अगर गाय-भैंस हँका ले गया, तो राज-परिवार की हालत बदतर हो जायगी। उन्ही के दूध का घी बेचकर राज-परिवार का आधा खर्च चलता था। अब तो भूखों मरने की नौवत थी।

मैने महाजन को बुलवाया। बीरबलसिंह उसका नाम था। देखा, वह मेरी एक भी सुनने को तैयार नही था। रुपया लिए बिना एक भी मवेशी को छोडना उसे कबूल न था। आदमी वह अच्छा नही लगा।

भानुमती आकर रोने लगी। वह अपने परदादे को बेहद प्यार करती थी। उनके रहते मानो सब पहाड की ओट मे थे। उन्होने आँखे बन्द कीं और ये सारी परेशानियाँ आ पडी। कहते-कहते भानुमती की आँखें

बरसती गईं—थमने का नाम नही। बोली—"मेरे साथ चलिए, मै पहाड़ पर से आपको उनकी कब्र दिखा लाऊँ। मेरा कही जी नही लग रहा है बाबूजी, यही इच्छा होती है कि उनकी कब्र के पास बैठी रहूँ!"

मैंने कहा—"ठहर जाओ, पहले महाजन का कोई किनारा कर देखूँ, फिर जाऊँगा। मगर महाजन से कोई पटरी नही बैठी। खूँखार राजपूत, आरजू-मिन्नत सुनने वाला न था; मगर इतनी खातिर की कि तब तक के लिए मवेशियो को यही रहने देने को वह राजी हो गया। मगर बूँद भर भी दूध लेने-देने को तैयार नहीं हुआ। दो महीने के बाद उसका कर्ज चुकाने की गुजाइश किसे हो सकी थी, मगर यह बात पीछे बताऊँगा।

मैंने देखा, भानुमती द्वार के सामने अकेली खडी है। बोली—"तीसरा पहर हो गया, इसके बाद वहाँ जाते न बनेगा—चलिए कब्र दिखा लाऊँ।"

वह अकेली मेरे साथ चल पडी, इससे मैंने समझा कि भोली पहाडी बालिका मुझे अपने परिवार का परम मित्र और नितान्त अपना समझने लगी है। उसके इस सरल व्यवहार और बन्धुत्व ने मुझे मोह लिया।

उस बड़ी उपत्यका पर तीसरे पहर की छाया उतरी थी। भानुमती जल्दी-जल्दी चल रही थी, भीता हरिनी-जैसी। मैंने कहा—"जरा धीरे चलो। अच्छा, यहाँ हर्रसिंगार के फूल कहाँ है?"

हर्रसिंगार का यहाँ नाम ही कुछ और होगा। मै उसे ठीक-ठीक समझा न सका। पहाड पर चढते हुए बडी दूर तक दीख रहा था। धनझरी की नीली पहाड़ियो ने भानुमती के देश को, राजहीन राजा दोबरू पन्ना के देश को मेखला की तरह घेर रक्खा था—दूर से हवा के झोके आ रहे थे।

भानुमती ने करीब आकर पूछा—"चढने मे तकलीफ हो रही है बाबूजी?"

—"नही। जरा धीरे-धीरे चलो। तकलीफ क्या होगी?"

कुछ दूर और चलकर बोली—"बाबा चल बसे, दुनिया मे मेरा और कोई नहीं रह गया बाबूजी—"

वह बच्चे-सी रुआसी होकर इतना बोली।

मुझे उसकी बात पर हँसी आई। बूढ़े परदादा ही तो मरे हैं उसके, और माँ नही है, वाकी पिता, भाई, दादी, दादा—सभी तो जीवित हैं। इतना बड़ा हँसता हुआ संसार। हजार हो, आखिर भानुमती एक स्त्री है, पुरुष की थोड़ी-सी सहानुभूति पाने और आदर छीनने की स्त्री-सुलभ प्रवृत्ति उसके लिए स्वाभाविक है।

वह वोली—"आप कभी-कभी आया करेंगे वावूजी, हम लोगों की खोज-खवर लिया करेंगे ; कहिए, आप भूल तो नही जायँगे ?"

सभी जगह और सभी अवस्था में स्त्रियाँ एक ही-सी होती हैं। यह वन-बालिका भी एक ही तत्त्व की वनी है।

मैंने कहा—"भूलने क्यों लगा—बीच-बीच मे जरूर ही आया करूँगा।"

उसने न जाने कैसे अभिमान के स्वर में होठ फुला कर कहा—"हुँ, वंगाल चले जाने पर, कलकत्ता पहुँच कर इस जंगली देश की वात थोड़े ही याद रहेगी—" जरा रुककर वोली—"हम लोगों की वात—मेरी वात....."

मैंने नेह-भरे स्वर में कहा—"क्यों, याद नही थी ? आइना तुम्हें नही मिला था ? तुम्ही सोचो, याद थी या नहीं—"

खिला हुआ मुखड़ा लिए वह वोल उठी—"ओहहो, सचमुच ही आईना वड़ा सुन्दर है, मै कहना भूल ही गई थी—"

कब्रगाह पर जव पहुँचा, तव दिन ढल चुका था। दूर की पहाड की आड़ मे लाल होकर सूरज डूवने लगा था—कव दुवला चाँद उगकर आसन्न अंधकार को दूर भगाएगा, वह स्थान मानो इसी के इन्तजार में चुप खड़ा था।

कब्र पर चढाने के लिए मैंने भानुमती को कुछ फूल लाने को कहा। कब्र पर फूल विखेरना इधर के लोग नही जानते। मेरे उत्साह से वह पास ही कहीं से जंगली हरसिंगार के फूल चुन लाई। हम दोनों ने दोवरू पन्ना की कब्र पर फूल विखेर दिए।

ठीक इसी समय बरगद की डाल से सिल्ली का झुड डैने फड़फडाता और बोलता हुआ उड गया, मानो भानुमती और राजा दोबरू पन्ना के सभी उपेक्षित पुरखे मेरे इस काम से संतुष्ट होकर एक स्वर से कह उठे हों—'साधु! साधु!' क्योकि अनार्य राज-समाधि के प्रति आर्य-सतति द्वारा यही पहला सम्मान-निवेदन था!

पंद्रहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक बार मुझे महाजन धौताल साहू के आगे हाथ पसारना पड़ा। उस बार वसूली कम हुई और सरकारी कर के दस हजार रुपए चुकाने थे। बनवारीलाल पटवारी ने राय दी कि बाकी रुपए धौताल से कर्ज ले लीजिए। वह आपको कर्ज देने से हर्गिज इन्कार नही करेगा। वह मेरा रैयत नही था, सरकारी खासमहाल का बाशिंदा था। उस पर अपना कोई जोर नही। ऐसे मे मेरी एक बात पर वह तीन हजार रुपए मुझे एक मुश्त कर्ज दे देगा, इस पर मुझे सन्देह था।

मगर गरज जैसी बुरी चीज कोई नही। एक दिन बनवारीलाल को साथ लेकर चुपचाप उसके यहाँ गया। चुपचाप इसलिए कि कचहरी में किसी पर मैं यह जाहिर नही होने देना चाहता था कि कर्ज के रुपयों से कर चुकाना पड रहा है।

एक सँकरे मुहल्ले में उसका घर था। एक बडा-सा घर। सामने ही कुछ खटिएँ बिछी थी। वह आँगन के एक ओर तम्बाखू के पौधो मे निडानी लगा रहा था। हमे देखकर जल्दी-जल्दी आया—कहाँ बैठाए, क्या करे, कुछ समझ नही पा रहा था। जरा देर के लिए जैसे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो पडा।

—"अरे, इस नाचीज के घर हुजूर के कदम पड़े ! आइए, बैठिए हुजूर ! आइए तहसीलदार साहब।"

उसके घर कोई नौकर नही दिखाई पड़ा। हट्टा-कट्टा-सा उसका एक पोता था, हम लोगो के लिए वही दौड-धूप करने लगा। घर-द्वार, सरो-सामान देखकर कह कौन सकता है कि यह किसी लखपती का घर है ।

उसके पोते रमलखिया ने मेरे घोडे की जीन आदि खोल कर उसे बाँधा। पाँव धोने के लिए पानी ले आया। ताड के एक पखे से धौताल साहू खुद हम पर हवा करने लगा। साहूजी की एक पोती तम्बाखू भरने गई। मै तो मुसीबत में पड गया। बोला—"इतने तकल्लुफ करने की जरूरत नही है साहूजी, मेरे पास चुरुट है, तम्बाकू लाने की दरकार नही।

चाहे वह आदर कैसा ही कर रहा हो ; पर असली बात कहने में हिचक हो रही थी। कैसे कहूँ ?

धौताल बोला—"इधर क्या चिडिया के शिकार को आए थे ?"

—"नही-नही, तुम्हारे ही पास आया था।"

—"मेरे पास ? ऐसी क्या जरूरत आ पडी हुजूर ?"

—"सरकारी कर चुकाना है, रुपए कम है। साढे तीन हजार रुपयों की मुझे सख्त जरूरत है, इसीलिए आया हूँ।"

कहना ही था, इसलिए किसी तरह कह गया।

उसने जरा भी आगा-पीछा किए बिना कहा—"इसके लिए इतनी फिक्र क्या हुजूर ? हो जायगा इन्तजाम, मगर इसके लिए खुद इतनी तकलीफ उठाकर आने की क्या जरूरत थी ? एक पुर्जा लिखकर तहसीलदार साहब की मार्फत भेज देने से ही हुक्म की तामील हो जाती।"

सोचा, अब असली बात कह देनी चाहिए। रुपए मुझे अपनी जिम्मेदारी पर लेने है, क्योकि जमीदार के नाम पर रुपए लेने का आम-मुख्तार नामा मेरे पास नही है। इस पर भी धौताल रुपया देने को तैयार होगा ? परदेसी ठहरा। मुझे जायदाद ही क्या है यहाँ कि जिस पर मुझे रुपये दिए जायँ। सकोच से मैंने यह बात बताई—"साहूजी, लिखा-पढ़ी मेरे ही नाम से होगी, जमीदार के नाम से नही।"

उसने ऐसे स्वर मे कहा, मानो उसे अचरज हुआ हो—लिखा-पढ़ी किस बात की ? थोडे-से रुपयो की जरूरत पडी है, उसके लिए आप मेरे घर आए है। आने की तो जरूरत ही नही थी, आदेश भेज देना ही

काफी था, और जब खुद आ ही गए, तो लिखा-पढी क्या ? आप रुपए ले जाइए। वसूली होने पर मुझे भेज दीजिएगा।"

मैंने कहा—"मै हैंड नोट लिखे देता हूँ, टिकट साथ ले आया हूँ, या अपनी पक्की बही में दस्तखत करा लो।"

उसने हाथ जोड़ कर कहा—"माफ करे हुजूर, यह जिक्र ही न करे। इससे मुझे तकलीफ होगी। लिखा-पढी की कोई जरूरत ही नही, रुपए आप ले जाइए।"

मैंने बहुतेरा कहा, उसने एक न सुनी। नोट का बडल अन्दर से उसने ला दिया। बोला—"लेकिन एक अर्ज है हुजूर!"

—"वह क्या ?"

—"इस समय आपको जाने नही दूँगा। सामान लाए देता हूँ। पका-चुका कर खाले, तब जाएँ।"

मैंने फिर इन्कार किया; पर एक न सुनी गई। पटवारी से पूछा—"बनवारीलाल, पका लोगे ? मुझ से तो नहीं होगा।"

बनवारी बोला—"न पकाने से तो काम न चलेगा, आपको पकाना पड़ेगा। मेरे हाथ की रसोई खाने से आपकी बदनामी होगी। मै मदद में रहूँगा।"

धौताल का पोता ढेरो सामान ले आया। दादा-पोता मिलकर मुझे रसोई के बारे मे तरह-तरह के उपदेश देने लगे।

धौताल के न रहने पर उसके पोते ने कहा—"ये हमारे दादाजी जो है हुजूर, सब डुबो देगे। बिना सूद, बिना बँधकी और बिना लिखा-पढ़ी के इतने लोगो को इन्होने रुपए दिए है कि अब अदा होना मुश्किल है। सब पर एतबार कर लेते है, जो कि बहुतो ने अँगूठा भी दिखा दिया है। घर जाकर रुपए कर्ज दे आते है।"

गॉव का एक और भी आदमी बैठा था। उसने कहा—"आपद-विपद मे हाथ फैलाने पर आज तक किसी को साहूजी के यहाँ से खाली हाथ लौटते नही देखा। पुराने युग के आदमी है। इतने बडे महाजन

हैं, लेकिन कभी किसी पर नालिश नही की आज तक। अदालत जाते हुए डर लगता है। बड़े डरपोक और सज्जन है।"

रुपए लौटाने मे मुझे छै महीने लग गए। इन छै महीनो के अन्दर धौताल हमारे महाल की सीमा से भी इसलिए नही गुजरा कि कही मै यह न सोच बैठूँ, वह रुपयो के तकाजे में इधर आया है। सज्जन और किसे कहते है।

[दो]

साल-भर हो गया, राखाल बाबू के यहाँ नही जा पाया। कटनी के मेले के बाद एक रोज उनके यहाँ गया। मुझे देखकर उनकी स्त्री बड़ी खुश हुई। बोली—"अब आप आते क्यो नही भैया, खोज-पूछ भी नही करते—बन्धु-बाधवहीन जगह मे बगाली के दर्शन होना कठिन ही है—तिस पर अपनी जो हालत है—"

और वह चुपचाप रोने लगी।

मैंने एक बार चारो तरफ निगाह दौडाई। घर-द्वार की हालत तो पहले ही जैसी गई-बीती थी, पर अब वैसी बेतरतीब न थी। बडा लडका वही मिस्त्री का काम करता था, मामूली-सा कुछ मिल जाता, इसी से किसी तरह गिरस्ती चलती।

मैंने दीदी से कहा—"छोटे लडके को मामा के पास काशी भेज दे। कुछ लिख-पढ लेगा।"

उन्होने कहा—"अपना मामा है कहाँ? ऐसी मुसीबत पडी, दो-तीन खत लिखे, महज दस रुपए भेजकर जो चुप लगा बैठे है, सो डेढ़ साल हो गए, कोई खबर ही नही ली। उससे तो ये मकई काटे, भैस चराएँ, यही अच्छा है, ऐसे मामा के दरवाजे पर जाना अच्छा नही।"

मुझे तुरत लौटना था, मगर दीदी ने आने नही दिया। वे मुझे कुछ बना कर खिलाना चाहती थी—बिना खिलाए नही जाने देने की। लाचारी से इतजार करना पडा। उन्होने मकई के सत्तू में घी और चीनी

मिलाकर एक तरह का लड्डू बनाया और कुछ हलुआ तैयार करके मुझे खाने को दिया। गरीब के घर में जितना आदर-सत्कार सम्भव है, उसमें दीदी ने कोई कोर-कसर नहीं रक्खी।

बोली—"भादो की मकई मैंने आपके लिए संजो कर रक्खी थी, क्योंकि आप भुट्टा खाना पसन्द करते हैं।"

मैंने पूछा—"मकई कहाँ मिली? खरीदी थी?"

—नहीं, खेत से चुनकर लाई थी। फसल कट जाने पर किसान जो टूटे-फूटे पेड़ छोड़ जाते हैं, गाँव की दूसरी औरतों के साथ उन्हें मैं भी बीनने जाती हूँ। उस समय रोज एक-दो टोकरी चुन कर ले आती थी।"

अवाक् होकर मैंने पूछा—"आप खेत में मकई चुनने जाती थीं?"

—'हाँ, रात को जाया करती थी, किसी को पता भी नहीं होता। गाँव की कितनी ही औरतें जाती हैं। भादो के महीने में दस टोकरी से कम तो नहीं लाई हूँगी भुट्टा।"

बड़ी तकलीफ हुई। गरीब गगोतिनें इधर यह काम किया करती हैं। राजपूत-छत्री औरतें गरीब हों क्यों न हों, खेतों में फसल चुनने नहीं जातीं। अपनी तरफ की किसी औरत को ऐसा करते सुनने से जी में चोट लग आती। इन अपढ़ गगोतों के गाँव में रहकर दीदी ने ऐसा छोटा काम करना भी सीख लिया—इसमें शक नहीं कि उनकी गरीबी भी इसका एक प्रधान कारण थी। खोल कर कुछ कह नहीं सका, शायद उन्हें दुःख हो। यह गरीब बंगाली परिवार बंगाल की शिक्षा-संस्कृति का कुछ भी न पा सका, कुछ वर्षों में यह गगोतों-जैसा हो जायगा—क्या भाषा में, क्या चाल-चलन में और क्या हाव-भाव में। उस राह पर अब भी वह बहुत दूर बढ़ चुका है।

रेलवे स्टेशन से बहुत दूर घनघोर गाँव में मैंने और भी ऐसे एकाध बंगाली परिवार देखे हैं। ऐसे परिवारों की लड़कियों का ब्याह करना कितना दुष्कर काम है, कहा नहीं जा सकता। एक और भी ऐसे बंगाली ब्राह्मण परिवार को मैं जानता था—वे लोग दक्खिनी बिहार के एक गँवई

गाँव मे रहते थे। बडी ही गई-बीती हालत थी। घर मे तीन-तीन लड-कियाँ, बड़ी की उम्र इक्कीस-बाईस, मझली की करीब बीस और छोटी की भी सत्रह। इनमे से एक की भी शादी नही हो सकी थी, होने का कोई उपाय भी न था—वैसे इलाके मे जात-गोत के पात्र का प्रबन्ध करना बडा ही कठिन काम था।

बाईस साल वाली लडकी देखने में सुन्दर थी—बगला का एक अक्षर भी उसे नही आता था—आकृति और प्रकृति मे ठेठ देहाती बिहारी लड़की—खेत से उडद की गठरी सिर पर उठा लाती, गेहूँ के भूसे का बोझा ढोया करती।

नाम भी था ध्रुवा—पूरा बिहारी नाम।

उसके पिता यहाँ होमियोपैथी डाक्टरी करने आए थे। फिर जगह-जमीन लेकर खेती-बारी भी करने लगे। डाक्टर साहब चल बसे। बडा लडका खेती-गिरस्ती करने लगा। वयस्का बहनो की शादी की उसने कोशिश तो की, पर कर नही पाया। दहेज देने की उसमे हिम्मत नही थी।

ध्रुवा बिलकुल कपाल कुडला थी। मुझे भैया कह कर पुकारती। बहुत ही ताकतवर, आटा और सत्तू पीसने, बोझा ढोने और गाय-भैस चराने मे कुशल—गिरस्ती के काम-धधो मे चतुर। उसके बडे भाई ने यहाँ तक तै किया था कि अगर वैसा कोई पात्र मिल जाय, तो वे उसी एक को तीनो लडकियाँ ब्याह देगे और शायद उन बहनो को भी इस पर एतराज न था।

मैंने मँझली लडकी जवा से पूछा था—"बंगाल देखने की इच्छा होती है?"

उसने जवाब दिया था—"नही भैया, वहाँ केरो पानी बड्डी नरम छै—"

सुना था, ध्रुवा को शादी करने की बडी इच्छा थी। शायद उसने स्वयं ही किसी से कहा था कि उससे जो ब्याह करेगा, उसे कभी गाय दूहने

सामने कसाल के जगल मे झाऊ की डाल पर बैठी सगीविहीन एक पोडकी भीगा करती है, घटो एक-सी बैठी, कभी-कभी डैने झाड कर, फैला कर पानी को रोकने की कोशिश करती, कभी यो ही बैठी रहती।

ऐसे दिनो में कमरे मे बैठ कर समय काटना मेरे लिए असंभव हो उठता। मैं घोडा कसवा लेता और बाहर निकल पडता। उस मुक्ति के क्या कहने, जीवन का कैसा उद्दाम आनन्द ! चारो तरफ हरियाली का कैसा लहराता समुद्र—वर्षा के आगमन से कसाल के जगल मे नवीन और सतेज कोपलें उभर आईं—जहाँ तक भी निगाह जाती, इधर नाढा बैहार और उधर मोहनपुरा जंगल की अस्पष्ट सीमा-रेखा तक हरियाली का वैसा ही अपार सागर—काजल काले मेघो की छाया में ओदी हवा के झोके से मरकत श्याम तृणभूमि पर लहरो की लीला और इस अथाह-अकूल सागर में मैं जैसे एक अकेला नाविक—जाने किस अजाने बन्दरगाह को निकला हूँ।

मेघ की श्यामल छाया वाली उस खुली तृणभूमि में मैं घोडे को भगाता हुआ मीलो जाता। कभी-कभी सरस्वती-कुड के जंगल में भी गया। प्रकृति की वह अनोखी सौन्दर्य-भूमि युगलप्रसाद के लगाए तरह-तरह के फूल और लताओ से और भी सुन्दर हो उठी है। यह मैं विना किसी हिचक के कह सकता हूँ कि सरस्वती-कुड और उसके किनारे के जगल-जैसी सौन्दर्य-भूमि सारे भारतवर्ष मे अधिक नही है। बरसात मे कुड के किनारे-किनारे रेड कैस्पियन का मेला—वाटर क्रोफुट के वडे-बड़े नीलाभ श्वेत फूलो से भर गया है तमाम ! अभी उस दिन भी युगलप्रसाद कोई वन-बेल लाकर यहाँ लगा गया है। आजमाबाद कचहरी में वह मुहर्रिर का काम जरूर करता है; पर उसका मन इस कुड के लता-कुज और फूलो पर ही लगा रहता है।

कुड से निकलते ही फिर जगल, फिर हरा-भरा मैदान—वन के ऊपर घने नीले बादलो का जमघट—पानी का सारा बोझ उतार कर

वाले और सत्तू पीसने वाली को नही बुलाना पड़ेगा—वह अकेली ही पाँच सेर सत्तू पीस सकती है ।

हाय री अभागिन बगालिन कुमारी ! इतने वर्षों के बाद निश्चय ही वह आज भी गगोतिन की तरह अपने भैया की गिरस्ती सँवार रही होगी, जौ कूटती होगी और खेत से उड़द का बोझा सिर पर ढोकर लाती होगी—बिना दहेज लिए उस देहाती और उतनी बडी लडकी को मगल शख और उलूध्वनि* के बीच पालकी पर ब्याह करके अपने घर ले भी कौन गया होगा ।

शान्त मुक्त प्रातर में जब साँझ उतरती है, तब दूर पहाड पर जो पतली पगडंडी जगल की माँग-सी दिखाई पडती है, शायद हो कि आज भी व्यर्थ यौवना गरीब ध्रुवा उसी राह से इतने दिनों के बाद भी सिर पर लकडी का बोझा लिए उसी तरह उतरती है—यह तस्वीर मैंने कितनी ही बार अपनी कल्पना की आँखो से देखी है—और ठीक इसी तरह कल्पना में देखा है अपनी दीदी, राखाल बाबू की स्त्री को—शायद आज भी वह बूढी गंगोतिनो के समान रात को सबकी आँख बचा कर खेत-खलिहानो मे टोकरी लिए भुट्टा बटोरती फिर रही है ।

[तीन]

भानुमती के यहाँ से लौटने के बाद उस बार सावन के बीचो-बीच जोरों की बारिश शुरू हुई । रात-दिन बारिश और बारिश, घने कजरारे मेघो से आसमान ढँक गया । नाढा और फुलकिया बैहार की दिगत रेखा वर्षा से धुँधली हो आईं । महालिखा रूप का पहाड़ कही खो गया—मोहनपुरा जगल का ऊपरी भाग कभी धुँधला-सा दीखता, कभी नही । सुना, पूरब मे कोसी और दक्खिन मे कारो नदी मे बाढ आ गई है ।

मीलों दूर तक खडे कास और झाऊ के जगल वर्षा के पानी से भीग रहे थे ; दफ्तर के बरामदे पर कुर्सी डाले बैठा-बैठा मै देखा करता,

* बगाल मे ब्याह के मौके पर यह शुभ काम अनिवार्य है ।

सामने कसाल के जगल मे झाऊ की डाल पर बैठी सगीविहीन एक पोडकी भीगा करती है, घटो एक-सी बैठी, कभी-कभी डैने झाड कर, फैला कर पानी को रोकने की कोशिश करती, कभी यो ही बैठी रहती।

ऐसे दिनों में कमरे मे बैठ कर समय काटना मेरे लिए असंभव हो उठता। मैं घोडा कसवा लेता और बाहर निकल पडता। उस मुक्ति के क्या कहने, जीवन का कैसा उद्दाम आनन्द! चारों तरफ हरियाली का कैसा लहराता समुद्र—वर्षा के आगमन से कसाल के जंगल में नवीन और सतेज कोपले उभर आई—जहाँ तक भी निगाह जाती, इधर नाढा बैहार और उधर मोहनपुरा जंगल की अस्पष्ट सीमा-रेखा तक हरियाली का वैसा ही अपार सागर—काजल काले मेघो की छाया में ओदी हवा के झोंके से मरकत श्याम तृणभूमि पर लहरो की लीला और इस अथाह-अकूल सागर मे मैं जैसे एक अकेला नाविक—जाने किस अजाने बन्दरगाह को निकला हूँ।

मेघ की श्यामल छाया वाली उस खुली तृणभूमि में मैं घोडे को भगाता हुआ मीलो जाता। कभी-कभी सरस्वती-कुड के जंगल में भी गया। प्रकृति की वह अनोखी सौन्दर्य-भूमि युगलप्रसाद के लगाए तरह-तरह के फूल और लताओ से और भी सुन्दर हो उठी है। यह मैं बिना किसी हिचक के कह सकता हूँ कि सरस्वती-कुड और उसके किनारे के जगल-जैसी सौन्दर्य-भूमि सारे भारतवर्ष मे अधिक नही है। बरसात में कुड के किनारे-किनारे रेड कैस्पियन का मेला—वाटर क्रोफुट के बडे-बडे नीलाभ श्वेत फूलो से भर गया है तमाम! अभी उस दिन भी युगलप्रसाद कोई वन-बेल लाकर यहाँ लगा गया है। आजमाबाद कचहरी में वह मुहर्रिर का काम जरूर करता है; पर उसका मन इस कुड के लता-कुंज और फूलो पर ही लगा रहता है।

कुड से निकलते ही फिर जगल, फिर हरा-भरा मैदान—वन के ऊपर घने नीले बादलो का जमघट—पानी का सारा बोझ उतार कर

रिक्त होने के पहले ही दौड़ते आए नए मेघ-पुंज—एक तरफ के आकाश मे एक अजीब तरह का नीलापन—उसमें डूबती किरणो से रंग कर मेघ का एक टुकडा वहिर्विश्व के दिगत मे जाने किस अजाने पर्वत-शिखर-सा प्रतीयमान ।

साँझ हो आती । ओर-छोरहीन पुलकिया वैहार में सियार वोल उठते । एक तो मेघ का अन्धकार, ऊपर से साँझ का घिरता आता अँधेरा—मैं घोडे को कचहरी की ओर मोड देता ।

कितनी ही वार इस वर्षा थमी मेघ जमी साँझ के इस मुक्त प्रातर की सीमा-हीनता में मैंने जाने किस देवता के तो स्वप्न देखे—ये वादल, यह सध्या, ये जगल, चीखते हुए सियारो की टोली, सरस्वती-कुड के फूल, मची, राजू पाडे, भानुमती, महालिखा रूप का पहाड, वह गरीव गोंड-परिवार, आकाश, व्योम—ये सभी एक दिन उस देवता की विराट् कल्पना मे वीज रूप मे रहे थे, उन्ही के आशीर्वाद से आज की इस नव-नील नीरद माला के समान सारे विश्व को अमृत की धारा से अभिसिंचित करते है—वर्षा की यह साँझ उन्हीं का प्रकाश है, यह उन्मुक्त जीवन का आनन्द उन्ही की वाणी है, जो वाणी कि मनुष्य को सचेतन किए देती है । उस देवता से डरने को कोई वात नही—इस पुलकिया वैहार से भी, उस मेघो से भरे विशाल आकाश से भी असीम, अनन्त है उनका प्रेम और आशीर्वाद । जो जितना ही हीन, जितना ही तुच्छ है, उस विराट् देवता का अदेखा प्रसाद और दया उस पर उतनी ही ज्यादा होती है ।

जिस देवता का स्वप्न मेरे मन मे जगता था, वे प्रवीण विचारक, न्याय और दड के कर्त्ता, विज्ञ और वहुदर्शीय अथवा अव्यय, अक्षय जैसे कठिन दार्शनिकता के आवरण वाले ही न थे; वल्कि नाढा वैहार या आज-मावाद के खुले मैदान की गोधूलि-वेला मे रक्त मेघपुज, चाँदनी-स्नात सूने प्रातर को निहार कर जी में होता कि वही प्रेम और रोमांस है, कविता और सौन्दर्य है, शिल्प और भावुकता है—वे प्राणो से प्यार करते है, सुकुमार कलावृत्ति से सृष्टि करते है, प्रियजनों की प्रीति के लिए सव प्रकार

से अपने को नि शेष कर देते है—फिर विराट् वैज्ञानिक की क्षमता और दृष्टि से ग्रह-नक्षत्र-नीहारिका की सृष्टि करते है।

[चार]

सावन के ऐसे ही एक वर्षामुखर दिन मे इसलामपुर कचहरी में धतुरिया हाजिर हो गया।

बहुत दिनो के बाद उसे देख कर मुझे खुशी हुई।

—"क्या हाल है धतुरिया तुम्हारे ? मजे मे तो है ?"

जिस छोटी-सी पोटली मे उसकी सारी सासारिक सपत्ति थी, उस पोटली को उतार कर उसने मुझे नमस्कार किया और कहा—"जी बाबूजी, नाच दिखाने आया हूँ। बडे कष्ट मे हूँ इन दिनो—महीना बीत गया, कही नाच का डौल नही बैठा। सोचा, आपकी सेवा मे पहुँचूँ, यहाँ निराश न होना पड़ेगा। इधर और भी अच्छे-अच्छे नाच सीखे है।"

धतुरिया बडा दुबला हो गया था। तकलीफ हुई देखकर।

—"कुछ खायगा धतुरिया ?"

लजाकर गर्दन हिलाते हुए उसने 'हाँ' की।

मैने महाराज को बुलाकर उसे कुछ खाना देने को कहा। भात तो उस समय नही था, उसने उसे दूध और चूडा लाकर दिया। वह जिस तरह खाने लगा, देख कर लगा, कम-से-कम दो दिन से उसे भोजन भी नही नसीब हुआ है।

साँझ से पहले धतुरिया ने अपना नाच दिखाया। देखने के लिए कचहरी के प्रागण मे बहुत-से लोग जुट गए। नाच मे उसने पहले से ज्यादा तरक्की की थी। उसमे सच्चे कलाकार का दर्द और साधना थी। मैने अपनी तरफ से कुछ दिया, कुछ दूसरे लोगो के चंदे से मिला। मगर इतने से उसका कितने दिन निर्वाह चलेगा ?

दूसरे दिन सबेरे वह मुझ से जाने को इजाजत माँगने आया।

—"बाबूजी, आप कलकत्ता कब जायँगे ?"

—"क्यो, क्या बात है ?"

—"मुझे ले चलेगे कलकत्ता ? मैंने उस वार जो कहा था ?"

—"अच्छा, तू इस वक्त कहाँ जायगा ? खा-पी तो ले, बाद में कही जाना।"

—"जी, मुझे जाने दे। झल्लूटोला में एक भूमिहार ब्राह्मण के यहाँ शादी है। शायद नाच का ठिकाना हो जाय। इसी कोशिश मे जा रहा हूँ। यहाँ से आठ कोस है। अभी से चलूँगा, तब कही शाम—शाम तक पहुँच पाऊँगा।"

धतुरिया को जाने देने की इजाजत देने को जी नही चाह रहा था। मैंने पूछा—"अगर तुझे थोडी-सी जमीन दूँ, तो रहेगा यहाँ ? खेती-बारी करना—रह जा।"

देखा, धतुरिया मट्टुकनाथ पडित को भा गया है। उसकी इच्छा, उसे अपनी पाठशाला मे दाखिल करने को थी। बोला—"आप इससे कहे हुजूर, दो साल मे मुग्धबोध खत्म करा दूँगा। यह रह जाय यही।"

जमीन की चर्चा पर धतुरिया बोला—"बाबूजी, आप मेरे बडे भाई के समान है, मुझ पर आपकी बडी कृपा है, लेकिन यह खेती भला मुझसे हो सकती है ? मेरा जरा भी जी नही लगेगा। नाच मे मुझे खुशी होती है, दूसरा काम अच्छा नही लगता।"

—"समय-समय पर नाचा भी करना। आखिर जमीन के साथ तुझे जजीर से थोडे ही बाँध दिया जायगा ?"

धतुरिया खुश हो गया। बोला—"आपकी आज्ञा जैसी होगी, करूँगा। आप मुझे बड़े भले लगते हैं। झल्लूटोला से लौटूँ तो यही आऊँगा।"

मट्टुकनाथ ने कहा—"उसी समय तुम्हे पाठशाला मे भी भर्त्ती कर लूँगा। न हो, तो रात को आकर पढा करना। मूरख रहना भी कोई काम है, कुछ व्याकरण, कुछ काव्य का ज्ञान जरूरी है।"

उसके बाद धतुरिया ने नृत्य-कला पर जाने क्या-क्या कहा, मै ज्यादा समझ न सका। पूर्णियाँ के 'हो-हो' नाच की शैली से धरमपुर के उसी

नाच का कहाँ फर्क पड़ता है, उसने हाथ की कोई नई मुद्रा निकाली है.....आदि-आदि।

—"बाबूजी, बलिया जिले मे छठ-त्योहार के समय आपने औरतों का नाच देखा है? उस नाच से छोकडा नाच का एक बात मे बडा सादृश्य है। आपके यहाँ कैसा नाच होता है?"

कटनी के मेले मे पिछले साल मैंने जो माखनचोर नटुआ का नाच देखा था, उसके बारे मे बताया। हँसकर धतुरिया ने कहा—"वह बेकार है बाबूजी, मुगेर का गँवई नाच है—गगोतों को फुसलाने का नाच। उसमे खास बात नही—सीधा है, बिलकुल आसान।"

मैंने कहा—"तू जानता है? दिखा तो नाच कर।"

धतुरिया अपने फन में पक्का था। सचमुच ही वह 'माखनचोर नटुआ' का नाच बढिया नाच गया—वैसा ही लड़को-सा रोना, चुराए मक्खन को बाँटने की वही अदा—बिलकुल वही। इसे वह फब भी गया खूब, क्योकि यह बालक था।"

धतुरिया चला गया। जाते समय बोला—"मुझ पर जब आपने इतनी दया ही दिखाई है, तो एक बार कलकत्ता ही क्यों नही ले चलते बाबूजी? वहाँ नाच की कद्र है।"

धतुरिया से यही मेरी आखिरी मुलाकात थी।

दो महीने बाद कटोरिया स्टेशन के पास रेलवे लाइन पर एक बालक की लाश पाई गई—सबने पहचाना, वह लाश नटुआ बालक धतुरिया की थी। यह आत्महत्या थी या दुर्घटना, नही कह सकता। अगर आत्महत्या थी, तो किस दु:ख से उसने ऐसा किया?

दो साल इस इलाके में रहते हुए जितने लोगो के सपर्क मे मैं आया, उन सब में धतुरिया की प्रकृति बिलकुल अलग थी। उसमे जो एक निर्लोभ, सदा चचल, सदानन्द, निर्वैषयिक सच्चे कलाकार के मन का परिचय पाया था, वह इस जंगली इलाके ही मे क्यों, सभ्य इलाके के मनुष्यों में भी सुलभ नही!

[पाँच]

और भी तीन साल निकल गए।

नाढा बैहार और लवटोलिया का सारा जंगल-महाल बन्दोबस्त के लिए दे दिया गया। पहले-सा जगल अब कही नही रहा। वर्षों मे प्रकृति ने एकांत निर्जन में जिन कुजो की रचना की थी, कितने लता-वितान, कितनी स्वप्न-भूमि सजोई थी—मजदूरो के कठोर हाथो से सब गायब हो गए। जो पचास साल मे बन कर तैयार हुआ था—एक दिन मे वह नष्ट हो गया। अब कही ऐसा दूर विस्तृत प्रातर नही रह गया, जहाँ चाँदनी रात मे माया परियाँ उतरे, दयालु टांड़बारो हाथ उठाकर जगली भैंसो को मरने से बचाए!

नाढा बैहार का तो नाम ही उठ गया, लवटोलिया अब महज एक बस्ती रह गई। जिधर आँख जाती है, फूँस के छप्पर है—कसाल की छोनीवाले घर है—गदे, बदसूरत। घिचपिच घनी आवादी—टोले-टोले का विभाजन—खाली जगहो मे खेत। जरा-से खेत के चारों ओर काँटो का घेरा। धरती के मुक्तरूप को काट-काट कर टुकड़ो मे बाँट कर लोगो ने बर्बाद कर दिया।

एक ही जगह बच रही थी—सरस्वती-कुड की वन-भूमि।

नौकरी के रहते हुए, मालिक के स्वार्थ के नाते सारी जमीनो को रैयतो मे बाँट जरूर दिया, मगर युगलप्रसाद के हाथो से सँवारी सरस्वती-कुड की उस वन-भूमि को व्यवस्थित नही कर सका। बार-बार जाने कितने लोग कुड के किनारे की जमीन के लिए आए, ज्यादा सलामी देने को भी तैयार हुए, क्योकि एक तो वह जमीन ही काफी उपजाऊ थी, दूसरे पास में पानी रहने से मकई आदि ज्यादा होने की गुजाइश थी; मगर मै किसी भी तरह उस जमीन की नाप-जोख करने को राजी न हुआ।

मगर उसे और कितने दिनों तक बचा पाऊँगा। सदर के तकाजों के मारे नाक मे दम। क्या वजह है कि मै कुड के पास की जमीन में

देर लगा रहा हूँ? यह-वह कारण बताकर अब तक तो उसे रक्खा ; पर अब उपाय नही रह गया था। मनुष्य के लोभ की हद नही, मै जानता हूँ कि दो भुट्टो और कट्ठा-पर चीना की फसल के लिए वैसी स्वप्न-भूमि को नष्ट करते उन्हे हिचक नही होगी। खासकर इधर के लोग तो पेड-पौधो की सुन्दरता को जानते ही नही, मनोरम भूमि की महिमा को देखने की आँखे ही नही है—वे तो खा-पीकर पशु की तरह जीना ही जानते है। और कोई देश होता, तो ऐसे स्थानो को सौन्दर्य-पिपासु प्रकृति-रसिक लोगो के लिए बचा कर रखता—जैसा कि कैलिफोर्निया में योसेमाइ नैशनल पार्क रक्खा गया है। दक्खिन अफ्रीका मे जैसा कि क्रूगर नैशनल पार्क है—बेलजियन कागो मे पार्क नैशनल अल्बर्ट है। हमारे जमीदार वह लैंडस्कोप नही समझने के, ये तो जानते है सलामी, मालगुजारी, अदा-इरशाल, हस्तबुद।

जन्माधो के ऐसे देश में, नही जानता, युगलप्रसाद ने कैसे जन्म ले लिया—केवल उसी के नाते कुड की वन-भूमि को मै आज तक बचाता चला आया हूँ।

मगर और कब तक?

खैर, अब मेरा भी काम समाप्त हो गया।

तीन साल से बगाल नही गया, वहाँ के लिए कभी-कभी जी बडा मचल पडता। मानो सारा बगाल ही मेरा घर हो—तरुणी कल्याणी बहुएँ जहाँ अपने हाथों साँझ की बाती जलाती है—यहाँ-जैसा उदास और दरिद्री जगल नही, जिसे नारी के हाथों का स्पर्श ही नसीब नही।

क्यों तो मन मे आनन्द की बाढ-सी आ गई, पता नही। चाँदनी रात थी—घोडा कसा और सरस्वती-कुंड की ओर चल पडा। नाढा बैहार और लवटोलिया का जगल खत्म हो आया था, जगल की शोभा और निर्जनता जो थोड़ी-सी बच रही थी, वह सरस्वती-कुड के ही किनारे। मुझे लगा, इस आकस्मिक आनन्द को उपभोग करने की वही एक जगह रही है, वही इसकी उपयुक्त पृष्ठभूमि है।

चॉदनी में कुड का पानी झलमला रहा था, और केवल झलमला ही नही रहा था, बल्कि लहर-लहर पर चॉदनी मानो टूटी पड रही थी। निस्तब्ध पेड़ो की भीड कुड के तीन तरफ खडी, जगली लाल वत्तखों की काकली, जंगली हरसिंगार की खुशबू—जेठ का महीना था ; पर हरसिंगार यहाँ बारहो महीने खिलते—

कुछ देर तक कुड के किनारे घोड़े पर इधर-से-उधर घूमता रहा। पानी में कमल खिले थे, किनारे की ओर वाटरक्रोफुट और युगलप्रसाद के लाए हुए स्पाइडर लिली की झाडियाँ फैली थी। कितने दिनो के बाद अपने घर जा रहा हूँ, इस वनवास से मुक्ति मिलेगी, वहाँ बगाली स्त्री के हाथो का भोजन मिलेगा, कलकत्ता में एकाध दिन थिएटर-बाइस्कोप देखूँगा, कितने दिनों के बाद बंधु-बांधवों से फिर भेट होगी!

धीरे-धीरे उस अनुभूत आनन्द की बाढ़ मेरे मन के तटो को प्लावित करती हुई हिलोरें लेने लगी। अद्‌भुत योगायोग—इतने दिनों के बाद देश लौटना, सरस्वती-कुड का चॉदनी से चमकता हुआ पानी और फूलों की शोभा, जंगली हरसिंगार की चॉदनी से धुली भीनी महक, शांत स्तब्धता, अच्छे घोडे की कैटब चाल और हू-हू करती हुई हवा—सब मिलकर एक सपना! सपना! आनन्द का गाढ़ा नशा। जैसे मै यौवनोन्मत्त देवता होऊँ—बाधा-बंधनहीन गति से समय की सीमा को पार कर रहा हूँ—यह सफर ही मानो मेरे अदृष्ट की विजयलिपि, मेरा सौभाग्य, मेरे प्रति किसी प्रसन्न देवता का आशीर्वाद हो!

शायद फिर लौट न सकूँ—वहाँ जाकर मर भी तो सकता हूँ। सरस्वती-कुड विदा! अलविदा किनारे की तरु पंक्तियो! अलविदा चन्द्रालोकित वन! कोलाहल मुखर कलकत्ता के राजपथ पर खडे-खड़े तुम लोगों की याद आयगी—जीवन की वीणा की हल्की झकार की नाईं—याद आयगी। युगलप्रसाद के लाए हुए पेड़ों की बात, किनारे के कमल और स्पाइडर लिली का यह वन, तुम्हारे इस जगल की घनी डाल पर सूने मध्याह्न में पोंडकी की पुकार, अस्त मेघो की छाया से रँगी

हुई मैना कॉटा की डाले—तुम्हारी नीली जलराशि के ऊपर के नील गगन में उड़ती हुई सिल्ली और लाल बत्तखो की पंक्ति—किनारे के कीचड़ पर हिरनौटे के पाँव के निशान—सूनापन, निर्जनता ! अलविदा सरस्वती-कुड !

लौटते वक्त कुड से एक मील के फासले पर देखा कि जंगल काट कर घर बसाए गए हैं। इसका नाम नया लवटोलिया पड़ा है—जैसा न्यू साउथ वेल्स या न्यू यार्क। जंगल की लकडियाँ काट कर (पास' मे बड़ा जगल नही था, इसलिए लकडियॉ सरस्वती-कुड के ही जंगल से लाई गई होगी।) नए परिवार ने घास की छौनी डाल कर कुछ छोटे-छोटे झोपडे बॉधे है। उसी की ओदी जमीन पर नारियल या सरसों के तेल की गर्दन टूटी बोतल, घुडकता हुआ एक काला-कलूटा बच्चा, सिहोडे की बारीक डालो से बनी टोकरी, मोटा चॉदी का अनत पहने यक्ष-जैसी काली हट्टी-कट्टी बहू, एकाध पीतल के लोटे और थालियॉ और कुछ हॅसिए, खती, कुदाली—इन्ही चीजो से इनकी गिरस्ती चलती है। न केवल न्यू लवटोलिया मे, वल्कि इस्माइलपुर और नाढा बैहार मे तमाम न जानें कहाँ से उजड कर आए हुए लोग बस गए है, न तो उनके बाप-दादो का घर है, न उन्हे गाँव या घर की ममता है, न ही है अडोसी-पडोसी का नाता नेह—आज इस्माइलपुर के जगल मे तो कल मुगेर के चौंर मे और परसो जयती पहाड की तराई मे—जहॉ देखो, वही, तमाम उनके घर।

जानी-पहचानी-सी आवाज मिली। देखा, ऐसे ही एक गृहस्थ के घर बैठ कर राजू पांडेय धर्मतत्त्व की चर्चा कर रहा है। मै घोड़े से उतरा। सबने खातिर से मुझे बिठाया। राजू से पूछने पर पता चला, वह इलाज के सिलसिले मे वहाँ गया था। फीस में चार कट्ठा जौ और आठ पैसे मिले। इसी मे उसकी खुशी की सीमा न थी—बैठ कर धर्मतत्त्व की आलोचना मे व्यस्त हो गया था।

मुझसे बोला—"बैठिए बाबूजी, एक बात का निबटारा कर दीजिए

आप। अच्छा, धरती का कहीं अन्त है? मैंने तो कहा, जैसे आकाश का अन्त नहीं, वैसे ही धरती का भी अन्त नहीं। ठीक है न बाबूजी?"

मुझे क्या पता था कि टहलने के सिलसिले में ऐसे पेचीदे मसले का सामना भी करना पड़ेगा। यह तो खबर थी कि राजू का दिमाग बराबर ऐसे ही जटिल तत्त्वों मे उलझा रहता है और उन समस्याओं का हल करने में वह अपने मौलिक चिंतन का परिचय बराबर दिया करता है, जैसे, इन्द्रधनुष दीमक की टीले से उगता है, नक्षत्र यम के अनुचर है, वे यम के आदेश से इस बात की छान-बीन करते है कि आदमियों की संख्या किस अनुपात मे बढ रही है। आदि-आदि।

धरती के बारे मे अपनी जो जानकारी थी, मैंने बताई। राजू ने पूछा—"अच्छा, सूरज पूरब में क्यों उगता है और पश्चिम में क्यों डूबता है? सूरज किस सागर से उगता और किस सागर में डूबता है, यह आज तक कोई ठीक-ठीक क्यों नहीं बता सका है? किया है इसका निराकरण? राजू ने संस्कृत पढी थी, निराकरण शब्द के व्यवहार से गंगोते और उनके परिवार के लोग प्रशंसा-भरी मुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे और यह भी सोचा कि अंग्रेजीदाँ बंगाली बाबू को वैदजी ने खूब काबू में किया है! गए बेचारे बंगाली बाबू!"

मैंने कहा—"राजू, यह आँखों का भ्रम है। वास्तव में सूरज कहीं जाता नहीं, वह जहाँ-का-तहाँ रहता है।

राजू अवाक् मेरी तरफ ताकने लगा। गगोते लोग व्यग से हा-हा करके हँस पडे। हाय गैलीलियो! इसी नास्तिक विचार विमूढ़ दुनिया में तुम कैद किए गए थे?

अचरज का पहला आवेग कम हो जाने पर राजू ने पूछा—"सूरज नारायण पूरब के उदयगिरि में नहीं उगते और पच्छिम सागर में नहीं डूबते?

मैंने कहा—"नहीं।"

—"अंग्रेजी किताब में ऐसा लिखा है?"

—"हाँ।"

ज्ञान मनुष्य मे ओज लाता है। जिस शात और निरीह राजू पांडेय के मुँह से कभी ऊँची आवाज नही सुनी थी, वह जोर से और दर्द के साथ बोला—"झूठ बात है बाबूजी। उदयगिरि की जिस गुफा से सूरज नारायण रोज उगा करते है, मुगेर के एक साधु उसे एक बार देख आए थे। बड़ी दूर चल कर जाना पड़ता है, पूरब की आखिरी सीमा पर वह पहाड है, गुफा के दरवाजे पर पत्थर के द्वार है, उसी मे उनका अभ्र रथ रहता है। हर किसी को उसके दर्शन थोडे ही नसीब होते है? बडे-बडे साधु-महथो को ही यह सौभाग्य मिलता है। वह साधु रथ के अभ्र की एक टुकड़ी साथ ले आया था—चकमक-चकमक, मेरे गुरुभाई कामताप्रसाद ने अपनी आँखो से देखा था।"

कहकर राजू ने एक बार गर्व के साथ गगोतो की तरफ आँखें घुमाईं।

उदयगिरि की गुफा से सूर्योदय का इतना बडा और ठोस प्रमाण दे देने के बाद मुझे उस दिन सुन्न घसीट जाना पडा।

———

सोलहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक दिन मैंने युगलप्रसाद से कहा—"चलो महालिखारूप के पहाड़ पर कुछ नए पेड़-पौधों की खोज-बीन करें।"

उत्साह के साथ उसने कहा—"उस पहाड़ पर एक खास तरह की लत्तड़ पाई जाती है, जो और कहीं नहीं मिलती। इधर के लोग उसे चीहड़ कहते हैं। चलिए, खोज देखें।"

रास्ता नाढा बैहार की नई बस्तियों के बीच से पड़ता था। इतने ही दिनों में एक-एक सरदार के नाम पर टोलों के नाम रखे जा चुके—झल्लू टोला, रूपदास टोला, बेगम टोला। ओखली में नाज कूटे जाने की धपाधप आवाज, फूँस के छप्परों से उठते हुए धुएँ की कुंडली—रास्ते के किनारे नंग-धड़ंग काले-काले बच्चों की धूल-बालू से खेल-कूद।

बैहार के उत्तर अभी भी घना जंगल रह गया था, लेकिन लवटोलिया में नाम को भी जंगल न था। बैहार के जंगल का तीन-चौथाई हिस्सा खत्म हो चुका था, केवल उत्तरी छोर पर हजार दो-एक बीघे बच रहे थे, जिनका बन्दोबस्त नहीं हो सका था। युगलप्रसाद को इसकी काफी कचोट थी।

उसने कहा—"इन गंगोतों ने सब बर्बाद कर दिया बाबूजी! कम्बख्तों के घर-द्वार हुई नहीं, खानाबदोश हैं—आज यहाँ, कल वहाँ। ऐसे सुन्दर जंगल को चाट गए!"

मैं बोला—"उन बेचारों का कुसूर नहीं है युगल! जमींदार अपनी जमीन को यों कैसे छोड़ दे, सरकारी कर चुकाना पड़ता है, गाँठ से कब तक भरा करे? इन्हें तो जमींदार ने बसाया है, नका क्या दोष?"

—"मगर सरस्वती-कुड न दें हुजूर—बडे-बडे कष्ट झेलकर पेड़-पौधे वहाँ लगाए है—"

—"मेरे करने से क्या हो सकता है! इतने दिनो तक उसे बचा कर रख सका, यही गनीमत समझो। इधर रैयत, वहाँ की जमीन के लिए रोज जोर मार रही है।"

हमारे साथ दो-तीन प्यादे थे। हमारी बातो का उन्होंने मतलब न समझा और मुझे उत्साह देने के लिए कहा—"आप जरा भी फिक्र न करे हुजूर! रबी की फसल कट जाने दे, वहाँ की एक इच जमीन भी यो नही पड़ी रहेगी।"

महालिखारूप का पहाड नौ मील पर था। मेरे दफ्तर वाले कमरे से वह धुँधला-सा दीखा करता। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते दस बज गए।

कैसी सुनहली धूप और वैसा निखरा नीला आकाश था उस दिन! ऐसा नीला आसमान पहले कभी देखा था—जैसा आकाश कभी-कभी ऐसा नीला होता है! धूप की कैसी अनोखी छटा, नीला आसमान मानो शराब के नशे से मन को मतवाला किए देता हो। धूप कोमल पल्लवों पर पड कर और भी निर्मल दीखती। खोता उजड जाने से नाढा बैहार और लवटोलिया की सारी चिडियाँ कुछ तो सरस्वती-कुड वाले वन में, कुछ यहाँ और मोहनपुरा के जगल में जा पहुँची है—उनकी न रुकने वाली चहक!

घना जगल। ऐसे घने जगलो मे, मन मे एक अनोखी शाति और स्वच्छद स्वाधीनता का भाव भर आता है—कितने पेड, कितनी शाखाएँ, कैसे-कैसे फूल—यहाँ-वहाँ बिखरी चट्टाने—जी चाहे जहाँ बैठ रहो, सो जाओ, पियार के पेडो की घनी छाँह मे जीवन के अलस क्षणो को काट दो—यह विशाल अरण्य-भूमि तुम्हारी थकी हुई स्नायुओं को शाति देगी।

हम पहाड पर चढने लगे। बडे-बडे पेडो ने सूरज की रोशनी को अपने ऊपर ले लिया था। छोटे-छोटे झरने कल-कल करते हुए जगल में

—"मगर सरस्वती-कुड न दे हुजूर—बडे-बड़े कष्ट झेलकर पेड़-पौधे वहाँ लगाए है—"

—"मेरे करने से क्या हो सकता है! इतने दिनो तक उसे बचा कर रख सका, यही गनीमत समझो। इधर रैयत, वहाँ की जमीन के लिए रोज जोर मार रही है।"

हमारे साथ दो-तीन प्यादे थे। हमारी बातो का उन्होने मतलब न समझा और मुझे उत्साह देने के लिए कहा—"आप जरा भी फिक्र न करें हुजूर! रबी की फसल कट जाने दे, वहाँ की एक इच जमीन भी यो नही पडी रहेगी।"

महालिखारूप का पहाड नौ मील पर था। मेरे दफ्तर वाले कमरे से वह धुँधला-सा दीखा करता। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते दस बज गए।

कैसी सुनहली धूप और वैसा निखरा नीला आकाश था उस दिन! ऐसा नीला आसमान पहले कभी देखा था—जैसा आकाश कभी-कभी ऐसा नीला होता है! धूप की कैसी अनोखी छटा, नीला आसमान मानो शराब के नशे से मन को मतवाला किए देता हो। धूप कोमल पल्लवों पर पड कर और भी निर्मल दीखती। खोता उजड जाने से नाढा वैहार और लवटोलिया की सारी चिडियाँ कुछ तो सरस्वती-कुड वाले वन में, कुछ यहाँ और मोहनपुरा के जगल में जा पहुँची है—उनकी न रुकने वाली चहक!

घना जंगल। ऐसे घने जगलो मे, मन मे एक अनोखी शाति और स्वच्छद स्वाधीनता का भाव भर आता है—कितने पेड, कितनी शाखाएँ, कैसे-कैसे फूल—यहाँ-वहाँ बिखरी चट्टाने—जी चाहे जहाँ बैठ रहो, सो जाओ, पियार के पेडो की घनी छाँह में जीवन के अलस क्षणो को काट दो—यह विशाल अरण्य-भूमि तुम्हारी थकी हुई स्नायुओ को शाति देगी।

हम पहाड पर चढने लगे। बडे-वडे पेडो ने सूरज की रोशनी को अपने ऊपर ले लिया था। छोटे-छोटे झरने कल-कल करते हुए जगल में

उतर रहे थे—हर्र के पेड़, केलिकंदव के सगवान जैसे वडे-वड़े पत्तो मे हवा रुक रही थी और सनसनाहट हो रही थी।

मैंने कहा—"युगलप्रसाद, चीड फल के पेडो को ढूँढ निकालो।"

चीड़ के पेड और वहुत ऊपर जाने पर मिले। कमल-जैसे उसके पत्ते, मोटी काठ की-सी लता आँकी-वाँकी होकर दूसरे पेडो पर जा चढी थी। सेम-जैसे उसके फल, मगर सेम के दोनो छिलके कटकी चप्पल-जैसे वडे होते हैं—वैसे ही कडे और चौडे, भीतर मे गोल-गोल वीज। हमने लता-पत्ते की आग मे भून कर उन बीजो को खाकर देखा, आलू-जैसा स्वाद।

वडी दूर तक पहाड पर चढ गया। वह वहाँ मोहनपुरा जगल—दक्खिन मे अपना गाँव और वह वहाँ सरस्वती-कुड का जगल दिखाई दे रहा है। वह रहा नाढ़ा बैहार का बाकी चौथाई जगल—वह दूर पर मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट की पूर्वी सीमा से सट कर कोसी नदी वह रही है—नीचे के समतल का दृश्य ठीक तसवीर जैसा दिखाई पड रहा है!

—"मोर! मोर हुजूर, यह देखिए!"

माथे के पास ही डाल पर वैठा एक वहुत वडा मोर। प्यादे के पास वदूक थी। वह निशाना ठीक करने लगा। मैंने मना कर दिया।

युगलप्रसाद ने कहा—"इस पहाड पर कही कोई गुफा है बाबूजी, उसकी दीवारो पर चित्र वने है, पता नही कव के बने है चित्र, उसी गुफा को ढूँढ रहा हूँ।"

शायद गुफा मे पत्थरो की दीवार पर प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य के वनाए चित्र हो। धरती के इतिहास के लाखो-लाख वरस की यवनिका क्षण-मात्र मे उठकर समय के वहाव मे हमे जाने कहाँ पहुँचा देगी!

प्रागैतिहासिक युग की उस गुफा की तसवीरो को देखने के आग्रह से हम खाक छानते फिरे—वह गुफा मिल भी गई; मगर इतना घुप अँधेरा था उसके अन्दर कि घुसने का साहस ही न हुआ। घुस भी जाता, तो उस अँधेरे मे देख क्या पाता। आज रहे, फिर कभी सरो-सामान

के साथ आया जायगा। आखिर अँधेरे मे शखचूड़ और चन्द्रबोड़ा जैसे विषधर साँपों के हाथों जान कौन गँवाए? ऐसी जगहो में इन साँपो की कमी नही।

मैंने युगल से कहा—"देखो, कुछ नए-नए किस्म के पेड़-पौधे इस जगल मे लगाओ। पहाड के जगल को कोई कभी नही काटेगा। लवटोलिया गया और अब सरस्वती-कुड का भी भरोसा छोड दो—"

वह बोला—"बजा फरमाते है हुजूर—बात जँचती है, किन्तु आप तो आएँगे नही, सब-कुछ अकेले ही करना पडेगा।"

—"बीच-बीच मे मै देख जाया करूँगा। तुम लगाओ।"

महालिखारूप का पहाड कोई एक पहाड न था, एक पर्वतमाला कहिए, कही भी डेढ हजार फुट से ज्यादा ऊँची नही। हिमालय के नीचे की पर्वत-पंक्ति की ही एक शाखा, यद्यपि तराई प्रदेश के जंगल और हिमालय यहाँ से सौ-डेढ-सौ मील पर थे। पहाड़ पर से नीचे की समतल भूमि को देखने से ऐसा लगता कि कभी प्राचीन युग का महासागर इस बालुकामय उच्च तट पर पछाडें खाता था, गुफा मे रहने वाले मानव तब भविष्य के गर्भ मे सोए थे और तब महालिखारूप का यह पहाड़ उस सुप्राचीन महासागर की वालुकामय भूमि था।

युगलप्रसाद ने कोई आठ-दस प्रकार के ऐसे लता-पेड दिखाए, जो कि नीचे के जगलो मे नही मिलते। पहाड के वन की प्रकृति ही और तरह की होती है—पेड-पौधे भी जुदा ढंग के होते है वहाँ के।

शाम होने को थी। जाने कैसे वनफूल की-सी खूब महक मिलने लगी—बेला बीतने के साथ-साथ वह गध और गाढी होती गई। डालो पर पोडकी, वनसुग्गे और हरेटी के कूजन।

बाघ का खतरा था, सो साथ के लोग नीचे उतरने के लिए उतावले हो उठे; वरना उतरती हुई संध्या की घनी छाँह मे निर्जन पहाड की वन-भूमि मे जो स्निग्ध शोभा निखर आई, उसे छोड कर आने को जी नही चाह रहा था।

मुनेश्वरसिंह ने कहा—"हुजूर, यहाँ मोहनपुरा से भी बाघ का डर ज्यादा है। जो यहाँ लकडियाँ चुनने आते है, वे दोपहर के बाद ही उतर पड़ते है। जो आते है, वे जमात बाँध कर ही आते है—अकेले कोई आता भी नही। बाघ है, विषधर साँप है—जरा जंगल को देखिए, किस कदर घना है।

लाचार होकर हम उतरने लगे। केलिकदब के बडे-बड़े पत्तो की ओट मे शुक्र और बृहस्पति झलमला रहा था!

[दो]

एक दिन देखा, एक नए गृहस्थ के घर के बरामदे पर स्कूल मास्टर गनौरी तिवारी सखुए के पत्ते पर सत्तू सान कर मजे मे चट किए जा रहा है।

—"अरे, हुजूर! अच्छे तो है आप?"

—"मजे में हूँ। तुम कब आए? कहाँ रहे अब तक? ये लोग तुम्हारे कोई लगते है क्या?"

—"जी, ये लोग कुछ भी नही लगते। यहाँ से होकर गुजर रहा था, रात हो आई थी। ब्राह्मण है ये, इसी से यही रुक गया। जान-पहचान नही थी, अभी हुई है।"

मकान-मालिक ने आगे बढकर मुझे नमस्कार किया। बोला—"आइए, बैठिए हुजूर!"

—"बैठने का समय नही है। ठीक ही हूँ। जमीन लिए कितने दिन हुए?"

—"दो महीने हुए। अभी सारे खेतो को जोत भी नही सका हूँ।"

एक छोटी-सी बच्ची गनौरी तिवारी को तीन-चार मिर्च दे गई। वह उडद का सत्तू खा रहा था, नमक और मिर्च के साथ। मैं समझ नही सका कि सत्तू का उतना बडा लौंदा दुबले गनौरी तिवारी के किस पेट में अँटेगा! गनौरी असली खानाबदोश है। जहाँ बैठा वह खा रहा

था, उसके पास ही मैले कपड़े की एक पोटली पड़ी थी, एक गिलाफ यानी बालापोश जैसा पतला ओढ़ना। देखते ही मै भाँप गया—यह गनौरी तिवारी का है और संसार में यही उसका सर्वस्व है। मैंने उससे कहा—"गनौरी, अभी तो फुर्सत नही, तुम फिर कचहरी मे आना।"

तीसरे पहर गनौरी आया।

मैंने पूछा—"कहाँ थे तुम?"

—"मुंगेर के गाँवों में घूमता रहा हुजूर—बहुत-बहुत गाँव घूमे।"

—"घूम कर क्या करते रहे?"

—"लडको को पढ़ाया करता था पाठशाला खोल कर।"

—"चली नही कोई पाठशाला?"

—"दो महीने से ज्यादा कोई न चली। शुल्क ही नही देते लड़के।"

—"ब्याह-शादी की या नही? उम्र क्या हुई तुम्हारी?"

—"अपना ही गुजारा नही चलता, ब्याह क्या करूँ हुजूर! उम्र चौंतीस-पैंतीस की हुई होगी।"

गनौरी-जैसे गरीब इधर कम ही है। मुझे याद आया, एक बार वह बिना न्योते के ही भात खाने के लिए मेरे यहाँ आ पहुँचा था, शुरू-शुरू मे जब मै यहाँ आया था। अब जाने कब से उसे भात नहीं नसीब हुआ है। गगोतो का अतिथि बन-बन कर उड़द का सत्तू खाता फिरता है।

मैंने कहा—"रात को यहीं भोजन करना। कंटू मिश्र पकाता है, उसके हाथ की रसोई खाने में तुम्हे आपत्ति तो नही होगी?"

गनौरी बहुत खुश हुआ। भरपेट हँस कर बोला—"कंटू तो अपनी ही जाति का है, पहले भी मै उसके हाथ का खा चुका हूँ—आपत्ति क्या होगी?"

उसके बाद बोला—"जब आपने ब्याह की चर्चा उठाई ही है हुजूर, तो कह दूँ आपसे। पिछले साल सावन में एक गाँव में मैंने पाठशाला खोली। गाँव मे अपनी ही जाति के ब्राह्मण की एक घर था। उसी के

यहाँ रहा। उसकी लडकी से मेरी शादी की बात पक्की हो गई, यहाँ तक कि मुगेर से मै एक अच्छी-सी मिरजई भी खरीद लाया—मुहल्ले के लोग चिल्ल-पो करने लगे। कहा—"यह गरीब स्कूल मास्टर है, घर-द्वार का ठिकाना नही, इसे क्या लडकी व्याहोगे। टूट गया व्याह। मै वहाँ से चल भी दिया।"

—"लड़की को देखा था तुमने ? अच्छी थी ?"

—"देखता नही ? बडी अच्छी थी देखने मे। मुझसे उसे व्याहते भी क्यो ? ठीक ही तो है, मुझे है क्या ?"

समझा, व्याह टूट जाने से गनौरी बडा दुखी हुआ है। लड़की उसे जॅच गई थी।

उससे देर तक बाते होती रही। उसकी बातों से ऐसा लगा, जिदगी ने उसे कुछ भी नही दिया, दो मुट्ठी दाने के लिए यहाँ से वहाँ सदा भटकाती रही उसे! वह भी उससे न जुट सका। गगोतों के दरवाजे-दरवाजे घूम कर ही उसने आधी जिन्दगी गुजार दी।

बोला—"इसीलिए बहुत दिनों के बाद लवटोलिया आया हूँ। सुन रक्खा था, यहाँ वहुत सारी नई बस्तियाँ बस गई है। वह जगल नही रहा। आया, अगर यहाँ पाठशाला चला सकूँ। नही चलेगी हुजूर?"

मैंने सोच लिया, एक पाठशाला खोल कर गनौरी को उसमें लगा दूँगा। बहुत-से बच्चे यहाँ आए है। उनकी शिक्षा का प्रवन्ध करना मेरा ही तो कर्तव्य है। खैर, देखूँ क्या कर सकता हूँ।

[तीन]

अनोखी चाँदनी रात। राजू पाडेय और युगलप्रसाद गप लडाने को पहुँचे। कचहरी से कुछ ही दूर पर एक नई वस्ती वसी थी, वहाँ का भी एक आदमी आया। चार ही दिन हुए है कि वे छपरा से यहाँ आए है।

वह आदमी अपनी रामकहानी सुना रहा था कि वीवी-बच्चे लेकर

कहाँ-कहाँ की खाक छानी, कितने चौर और जगल मे कितनी बार घर-बार बसाया। कही तीन साल, तो कही दस साल—एक जगह दस साल रहा था कोसी नदी के किनारे। कही कोई तरक्की न कर सका। अब यहाँ आया है, अपनी उन्नति की आशा मे।

इन यायावर गृहस्थो की जिन्दगी भी अजीब होती है! इनसे मैंने बाते करके देखी है—इनके जीवन बिलकुल मुक्त और बंधनहीन होते है—न तो इनका कोई समाज है, न कोई संस्कार, अपने पुश्तैनी घर की ममता भी इनमे नही, खुले आसमान के नीचे अपनी दुनिया बसा कर ये जगल, पहाडो के बीच की उपत्यका, नदियो के चौंरो में रहा करते है। आज यहाँ, तो कल वहाँ।

इनके प्रेम-विरह, जीवन-मृत्यु, मेरे लिए सभी नए और अजीब-से है, मगर सब से अजीब मालूम हुई इस आदमी की तरक्की की उम्मीद।

समझ नही सका कि इस बैहार में महज दस-पाँच बीघे मे गेहूँ पैदा करके यह कौन-सी तरक्की की उम्मीद करता है!

उसकी उम्र पचास से ज्यादा हो चुकी थी। नाम था बलभद्र सेगाई। जात का कलवार। इस उम्र मे भी उसे उन्नति करने की उम्मीद रह गई थी!

मैंने पूछा—"इसके पहले कहाँ थे बलभद्र?"

—"मुगेर के एक दीयरे मे था हुजूर। दो साल रहा वहाँ। उसके बाद मकई की फसल मारी गई। वहाँ आगे उन्नति की कोई आशा न दीखी। हुजूर, ससार मे अपनी उन्नति की कोशिश हर कोई करता है। अब देखूँ, हुजूर के आश्रय में—"

राजू पांडेय ने बताया—"जब मैं यहाँ आया था, मेरे पास छै भैसें थीं—आज दस है। लवटोलिया उन्नति की जगह है—"

बलभद्र बोला—"मुझे भी एक जोडा भैस ले देना पांडेजी! अब की उपज हो, उस रुपए से भैस खरीदनी ही पड़ेगी—बगैर भैस के उन्नति नही होती।"

यहाँ रहा। उसकी लड़की से मेरी शादी की बात पक्की हो गई, यहाँ तक कि मुंगेर से मैं एक अच्छी-सी मिरजई भी खरीद लाया—मुहल्ले के लोग चिल्ल-पों करने लगे। कहा—"यह गरीब स्कूल मास्टर है, घर-द्वार का ठिकाना नहीं, इसे क्या लडकी व्याहोगे। टूट गया व्याह। मैं वहाँ से चल भी दिया।"

—"लड़की को देखा था तुमने? अच्छी थी?"

—"देखता नही? बड़ी अच्छी थी देखने में। मुझसे उसे व्याहते भी क्यो? ठीक ही तो है, मुझे है क्या?"

समझा, व्याह टूट जाने से गनौरी बड़ा दुखी हुआ है। लड़की उसे जँच गई थी।

उससे देर तक बातें होती रही। उसकी बातो से ऐसा लगा, जिदगी ने उसे कुछ भी नही दिया, दो मुट्ठी दाने के लिए यहाँ से वहाँ सदा भटकाती रही उसे! वह भी उससे न जुट सका। गगोतो के दरवाजे-दरवाजे घूम कर ही उसने आधी जिन्दगी गुजार दी।

बोला—"इसीलिए बहुत दिनों के बाद लवटोलिया आया हूँ। सुन रक्खा था, यहाँ बहुत सारी नई बस्तियाँ बस गई हैं। वह जंगल नही रहा। आया, अगर यहाँ पाठशाला चला सकूँ। नहीं चलेगी हुजूर?"

मैंने सोच लिया, एक पाठशाला खोल कर गनौरी को उसमें लगा दूँगा। बहुत-से बच्चे यहाँ आए हैं। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना मेरा ही तो कर्त्तव्य है। खैर, देखूँ क्या कर सकता हूँ।

[तीन]

अनोखी चाँदनी रात। राजू पाडेय और युगलप्रसाद गप लडाने को पहुँचे। कचहरी से कुछ ही दूर पर एक नई बस्ती बसी थी, वहाँ का भी एक आदमी आया। चार ही दिन हुए है कि वे छपरा से यहाँ आए हैं।

वह आदमी अपनी रामकहानी सुना रहा था कि बीवी-बच्चे लेकर

कहाँ-कहाँ की खाक छानी, कितने चौंर और जंगल मे कितनी बार घर-बार बसाया। कहो तीन साल, तो कही दस साल—एक जगह दस साल रहा था कोसी नदी के किनारे। कहो कोई तरक्की न कर सका। अब यहाँ आया है, अपनी उन्नति की आशा मे।

इन यायावर गृहस्थो की जिन्दगी भी अजीब होती है! इनसे मैंने बाते करके देखी है—इनके जीवन बिलकुल मुक्त और बधनहीन होते है—न तो इनका कोई समाज है, न कोई संस्कार ; अपने पुश्तैनी घर की ममता भी इनमें नही, खुले आसमान के नीचे अपनी दुनिया बसा कर ये जंगल, पहाडो के बीच की उपत्यका, नदियो के चौरों मे रहा करते है। आज यहाँ, तो कल वहाँ।

इनके प्रेम-विरह, जीवन-मृत्यु, मेरे लिए सभी नए और अजीब-से है ; मगर सब से अजीब मालूम हुई इस आदमी की तरक्की की उम्मीद।

समझ नही सका कि इस बैहार में महज दस-पाँच बीघे मे गेहूँ पैदा करके यह कौन-सी तरक्की की उम्मीद करता है!

उसकी उम्र पचास से ज्यादा हो चुकी थी। नाम था बलभद्र सेगाई। जात का कलवार। इस उम्र में भी उसे उन्नति करने की उम्मीद रह गई थी!

मैंने पूछा—"इसके पहले कहाँ थे बलभद्दर?"

—"मुगेर के एक दीयरे मे था हुजूर। दो साल रहा वहाँ। उसके बाद मकई की फसल मारी गई। वहाँ आगे उन्नति की कोई आशा न दीखी। हुजूर, संसार मे अपनी उन्नति की कोशिश हर कोई करता है। अब देखूँ, हुजूर के आश्रय में—"

राजू पाडेय ने बताया—"जब मैं यहाँ आया था, मेरे पास छै भैसे थी—आज दस है। लवटोलिया उन्नति की जगह है—"

बलभद्र बोला—"मुझे भी एक जोड़ा भैंस ले देना पांडेजी! अब की उपज हो, उस रुपए से भैंस खरीदनी ही पड़ेगी—बगैर भैस के उन्नति नही होती।"

गनौरी इनकी बातें सुन रहा था। उसने भी कहा—"बात सही है। एकाध भैंस खरीदने की इच्छा अपनी भी है। जरा कही जम जाऊँ"—

चाँदनी में महालिखारूप के पेड़-पौधे और उसके भी पीछे धनझरी गिरिमाला धुँधली-सी झलक पडी थी। थोड़ी-बहुत सर्दी-सी थी, इसलिए आग जलाई गई थी। आग की एक तरफ बैठे थे राजू पाडे और युगलप्रसाद, दूसरी तरफ बलभद्र और तीन-चार नए रैयत।

इनकी वैषयिक उन्नति की बातचीत मेरे लिए कैसी अनोखी थी! उन्नति की इनकी धारणा कुछ बहुत ऊँची नही, छै भैसो की जगह दस या बहुत जोर मारा तो बारह भैंसे—इस दुर्गम जगल और पहाडियो से घिरे इलाके मे भी मानव-मन की आशा-आकाक्षा क्या होती है, इसे जानने का सुअवसर पाकर यह चाँदनी रात ही मेरे लिए अपूर्व रहस्यमय हो उठी। और केवल चाँदनी रात ही क्यों, महालिखारूप का वह पहाड, दूर की वह धनझरी की पहाडियाँ, उनके ऊपर की वनपंक्ति, सब रहस्यमय लगी।

केवल युगलप्रसाद इन सासारिक बातो से सम्बन्ध नही रखता। वह एक विशेष प्रकार का व्रात्य मन लेकर इस दुनिया में आया है—जमीन-जायदाद, गाय-भैंस-आलोचना न तो उसे पसन्द है, न ऐसी चर्चा में वह सम्मिलित ही होता है।

उसने कहा—"सरस्वती-कुड के पूर्वी किनारे पर जो हंस-लताएँ लगाई थी, वे कैसी घनी हो उठी है, देखा है बाबूजी? किनारे-किनारे स्पाइडर लिली की बहार भी अब की खूब है। चाँदनी मे चलेंगे वहाँ घूमने?

मुझे तकलीफ होती, ुगलप्रसाद के इतने शौक के उस जगल को और कितने दिनो तक बचा पाऊँगा? पता नही, हंस-लता और जंगली हरसिंगार का मेला कहाँ गायब हो जायगा। उनकी जगह भुट्टे के पौधे सिर उठाए खड़े रहेगे, फूँस के घर, सटे-सटे छप्पर, घर के सामने खटिया, कीचड भरे आँगन मे नाद मे मुँह गाडे मवेशी सानी खाते रहेगे।

इतने मे आया मटुकनाथ पडित। आजकल उसकी पाठशाला में

प्राय: पन्द्रह छात्र कलाप और मुग्धबोध पढ़ रहे थे। हालत उसकी सुधर गई। इस बार फसल के दिनों मे यजमानों से गेहूँ और मकई इतनी मिली कि आँगन मे उसे छोटी-सी मोटी बाँधनी पडी।

मटुकनाथ इस बात का जलता प्रमाण है कि अध्यवसायी की उन्नति होकर ही रहती है।

फिर वही उन्नति की बात आ पड़ी।

मगर उन्नति की बात आए बिना चारा भी क्या? आँखों के आगे ही उदाहरण है कि मटुकनाथ ने चूँकि उन्नति की है, इसलिए आज-कल उसका आदर-सम्मान बढ गया है। कचहरी के जो अमले-प्यादे पगला समझकर उसे टाला करते थे, आँगन मे मोटी बाँधने के बाद से वही उसकी खातिर करते है। पाठशाला में छात्रो की सख्या भी दिन-प्रति-दिन बढती जा रही है। और युगलप्रसाद या गनौरी तिवारी को कोई टके को भी नही पूछता! नए रैयतो मे राजू पाडे.ने भी अपनी शाख जमा ली है—जब देखिए, जडी-बूटी की पोटली लिए वह गृहस्थो के बाल-बच्चों की नब्ज देखता फिरता रहता है, लेकिन राजू पांडे पैसे को नही चीन्हता, आदर पाकर गपशप से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

[चार]

तीन-चार महीने के अन्दर-अन्दर महालिखारूप पहाड से लेकर लबटोलिया और नाढा बैहार की सीमा तक रैयत बस गए। जमीन की बन्दोबस्ती होकर खेती तो पहले ही शुरू हो गई थी, पर आबादी इतनी नही बढी थी—इस साल दल-के-दल लोग आकर रातोरात बस्तियाँ बसाने में लग गए।

तरह-तरह के लोग। जर्जर टट्टू की पीठ पर बिछौने, बर्तन, पीतल का घडा, लकडी का बोझा, देवता, चूल्हा तक लिए एक परिवार को आते देखा। दूसरा एक परिवार आया—भैंस की पीठ पर लदे बच्चे, बर्तन-भाँडे, टूटी लालटेन, यहाँ तक कि चारपाई भी। किसी-किसी परिवार

—"सो क्या ?"

—"रासबिहारीसिंह उसे अपने घर ले गया था। कहा—'तुम मेरे जात-भाई की स्त्री हो, यही रहो '—"

—"फिर ?"

—"वहाँ रही कुछ दिन। शक्ल-सूरत देख रहे है उसकी—इतने दु:ख-कष्टो के बावजूद—रासबिहारीसिंह ने उससे बहुत कुछ कहा, उस पर अत्याचार करने की भी कोशिश की—सो लगभग महीने भर से वह यही आ गई भाग कर। सुना, रासबिहारी ने उसे छुरा दिखाकर डराया। वह बोली—'चाहे मार ही डालो मुझे, जान दे दूँगी, मगर धरम नही दे सकती'।"

—"कहाँ रहती है ?"

—"झल्लू टोले के एक गंगोते के यहाँ पनाह ली है। गुहाल मे एक छोटी-सी चलिया है, उसी मे रहती है।"

—"गुजारा कैसे होता है ? उसके तो दो-तीन बाल-बच्चे भी है ?"

—"भीख माँगती है, खेतों के कटने पर फसल बीनती है, कटाई करती है। बडी अच्छी औरत है हुजूर कुता। थी तो बाईजी की बेटी, मगर भले घर की औरतों-जैसा सुभाव है—कोई बुरा काम वह कर नही सकती।"

नाप-जोख खत्म हो गई। इस जमीन को बलिया जिले के एक आदमी ने बन्दोबस्त में लिया था—कल से वह यहाँ अपना घर बनाएगा। ग्राट साहब के बरगद की महिमा भी जाती रही।

महालिखारूप के पहाड़ पर खड़े पेड़ो पर धूप रंगीन हो आई। झुड-के-झुड सिल्ली सरस्वती-कुड की तरफ उड चले। साँझ होने मे ज्यादा देर न थी।

एक बात मन में आई।

जो रवैया है, देखता हूँ, इस विशाल लवटोलिया और नाढ़ा बैहार में जरा भी जमीन कहीं नही रह जायगी। बाहर के अजाने लोगो ने आ-

कर सारी जमीन ले ली ; लेकिन इसी भूमि मे जो सदा से रहे, मगर निहायत गरीब और अभागे है, क्या वे इसीलिए यहाँ की जमीन से वंचित रहेगे, क्योंकि उनके पास सलामी देने को पैसे नही है ? जिन्हे मै प्यार करता रहा हूँ, उनका इतना-सा उपकार तो जरूर ही करूँगा।

अशर्फी से मैंने कहा—"अशर्फी, कल कुता को तुम कचहरी में बुला लाना ? जरूरत है।"

—"जरूर हुजूर, जब कहे।"

दूसरे दिन सवेरे नौ बजे अशर्फी उसे मेरे सामने ले आया।

मैंने पूछा—"कैसी हो कुता ?"

उसने दोनों हाथ बाँध कर मुझे प्रणाम किया। बोली—"अच्छी हूँ हुजूर।"

—"और तुम्हारे बच्चे ?"

—"हुजूर की दुआ से वे भी अच्छे है।"

—"कितना बड़ा हो गया तुम्हारा बडा लड़का ?"

—"आठवें साल में पहुँचा है हुजूर।"

—"भैंस नही चरा सकता है ?"

—"उतने छोटे लडके को भैंस कौन चराने देगा हुजूर ?"

सचमुच ही कुता अभी भी देखने में अच्छी थी। जीवन के दुःख कष्टों ने उसके चेहरे पर जैसी छाप छोड़ी थी—साहस और पवित्रता ने भी वैसे ही जय-चिह्न अंकित कर दिए थे।

यह काशी की बाईजी की वही लड़की है—प्रेम-विह्वला कुता ! प्रेम की उज्ज्वल बाती इस अभागिन के हाथों आज भी गौरव के साथ जल रही है—इसी से उसे इतना दुःख है, इतनी हीनता, इतना अपमान। कुता ने प्रेम की मर्यादा रक्खी है।

पूछा—"जमीन लोगी कुता ?"

मानो वह समझ नही सकी कि वह जो सुन रही है, ठीक है। बोली—"जमीन हुजूर ?"

—"हाँ जमीन ? बन्दोबस्ती।"

कुंता ने जरा देर तो कुछ सोचा। फिर बोली—"पहले तो अपनी ही जोत थी कितनी। शुरू-शुरू में जब आई थी, देखा था मैंने। उसके बाद एक-एक करके सब-कुछ चला गया। अब क्या देकर जमीन मैं लूँगी हुजूर ?"

—"क्यो, सलामी के रुपए नही दे सकोगी ?"

—"कहाँ से दूँ ? रात को छिप-छिपाकर तो कटे खेतो से बिखरी बालें बीनती हूँ, दिन मे शायद कोई अपमान कर बैठे। एक टोकरी, आधी टोकरी उड़द लाती हूँ, वही बच्चो को खिलाती हूँ। हर रोज अपने लिए नही बचता—"

चुप होकर उसने आँखे झुका ली। दोनो आँखो से टप्-टप् आँसू बहने लगे।

अशर्फी वहाँ से खिसक गया। जवान का कोमल कलेजा, अभी भी दूसरे का दुख ठीक-ठीक बर्दाश्त नही कर सकता।

मैंने कहा—"मान लो, सलामी न लगे, तब ?"

उसने अचरज-भरी आँखों से मेरी तरफ देखा।

अशर्फी जल्दी-जल्दी उसके पास आ पहुँचा। हाथ हिला-हिला कर बोला—"हुजूर तुम्हे यों ही जमीन देगे, यो ही। समझा ?"

अशर्फी से मैंने पूछा—"लेकिन जमीन दी भी जाय, तो वह खेती कैसे करेगी ?"

अशर्फी बोला—"वह सब हो जायगा। हुजूर—इसे हल-बैल सभी दे देंगे। इतने तो गगोते है, घर पीछे एक-एक दिन भी हल दे देगे, तो इसकी खेती हो जायगी। यह जिम्मा मेरा रहा हुजूर।"

—"अच्छा अशर्फी, कितने बीघे मे कुता का काम चल जायगा ?"

—"जब मेहरबानी करके देही रहे है हुजूर, तो दस बीघे तो दे दीजिए।"

कुता से पूछा—"तुम्हे बिना सलामी के दस बीघा जमीन अगर

दे दी जाय, तो खेती करके जमीदार की मालगुजारी तो अदा कर ही दिया करोगी ! पहले दो साल तुम्हारी मालगुजारी भी माफ रहेगी । तीसरे साल से देनी पड़ेगी ।"

कुता मानो हतबुद्धि-सी हो गई । मानो वह यही नही समझ रही हो कि हम यह ठीक कह रहे है या उससे मजाक कर रहे है ।

कुछ-कुछ दिक्भ्रमित-सी होकर बोली—"जमीन। दस बीघे ।"

अशर्फी ने कहा—"हाँ-हाँ, हुजूर तुम्हे दस बीघा जमीन दे रहे हैं। दो साल की मालगुजारी माफ । तीसरे साल से देना । क्यो, राजी हो ?"

लाज-भरी आँखों से उसने मुझे देखा। बोली—"हुजूर दयालु हैं।" बाद मे अचानक विह्वल होकर रो पडी ।

मैंने इशारा किया । अशर्फी उसे बाहर ले गया ।

सत्रहवाँ परिच्छेद

[एक]

शाम के बाद लवटोलिया की नई बस्तियाँ बडी अच्छी दिखाई देती। कुहरा था, इसलिए चॉदनी जरा धुँधली हो रही थी। दूर तक फैले हुए खेत, भिन्न-भिन्न बस्तियो मे दूर-दूर दो-चार जलती बत्तियाँ। अन्न के सहारे कहॉ-कहाँ से कितने लोग यहॉ पर आ गए—जगल काट-काटकर गॉव बसाए, खेती शुरू की। सभी बस्तियो के मै नाम भी नही जानता, सब को चीन्हता भी नही। कुहरे से धुँधली हुई चॉदनी मे यहाँ-वहाँ विखरी बस्तियॉ कैसी रहस्यमयी लग रही है। जो लोग इन बस्तियो मे वसते है, उनका जीवन भी मेरे लिए इस धुँधली चाँदनी जैसा ही रहस्यमय है। इनमे से किसी-किसी से मैंने बाते की है—जीवन के बारे मे इनके दृष्टिकोण, इनके रहन-सहन के तौर-तरीके, सब मुझे अजीब-से लगते।

इनके खान-पान की ही बात ली जाय। अपने इलाके मे साल मे तीन फसल होती है—भादो मे मकई, पूस मे उडद और वैशाख मे गेहूँ। मकई बहुत ज्यादा नही होती, क्योकि उसके लायक जमीन नही थी। उडद और गेहूँ खूब होते—उडद बहुत होता, उसका आधा होता गेहूँ। सो लोगों का मुख्य खाद्य था उडद का सत्तू।

धान बिलकुल नही होता। धान के लिए जैसी जमीन होनी चाहिए, वैसी जमीन इलाके भर मे कही नही—कडारी और सरकारी खास महाल में भी नही ; लिहाजा यहॉ के लोगो को कभी-कभी ही भात नसीब होता—भात खाना यहॉ विलासिता मे गिना जाता है। खाने के शौकीन कुछ लोग गेहूँ और उडद बेच कर चावल खरीदा करते है , पर ऐसो की संख्या अँगुलियो पर ही गिनी जा सकती है।

फिर उनके मकानों की बात लें। गाँव के दस हजार बीघे के घेरे मे जो अनगिन बस्तिया बस गई है—सब में जो घर है, छौनी कसाल की, कसाल की टट्टियां, किसी-किसी ने उन पर मिट्टी पोत दी है, बहुतों ने वह भी नही पोती। बाँस इधर मिलते ही नही, इसलिए घर की खंभा-खूँटी ज्यादातर केंद और पियार की डालों की बनी है।

धर्म की तो चर्चा करना ही यहाँ फिजूल है। है तो ये हिन्दू, मगर नही जानता कि तैंतीस कोटि देवताओं के होते हुए—इन्होंने हनुमानजी को ही कैसे चुन कर निकाल लिया है—जिस बस्ती को देखिए, हनुमानजी की ध्वजा जरूर है—इस ध्वजा की नियम से पूजा होती है—डंडे मे सिन्दूर पोता जाता है। सीता-राम का नाम कभी-कभी ही सुनने मे आता है, उनके सेवक के गौरव ने उनके देवत्व को ढँक दिया है। विष्णु, शिव, दुर्गा, काली—इन देवी-देवताओ की पूजा का वैसा खास प्रचार नही—कुछ भी प्रचार है, इसमें भी मुझे सदेह है। कम-से-कम अपने इलाके में तो मैंनें कभी नही देखा।

भूलता हूँ, एक शिव का भक्त मुझे जरूर मिला था। नाम है द्रोण महतो—गगोता है। दस-बारह साल पहले किसी ने कचहरी की महावीरी ध्वजा के नीचे एक शिलाखंड लाकर रख दिया था—प्यादे समय-समय पर उसमें सेंदूर मलते हैं, कोई-कोई जल भी चढा देता है। लेकिन ज्यादा-तर वह अनादृत ही पडा है।

कचहरी से कुछ ही फासले पर एक नई बस्ती बनी है, द्रोण महतो ने वहीं अपना घर बनाया है। उम्र उसकी सत्तर से ज्यादा ही होगी, कम नहीं। पुराना आदमी है, इसीलिए नाम द्रोण है। आज का होता तो डोमन, लोधई, महाराज, ऐसा कुछ नाम होता। तब के माँ-बाप ऐसे बाबू कोटि के नाम रखने में शर्माते थे।

खैर; द्रोण एक बार कचहरी में आया। महावीरी ध्वजा के नीचे पडे उस पत्थर पर उसकी निगाह पड़ी। तब से वह बूढा रोज सुबह कालबलिया नदी में नहाकर और वहां से एक लोटा पानी लाकर रोजाना

उस पत्थर पर ढाला करता। सात बार उसकी प्रदक्षिणा करके साष्टाग दंडवत् करके तव अपने घर जाता।

मैंने द्रोण से एक दिन कहा भी था—"कलवलिया नदी तो एक कोस पर है। पास के कुड के पानी से भी तो काम चल सकता है—"

वह बोला—"महादेवजी बहती धार के पानी से प्रसन्न होते हैं बाबूजी! मेरा जन्म सार्थक है कि उन्हे रोज स्नान कराने का सौभाग्य मिला है।"

भक्त भी भगवान् को वनाते है। द्रोण महतो की पूजा की चर्चा लोगो मे फैली और धीरे-धीरे कुछ भक्त नर-नारियो का आना-जाना शुरू हो गया। इधर के जंगलो मे एक तरह की खुशवू वाली घास होती है। उसके पत्ते या डठल को सूँघने से खुशवू आती है। घास जितनी ही सूखती है, खुशवू उतनी ही तेज होती है। न जाने किसने लाकर शिवजी के चारो तरफ वही घास लगा दी। एक दिन मटुकनाथ ने आकर मुझ से कहा—"बावूजी, एक गंगोता रोज यहाँ आकर शिवजी को जल चढ़ाया करता है। यह अच्छा है?"

मैंने कहा—"पांडेजी, उसी गगोता ने लोगो मे शिवजी का प्रचार किया है। आप भी तो यही रहे, कभी तो एक लोटा पानी ढालते आपको नही देखा मैंने।"

गुस्से से मटुकनाथ की वुद्धि चकरा गई। बोला—"असल में वह शिवजी नही है वावूजी। प्रतिष्ठा किए विना ठाकुर पूजा के योग्य नही होते। यह तो महज एक पत्थर है।"

—"फिर कहते क्यो हो? कोई पत्थर पर पानी ढालता है, तो तुम्हे उज्र क्यो होता है?" तव से द्रोण महतो कचहरी के शिवजी का चार्टर्ड पुजारी वन गया।

कातिक की छठ यहाँ का वहुत बडा त्योहार है। टोले-टोले से हलदी से रगी साड़ियाँ पहनकर दल-की-दल औरते कलबलिया नदी में अर्घ्य देने जाती है। दिन-भर धूम-धाम रहती है। शाम को बस्ती के पास से

गुजरिए, तो पकवान की खुशबू मिलती है। काफी रात बीतने तक बच्चों के शोरोगुल, औरतो के गीत—जहाँ रात को नीलगायों के झुंड दौड़ा करते, हायना की हँसी और बाघ की खाँसी (जानकारो को पता है कि बाघ ठीक आदमी की खाँसी जैसी आवाज करता है) सुनी जाती थी, वहाँ आज हास-मुखरित, गीत गुंजित-उत्सवमय जनपद है।

छठ की साँझ को न्योते में झल्लू-टोला गया। वही नही, कचहरी के सभी लोगो को पन्द्रह टोलो से छठ का न्योता मिला था।

पहले मै टोले के मुखिया झल्लू महतो के यहाँ गया।

देखा, उसके घर के एक ओर अभी भी थोडा-बहुत जगल है। आँगन में उसने एक फटा शामियाना लगा रक्खा था, उसी के नीचे हमे आदर से बिठाया गया। मुहल्ले के लोग साफ-साफ धोती-मिरजई पहन कर एक तरह की घास की बनी चटाई पर बैठे थे। मैने कहा—"खाना नहीं खा सकूँगा। अभी और भी बहुत जगह जाना है।"

झल्लू ने कहा—"जरा मुँह मीठा तो करना ही पडेगा। घर की औरतों का जी बडा छोटा हो जायगा। आपके चरणो की धूल पड़ेगी, इसलिए उन्होने बड़े जतन से पकवान बनाए है।"

अब कोई चारा न था। गोष्ठ बाबू मुहर्रिर, मै और राजू पाडे बैठ गए। सखुए के पत्ते पर आटे और गुड के कई ठेकुए आए—एक-एक इंच मोटे और ईंट की तरह कडे। फेंक कर मारिए, तो आदमी मरे चाहे नहो, जख्मी तो हो ही जाय। हर पकवान साँचे का बना था, सब पर लता-पत्रादि अंकित थे। साँचे मे बना कर तब उन्हे घी मे छाना गया था।

जिन्हे औरतो ने बडे जतन से बनाया था, उन पकवानो का सदुपयोग मै नही कर सका। बडी-बडी कठिनाई से आधा खाया। न तो मीठा, न कोई स्वाद। समझ गया कि गगोतिनें पकाना-बकाना कुछ भी नहीं जानती। लेकिन देखते-ही-देखते राजू पाडे चार-पाँच खा गया और शायद शरम के मारे हम लोगो के सामने वह दुबारा माँग भी नही सका।

वहाँ से लोबई टोला गया। वहाँ से पर्वत-टोला, भीमदास-टोला।

अशर्फी-टोला, लछमिनिया-टोला। हर टोले में गीत-नाच और हँसी-खुशी की धूम थी। रात-भर लोग जगेंगे। इस-उस घर में खाते फिरेंगे और नाच-गान करते हुए ही तमाम रात कटेगी।

एक बात जानकर खुशी हुई। हर टोले की औरतो ने हम लोगो के लिए बड़े जतन से पकवान पकाया। चूँकि मैनेजर बाबू आयँगे ; इसलिए बडे ही उत्साह और यत्न से सब ने अपनी-अपनी पाक-कला की कुशलता का परिचय देने की कोशिश की थी , लेकिन मेरे लिए यह बड़े दुःख का कारण रहा कि औरतो की सहृदयता का आभार मन मे मानते हुए भी उनकी पाक-कला की तारीफ मैं नही कर सका। झल्लू-टोले से भी कही-कही गए-बीते पकवान मिले।

हर जगह यह देखा कि रगीन साडियाँ पहने ओट मे खडी-खड़ी औरतें बड़ी ही कौतुकपूर्ण आँखो से हमें खाते हुए देखती रही। राज पांडे ने किसी का जी न दुखाया, पकवान खाने की सीमा पार करके धीरे-धीरे वह असीम की ओर बढने लगा। फल-स्वरूप मैंने गिनना छोड दिया और इसलिए यह मै नही बता सकता कि उसने कितने खाए।

और राजू क्या, न्यौते पर आने वाले गगोतो मे से एक-एक ने बीस-बीस तीस-तीस वैसे ईंट-से कडे पकवानो की खबर ली। यदि अपनी आँखों से न देखे, तो सहज ही यकीन नही आ सकता कि आदमी इतना-इतना भी खा सकता है।

छनिया और सुरतिया के यहाँ भी गया।

मुझे देखते ही सुरतिया दौडी आई।

—"इतनी देर कर दी बाबूजी ? माँ और मैंने मिलकर आपके लिए खास तरह से पकवान बनाए है और तब से राह देखती हुई यही सोच रही हूँ कि इतनी देर आखिर क्यो हो रही है। आइए, आइए !"

नकछेदी ने सबको आदर से बिठाया।

तुलसी को बड़े यत्न से आसन आदि लगाते देख कर मैं मन-ही-मन हँसा। खा सकने की गुजाइश ही अब कहाँ रह गई थी पेट मे ?

सुरतिया से कहा—"माँ से कहो, पकवान निकाल ले। इतना कौन खाएगा?"

वह अचरज से मेरी तरफ देखकर बोली—"कहते क्या है वाबूजी, दो-ही चार तो हैं, इतना भी नही खाएँगे? मैंने और सुरतिया ने तो पंद्रह-सोलह खाए हैं। आप खाएँगे, इसलिए माँ ने इसमे किशमिश मिलाया है, बाबूजी, भीमदास-टोले से बढ़िया आटा ले आए है—"

न खाने की कहकर मैंने अच्छा नही किया। साल-भर ये बच्चियाँ पकवान की शक्ल नही देख सकती। इनके लिए यह कितने कष्ट, कितनी आशाओ की चीज हैं। उन बच्चियो का मन रखने के लिए किसी-किसी तरह खा लिए दो।

सुरतिया को खुश करने के लिए कहा—"वाह, खूब बने हैं। आज कई जगह खाना पडा है, इसलिए ज्यादा खा नही सका। फिर कभी देखा जायगा।"

राजू पाँडे के हाथ मे एक पोटली। हर घर से उसने परोसा लिया। एक-एक ठेकुए के वजन के हिसाब से राजू की पोटली दस-बारह सेर से तो हर्गिज कम न होगी।

राजू बहुत खुश था। बोला—"यह ठेकुआ जल्दी खराब नही होता है वाबूजी!—दो-तीन दिन रसोई से छुट्टी मिल गई। यही खाकर काम चल जायगा।"

दूसरे दिन पीतल की एक थाली लिए कचहरी मे कुता आई। संकोच के साथ उसने थाली मेरे सामने रख दी। थाली कपड़े के एक सफेद टुकड़े से ढँकी थी।

मैंने पूछा—"क्या है कुता?"

—"छठ का पकवान है बाबूजी! कल रात दो बार आ-आकर लौट गई।"

मैंने कहा—"कल बहुत रात वीते लौटा था, छठ के न्योते जो थे। अच्छा रख दो जरूर खाऊँगा।"

कपड़ा उघार कर देखा, थाली में कई तो ठेकुए थे, थोड़ी-सी चीनी थी, दो केले, एक टुकड़ा नारियल और एक नारंगी ।

मैंने कहा—"अच्छा, बहुत बढ़िया पकवान है यह तो ।"

कुंता संकोच के साथ धीमे-धीमे बोली—"दया करके सब खाइएगा, बाबूजी ! आपके लिए बनाया है । यही दुःख रहा कि आपको गरम-गरम न खिला सकी ।"

—"कोई हर्ज नही—सब खा लूँगा मै । बहुत अच्छा है ।"

कुंता प्रणाम करके चली गई ।

[दो]

एक दिन मुनेश्वरसिंह प्यादे ने आकर कहा—"हुजूर, जंगल में पेड़ के नीचे फटा हुआ कपड़ा बिछा कर एक आदमी सोया हुआ है, लोग उसे बस्ती मे नही जाने देते—ढेले से मारते है। हुक्म दे, तो उसे यहाँ ले आऊँ।

मुझे ताज्जुब हुआ । तीसरे पहर का समय, साँझ हो चली है, सर्दी ज्यादा नही है, फिर भी कातिक का महीना, रात को काफी ओस पड़ती है, भोर के समय काफी ठढ होती है । ऐसे में एक आदमी जंगल मे पेड़ के नीचे क्यो सोया है, लोग उसे ढेले से मारते ही क्यो है—समझ नही सका ।

मै गया । देखा ग्रांट साहब के बरगद के पास (कोई बीस-तीस साल पहले ग्रांट साहब यहाँ नाप-जोख करने आए थे और यही तबू डाला था—तब से बरगद का यही नाम पड गया) झाड़ियों में एक अर्जुन गाछ के नीचे मैला कपडा बिछाकर एक आदमी सोया हुआ है । अँधेरे में ठीक से उसे देख नही सका, सो आवाज दी—"कौन है ? कहाँ घर है ? इधर आ जाओ—"

वह बाहर निकल आया—लगभग घुडककर निकला—धीरे-धीरे । पचास से ऊपर उम्र होगी, जर्जर चेहरा, मैला और फटा कपडा, मिरजई पहने ! झाड़ी मे से जब वह बाहर निकल रहा था, एक अजीब असहाय

भाव से शिकारी द्वारा भगाए गए पशु की तरह भयभीत निगाह से मुझे देख रहा था।

निकल आने पर देखा, उसके बाएँ हाथ और पाँव में बड़ा भारी जख्म है। इसीलिए बैठ जाने या सो रहने पर वह सहसा उठ नही सकता।

मुनेश्वरसिंह बोला—"शायद घाव के कारण ही लोग इसे बस्ती मे नही घुसने देते। माँगने से पानी भी नही देते, दुरदुरा कर निकाल देते है।"

समझ गया कि सर्दी की रात मे उसने इस झाड़ी मे क्यो शरण ली है।

मैंने पूछा—"तुम्हारा नाम? घर कहाँ है?"

मुझे देखकर भय के मारे वह न जाने कैसा हो गया—आँखो मे रोग-कातर, भीत और बेबस दृष्टि। मेरे पीछे लाठी लिए खडा था मुनेश्वरसिह। उसने शायद यह समझा कि हम उसे इस झाड़ी मे से भी निकालने को आए है।

बोला—"मेरा नाम? नाम गिरधारीलाल है हुजूर, घर मेरा तिनटंगा है।" दूसरे ही क्षण एक अजीब आवाज मे—विनती, आरजू और विकार के रोगी की मिली-जुली आवाज मे बोला—"जरा पानी पीता—पानी"—

मैंने उसे पहचान लिया। उस बार पूस के मेले में मैंने उसे ब्रह्मा महतो के तंबू में देखा था—वही गिरधारीलाल। वही डरी-डरी निगाह, चेहरे मे वही विनम्र भाव—

भगवान् क्या नम्र, डरपोक और गरीब को इतनी तकलीफ दिया करते है दुनिया मे? मैंने मुनेश्वरसिह को कहा—"कचहरी से जाकर चार-पाँच आदमियो को एक चारपाई के साथ बुला लाओ।"

वह चला गया।

मैंने पूछा—"तुम्हे हुआ क्या है गिरधारीलाल? मै तुम्हे पहचानता हूँ। तुमने मुझे नही पहचाना? उस बार मेले में ब्रह्मा महतो के खेमे में भेट हुई थी—याद नही है? डरो मत—तुम्हे क्या हो गया है?"

गिरधारीलाल जोर से रो पड़ा। हाथ-पाँव दिखाकर बोला—"कटकर घाव हो गया था हुजूर। बहुत उपाय किया, जिसने जो कहा, वही किया। घाव बढता ही गया। अन्त मे सब ने कहा—'तुम्हे कोढ हो गया है।' इसी से चार-पाँच महीने से ऐसा ही कष्ट पा रहा हूँ। गाँव मे लोग घुसने नही देते। भीख पर किसी तरह गुजारा करता हूँ। रात को कही आश्रय नही मिलता—इसी से इस झाडी मे—"

—"इधर कहाँ जा रहे थे ? यहाँ कैसे आए ?"

इतने ही मे वह हाँफ उठा था। जरा दम लेकर बोला—"पूर्णियाँ जा रहा हूँ हुजूर—अस्पताल। नही तो घाव तो जाना नही चाहता।"

अचरज हुआ, जीने की कैसी लालसा होती है आदमी मे। जहाँ वह था, पूर्णियाँ वहाँ से चालीस मील से कम नही—सामने मोहनपुरा जैसा खतरनाक जंगल और ऐसा जख्म लेकर वह बीहड राह से पूर्णियाँ जा रहा है।

चारपाई आ गई। प्यादो के रहने के घर के पास उसे एक खाली कमरे में ले जाकर उसे सुला दिया। प्यादों ने भी कोढ के नाम से जरा एतराज किया था। समझाने से वे समझ गए।

लगा कि गिरधारीलाल बडा भूखा है। कई दिनो से पेट भर खाना उसे नही मिला है। थोडा-सा गरम दूध पिलाने से वह जरा होश मे आया।

साँझ को उसके कमरे मे गया, तो वह बेखबर सो रहा था।

दूसरे दिन वहाँ के नामी वैद राजू पाँडे को बुलवाया। गभीर होकर उसने बड़ी देर तक रोगी की नब्ज देखी। मैंने कहा—"देखो, तुमसे कुछ होगा भी या पूर्णियाँ भेजना पडेगा ?"

राजू के अभिमान को चोट लगी। बोला—"आपके माँ-बाप के आशीर्वाद से सालो से यही काम करता आया हूँ। पन्द्रह दिन के अन्दर घाव ठीक हो जायगा।"

बाद में मैंने समझा, उसे अस्पताल ही भेज देता, तो अच्छा था।

—"जमीरी नीबू के इतने पेडो का क्या करोगे ?"

—"हुजूर ये सरबती नीबू है। मै इसे बहुत पसन्द करता हूँ। चीनी-मिसरी नही जुटती, बूरा या गुड का शरबत बना कर इसी नीबू का रस मिलाने से बेहतरीन हो जाता है।"

देखा, आशा के आनन्द से उसकी दो निरीह आँखे चमक उठी।

—"अच्छी जात का है। पाव-पाव भर का एक-एक नीबू होगा। बड़े दिनों से साध थी, जमीन-जगह कभी होगी, तो सरबती नीबू के पेड लगाऊँगा। दूसरे के यहाँ नीबू के लिए बहुत बार अपमानित होना पड़ा है। वह दुःख अब न रहेगा।"

घाव के लिए नही, घाव का रग तो राजू की जडी-बूटी से पॉच ही छै दिन में बदल गया'। मुसीबत हुई सेवा की। कोई उसे छूना नही चाहता था। घाव मे दवा नही लगाना चाहता था, पानी पीने के बाद कोई लोटा मॉजने को भी तैयार नही था।

ऊपर से हो आया उसे बुखार—जोरों का बुखार।

लाचार कुंता को बुलवाया। कहा—"बस्ती से किसी गंगोतिन को बुला दो, इसकी देख-रेख करे। पैसे मैं दूँगा।"

कुता ने विना आगा-पीछा सोचे कहा—"मैं सेवा करूँगी बाबूजी, पैसे आपको नही देने पड़ेंगे।"

कुता राजपूत की स्त्री थी। वह गगोता रोगी की सेवा कैसे करेगी? मैंने समझा, उसने मेरा आशय नही समझा।

बोला—"उसके जूठे वर्त्तन धोने है, खिलाना है। वह उठ तो नही सकता। यह सब तुम कैसे करोगी?"

कुता बोली—"आपका हुक्म होगा, तो मैं सब कुछ करूँगी। मै राजपूत कहाँ हूँ बाबूजी, मेरी जात-बिरादरी वालों ने इतने दिनों मे मेरी खोज-पूछ भी की? आप जो भी कहेगे, मैं करूँगी। मेरी जात क्या।"

राजू की जडी-बूटी और कुता की सेवा से गिरधारी महीने भर में चंगा हो गया। इसके लिए देने पर भी कुता ने कुछ नही लिया। देखा, इस बीच गिरधारीलाल को वह बाबा कहकर पुकारने लगी है। बोली—"अहा, बाबा को कष्ट है, मैं सेवा का पैसा क्या लूँगी। माथे के ऊपर धरमराज नही है?"

जीवन मे मैंने जो दो-एक अच्छे काम किए, उनमे से एक प्रधान काम था गिरधारीलाल को बिना सलामी लिए कुछ जमीन देकर लवटोलिया में वसाना।

उसके झोपडे मे एक दिन गया था।

अपने ही हाथों पाँचेक बीघा जमीन साफ करके उसने गेहूँ बोया था। झोपड़े के चारों तरफ जमीरी नीबू के पेड लगाए थे।

—"जमीरी नीबू के इतने पेड़ो का क्या करोगे ?"

—"हुजूर ये सरबती नीबू है। मैं इसे बहुत पसन्द करता हूँ। चीनी-मिसरी नही जुटती, बूरा या गुड़ का शरबत बना कर इसी नीबू का रस मिलाने से बेहतरीन हो जाता है।"

देखा, आशा के आनन्द से उसकी दो निरीह आँखे चमक उठी।

—"अच्छी जात का है। पाव-पाव भर का एक-एक नीबू होगा। बड़े दिनो से साध थी, जमीन-जगह कभी होगी, तो सरबती नीबू के पेड लगाऊँगा। दूसरे के यहाँ नीबू के लिए बहुत बार अपमानित होना पड़ा है। वह दुःख अब न रहेगा।"

अठारहवाँ परिच्छेद

[एक]

यहाँ से चल देने का समय आ गया। एक बार भानुमती से मिलने की बड़ी इच्छा हुई। धनझरी शैलमाला एक सुन्दर सपने की तरह मेरे मन में बैठ गई है....उसके वन...उसकी चाँदनी रातें... .

साथ लिया युगलप्रसाद को।

वह तहसीलदार सज्जनसिंह वाले घोड़े पर चला—अपने मौजे की हद पार होते-न-होते बोला—"हुजूर, यह घोडा नही चलने का। जंगल के रास्ते में इसने रहल चाल पकडी नही कि ठोकर खाकर गिरेगा। मेरा भी पैर टूटेगा। मै दूसरा घोडा ले आऊँ।"

मैंने भरोसा दिया। सज्जनसिंह खासा घुडसवार है। जाने कितनी बार मुकद्दमे की पैरवी में इसी घोड़े पर वह पूर्णियाँ गया। पूर्णियाँ का रास्ता कैसा बीहड है, तुमसे छिपा नही।

हम कारो नदी पार हुए।

उसके बाद जंगल—देखने लायक, अनोखा, घना और निर्जन जगल। यह पहले ही कह चुका हूँ, इस जंगल में माथे के ऊपर डालो की आपसी टकराहट नही—सखुआ, केंद, पलाश, महुआ और बेर के पेड—चट्टानों वाली रगीन भूमि—ऊब्रड-खाबड। मिट्टी पर कही-कही जंगली हाथी के पैर के निशान। आदमी का नाम-निशान नही।

लवटोलिया के गदे और घने मुहल्लो, जुते हुए खेतो से बाहर निकल कर जान-में-जान आई। ऐसे जंगल इधर और कही नही है।

रास्ते मे पडने वाले बुरूडी और कुलपाल गाँव को बारह बजे से पहले ही हम पार कर गए। पतला जगल उन्ही के साथ पीछे छूट गया—

सामने बड़े पेड़ों वाला सघन वन। कातिक के आखिरी दिन, हवा में खुनकी—गरमी नाम को भी नही।

दूर पर धनझरी की पहाडियाँ साफ दीखने लगी।

साँझ को बीडी-पत्ते का जगल इजारा लेने वाले की कचहरी में पहुँचा।

वह शाहावाद का रहने वाला मुसलमान था। नाम था अब्दुल वाहिद। बडी आवभगत की उसने। बोला—"अच्छा ही हुआ कि साँझ होते-होते पहुँच गए। जंगल में बाघ का बडा डर है।"

निस्तब्ध रात्रि।

पेडो में हवा की सनसनाहट।

बाघ की बात सुनकर कचहरी के बरामदे में बैठने का साहस भी न हुआ।

खिडकी खोल कर कमरे में बाते करने लगा। अचानक जंगल में से किसी जतु की आवाज आई। मैंने युगल से पूछा—"क्या है ?"

युगल बोला—"जी कुछ नही, भेडिया है।"

गहरी रात को जगल मे हायना की हँसी सुनाई पडी—ऐसी हँसी कि सहसा सुनकर मारे डर के छाती का लहू जम जाय, ठीक जैसे दमे के रोगी की हँसी हो—बीच-बीच में गुम, फिर हँसी।

दूसरे दिन सबेरे रवाना हुआ। नौ बजे के करीब दोबरू पन्ना की राजधानी पहुँच गया। मेरे इस अप्रत्याशित आगमन से भानुमती की खुशी का ठिकाना न रहा। हँसी होठो और आँखो में दबाए नही दब रही थी, छिटकी पड रही थी।

—"कल भी आपकी बात सोच रही थी मै। इतने दिनो से आए क्यो नही ?"

भानुमती जरा लम्बी लग रही थी—दुबली भी ; मगर मुखमंडल वैसा ही लावण्य-भरा, बनावट वैसी ही सुन्दर।

—"झरने में ही नहाएँगे न ? तेल महुए का लाऊँ या सरसों का ?

इस बार बरसात मे झरने मे कितना अच्छा पानी आया है, चलिए देखिए। ”

मैं एक बात और भी गौर से देख रहा था—भानुमती रहती बड़ी साफ-सुथरी है, इस बात में दूसरी सथाल स्त्रियो से उसकी तुलना ही नही हो सकती। वेश-भूषा और प्रसाधन का सहज सौन्दर्य और रुचि-बोध ही उसके अभिजातवंश की लडकी होने का परिचय दे देता है।

मिट्टी के जिस घर के बरामदे में मैं बैठा था, उसके आँगन के चारो तरफ आसान और अर्जुन के बड़े-बड़े पेड थे। तोतों का झुड आसान पेड़ पर कलरव कर रहा था। हेमंत का आरभ था, समय ज्यादा हो जाने पर भी हवा में नमी थी। सामने आधे मील से भी कम फासले पर धनझरी की पहाड़ियाँ, माँग की तरह उसमें से उतरती हुई पगडडी— एक तरफ बहुत दूर पर नीले मेघ-सी दीखती हुई गया की पर्वत-पक्तियाँ।

काश, मैं बीड़ी के पत्ते का जंगल खरीद कर इस शान्त जन-विरल प्रदेश की छाया-सघन उपत्यका के किसी पहाड़ी झरने के किनारे झोपड़ा बनाकर रहता होता! लवटोलिया तो गया, लेकिन भानुमती के देश के इस जंगल को कोई नष्ट नही करेगा। इधर की माटी मे कंकड़ और पायो-राइट ज्यादा है, फसल वैसी नही होती—फसल होती तो कभी-न-कभी यह भी जगल नष्ट हो जाता। हाँ, ताँबे की खान निकल पड़े, तो और बात है।.....

ताँबे के कारखाने की चिमनी, ट्राली की लाइन, कुलियों के घरों की कतार, इजन से झडे कोयले की राख का ढेर—दूकान, चाय की दूकान, सस्ता सिनेमा—‘जवानी की हवा’, ‘शेर-शमशेर’, ‘प्यार का फंदा’ (मैटिनी में तीन आने, पहले से जगह दखल कर लें)—देशी शराब की दूकान—दरजी की दूकान। होम्यो फारमेसी (गरीब रोगियों का मुफ्त इलाज किया जाता है)। आदर्श और पवित्र हिन्दू होटल।

तीन का भोपू बजा।

भानुमती इजन से झड़े कोयले की टोकरी माथे पर लिए हुए बेचने चलीं—'लो, कोयला लो, चार पैसे टोकरी.....'

तेल लेकर भानुमती आ पहुँची। घर के सभी लोगो ने नमस्कार करके मुझे घेर लिया। भानुमती का छोटा चचा नौजवान जगरू एक डाल छीलता हुआ आया और हँस कर मेरी तरफ देखने लगा। इस जगरू को मै वहुत चाहता था। राजकुमार जैसा चेहरा, रग का काला, मगर कैसा रूप! इस घर में जगरू और भानुमती, इन दो को देखने से संदेह नही रह जाता कि वन्य जातियो में ये अभिजात वश के है।

पूछा—"क्यो जगरू, शिकार का क्या हाल है?"

हँसकर उसने कहा—"आप फिक्र न करें, आज ही आपको खिला दूंगा। कहिए, क्या खाएँगे, साही, हरियल या वनमुर्गी?"

मै नहा कर आया। वाल झाड़ने के लिए भानुमती ने वही आईना (जो मैंने पूर्णियां से ला दिया था) और लकडी की एक कंघी लाकर दी।

भोजन के बाद आराम कर रहा था। बेला झुक आई थी। भानुमती ने आकर कहा—"पहाड पर नही चलेंगे? आप तो पहाड पसन्द करते है।"

युगलप्रसाद सो रहा था। उसके जग जाने के बाद हम पहाड़ के लिए निकले। साथ में भानुमती, भानुमती की चचेरी वहन—जगरू के मँझले भाई की लड़की—बारह साल की, और युगलप्रसाद।

आध मील चलकर पहाड़ के पास पहुँचे।

धनझरी के नीचे जगल का दृश्य ऐसा अनोखा है कि यहाँ जरा देर तक रुककर देखने की इच्छा होती। जिधर भी देखता, उधर ही बड़े-बड़े पेड, लता, कँकरीला झरने का कुड, जहाँ-तहाँ विखरे हुए छोटे-बड़े शिलाखड। जंगल और पहाड की ओट से आसमान कैसा शुरू हो गया है! सामने कँकरीली लाल मिट्टी की राह जंगल से होती हुई पहाड़ के ऊपर चली गई है—कैसी सूखी सख्त मिट्टी, न ओदी, न सीलवाली। झरने में भी पानी नही।

घने जगल को चीर कर पहाड़ पर चढ़ते ही जाने किस चीज की मधुर गंध से मन-प्राण मत्त हो उठे, गंध वडी परिचित-सी थी, पहले समझ नही सका, वाद में जव चारो तरफ निगाह फैलाई, तो देखा सप्तपर्ण के फूलो से लदे पेडो की भरमार—खुशवू उसी की थी।

और केवल दो-चार पेड़ नही, सप्तपर्ण का पूरा जंगल था। और थे केलि-कदव, कदंव नही, केलि-कदव की जात ही और होती है। साग-वान के पत्तो से वडे-वड़े पत्ते। आँकी-वॉकी खूवसूरत डालियाँ।

हेमंत के अपराह्न की शीतल वयार में, फूलो से लदे सप्तपर्ण के वन मे खड़े होकर स्वस्थ किशोरी भानुमती की ओर देखकर जी मे आया, मूर्तिमती वनदेवी के सग-लाभ से मै धन्य हो गया हूँ। वह राजकुमारी तो है ही, यह जगल, यह पहाड, वह मिट्टी और कारो नदी की तलहटी, इधर धनझरी और उधर नवादा की पहाडियाँ—ये सारे इलाके कभी जिस राजवश के कब्जे मे थे, यह उसी राजवश की लड़की है। वह राज-वश आज नए युग की आव-हवा, भिन्न सभ्यता के सघात से विपन्न, गरीव और प्रभावहीन हो गया है, इसी से भानुमती को हम सथाल की लड़की-सी देखते है। उसे देखते ही भारत के इतिहास के अलिखित करुण अध्याय मेरी आँखो के आगे थिरक उठते है।

आज का यह अपराह्न मेरे जीवन के दूसरे अनेक सुन्दर अपराह्नों से जडित होकर स्मृतियो के समारोह में उज्ज्वल हो उठा—सपने-जैसा ही मधुर, सपने-जैसा ही अवास्तविक।

भानुमती वोली—"और ऊपर नही जाएँगे ?"

—"फूल की कैसी मीठी महक है। जरा देर यहॉ वैठोगी नही ? सूरज डूव रहा है—देख लूँ—"

मुस्काती हुई भानुमती वोली—"आपकी जो मर्जी ! वैठने को कहते है, वैठती हूँ ; लेकिन वावा की कब्र पर फूल नही चढाएँगे ? आपने ही तो सिखा दिया था, मै रोज यहॉ फूल चढाने आती हूँ। अभी तो यहाँ फूलो की भरमार है।"

आगे मिट्टी नदी उत्तरवाहिनी होकर पहाड के नीचे की तरफ घूम गई है। नवादा की ओर जो पहाड़ियाँ धुँधली दीख रही थी, उन्ही के पीछे सूरज डूब गया। सूरज के डूबते ही पहाडी हवा और भी ठढी हो गई। सप्तपर्ण की सुवास और भी गाढी हो गई, और भी गहरी छाया उतरी वनस्थली में, नीचे की उपत्यका मे, कारो नदी के पार की पहाडियों पर।

भानुमती ने जूडे में एक गुच्छा फूल खोस लिया। बोली—"बैठूँ कि यहाँ से चलेंगे बाबूजी?"

फिर ऊपर चढने लगा। सब के हाथो मे फूलो से भरी सप्तपर्ण की एक-एक डाल। एकबारगी ऊपर चढ गया। बरगद का वही पुराना पेड, पेड के नीचे राज-समाधि। चारो तरफ बिखरे पडे शिलाखड। भानुमती और उसकी बहन ने राजा दोबरू पन्ना की कब्र पर फूल बिखेरे, मैंने और युगलप्रसाद ने भी बिखेरे।

बच्ची तो है ही भानुमती—भोली बालिका-सी ही बेहद खुश हो गई। नन्ही नादान-जैसी ही बोली—"यहाँ जरा रुक जाऊँ बाबूजी, क्यो? अच्छा लग रहा है। है न?"

मै सोच रहा था—बस, यही आखिरी है। यहाँ फिर कभी नही आऊँगा। यह समाधि, यह जगल—इन्हे फिर नही देख सकूँगा। यहाँ के सप्तपर्णो से, भानुमती से यही हमारी सदा के लिए विदाई है। छै साल का वनवास काट कर कलकत्ता जाना है, लेकिन जाने के दिन ज्यो-ज्यो समीप आ रहे है, मै इन्हे और भी कसकर क्यो पकडता जा रहा हूँ?

इच्छा हुई कि भानुमती से यह कह दूँ। देखूँ कि मेरे जाने की बात पर वह क्या कहती है, मगर इस भोली वन-बाला को प्यार और आदर की बात कह कर होगा भी क्या?

साँझ होते-होते एक और भी नई खुशबू मिली। आस-पास बहुत-से हरसिंगार के पेड थे। साँझ होते-होते हरसिंगार की गाढ़ी खुशबू ने साँझ की हवा को और भी मधुर कर दिया। सप्तपर्ण के पेड और नीचे हैं।

इसी बीच पेडो पर जुगनू जलने लगे। हवा कैसी तेज, मीठी, मनोरम। साँझ के समय यह हवा सेवन की जाय, तो आयु बढने मे क्या सन्देह ? उतरने को जी नही चाह रहा था, लेकिन जानवरो का भय था, फिर साथ मे थी भानुमती। युगलप्रसाद शायद इस फिक्र मे लगा था कि यहाँ से कौन-कौन-से नए पेड ले जाकर वहाँ रोपे जायँ। मैंने देखा उसकी नजर और कही नही, नई लताओ, नए पौधो, फूल और अच्छे पत्तो पर गडी थी। युगलप्रसाद को पागल ही कहिए, इसी तरह का पागल।

सुनते है, फारस से चनार के पेड मँगवा कर नूरजहाँ ने काश्मीर मे लगवाए थे। आज नूरजहाँ तो नही रही, पर सारा काश्मीर चनार के पेड से भर गया है। युगलप्रसाद मर जायगा, मगर सरस्वती-कुड मे सौ साल के बाद भी हेमत में खिले हुए स्पाइडर लिली के फूल अपनी खुशबू बिखेरते रहेगें, या किसी-न-किसी झाड़ी मे वन्य हस-लता के हसनुमा फूल डोलते रहेगे—चाहे कोई यह न भी कहे कि युगलप्रसाद ने ही उन फूलो को लाकर नाढा बैहार मे लगाया था।

भानुमती बोली—"बाएँ वह जो है, वह उसी टाडबारो का पेड है। पहचानते है ?"

मै जंगली भैसों के दयालु देवता टाडबारो के पेड को अँधेरे मे पह-चान नही सका।

बडी दूर तक उतर आया। सप्तपर्ण के पेड आ गए। कैसी मन को नशे से भर देने वाली खुशबू।

भानुमती से कहा—"जरा बैठ लूँ।"

अंधकार-भरी वन-वीथि से उतरते-उतरते मैंने सोचा—लवटोलिया, गया, नाढा और फुलकिया बैहार गया, लेकिन महालिखारूप का पहाड रहा, रही भानुमती की यह धनझरी पहाडी। देश मे शायद ऐसा भी एक समय आए, जब मनुष्यो को जंगल देखना नसीब न हो—जहाँ नजर जायगी—खेत ही खेत होगे, जूट और कपडे की कलो की चिमनियाँ होगी।

तब लोग इन निर्जन वन-प्रदेशो में आएँगे—जैसे लोग तीर्थों मे जाया करते है। उन अनागत दिनो के लोगो के लिए ये सारे वन अक्षुण्ण रहे।

[दो]

रात को जगरू पन्ना और उसके दादा के मुँह से उन लोगो की बहुतेरी बाते सुनी। महाजन का कर्ज अभी तक चुकाया नही जा सका है, रुपये उधार लेकर दो भैंसे खरीदनी पडी, बिना इसके काम नही चल रहा था, गया का एक मारबाडी घी खरीद कर ले जाया करता था, पिछले तीन-चार महीने से उसका भी कही पता नही। आध मन के करीब घी तैयार है, कोई लेने वाला ही नही।

भानुमती आकर एक तरफ बैठ गई। युगलप्रसाद चाय का बहुत आदी है। मुझे पता था कि वह अपने साथ चाय-चीनी ले आया है। यह भी जान रहा था कि सकोच से वह गरम पानी की बात कह नही पा रहा है। मैंने कहा—"भानुमती, चाय के लिए थोडा-सा पानी गरम हो सकेगा ?"

राजकुमारी भानुमती ने चाय कभी नही पी। चाय पीने का इधर रिवाज भी नही। उसे बता दिया गया। वह गरम करके पानी ले आई। उसकी बहन कुछ पत्थर के कटोरे ले आई। भानुमती से चाय पीने का आग्रह किया। उसने नही पी। जगरू ने एक कटोरा पीकर थोडी-सी और माँगी।

चाय पीकर और सब तो उठ गए, भानुमती बैठी रह गई। पूछा—"यहाँ कितने रोज डेरा रहेगा बाबूजी ? अबकी बहुत दिनो बाद आए है। कल तो हर्गिज नही जाने दूँगी। कल चलिए, आपको झांटी झरना दिखा लाऊँ। वहाँ और भी घनघोर जंगल है। जंगली हाथी बहुत है। वन-मयूर भी बहुत है। सुन्दर जगह है—दुनिया मे वैसी दूसरी जगह नही।

बडी इच्छा हुई यह जानने की कि भानुमती की दुनिया कितनी बडी है। पूछा—"कभी कोई शहर देखा है ?"

—"जी नही।"

—"दो-एक शहर के नाम तो बताओ।"

—"गया, मुगेर, पटना।"

—"कलकत्ता का नाम नही सुना?"

—"जी, सुना है।"

—"जानती हो, किधर है?"

—"क्या जानू बाबूजी।"

—"हम लोग जहाँ रहते हैं, उस देश का नाम जानती हो?"

—"हम गया जिले मे रहते है।"

—"भारतवर्ष का नाम सुना है?"

सिर हिलाकर उसने बताया—"नही सुना है। चकमकी-टोला को छोडकर गई भी नही कही। भारत किधर है?"

जरा देर बाद बोली—"बूढे बाबा एक भैस लाए थे, वह इस बेला तीन सेर और उस बेला तीन सेर दूध देती थी। उस समय हमारी हालत इससे अच्छी थी। उस वक्त आप आए होते, तो आपको खोआ खिलाती। बाबा अपने हाथो से खोआ बनाते थे—क्या ही मीठा खोआ! अब तो उतना दूध ही नही होता, तो खोआ कहाँ हो। उस समय हम लोगो का आदर भी खूब था।

उसके बाद उसने हाथ को चारो तरफ घुमाकर गर्व के साथ कहा—"जानते है बाबूजी, इस तमाम देश में अपना ही राज्य था! सारी दुनिया मे। जगल में आप जो गोड और सथाल देखते है, ये सब हमारी जात के नही है। हम है राजगोड़। वे सब हमारी प्रजा है, हमें वे अपना राजा मानते है।"

उसकी बात पर हँसी भी आई, दुख भी हुआ। कर्ज के रहते हुए महाजन जिसकी भैसे दोनो शाम खोल ले जाया करते है, वह भी राजवश का नाज करने से बाज नहीं आता।

मैने कहा—"मुझे पता है, तुम्हारा राजवंश कितना बड़ा है"—

भानुमती बोली—"उसके बाद की सुनिए, हमारी उस भैंस को बाघ ले गया, जो भैंस बूढ़े बाबा ले आए थे।"

—"सो कैसे ?"

—"बूढे बाबा चराने ले गए थे। खुद एक गाछ के नीचे बैठे थे। धर दबोचा बाघ ने।"

पूछा—"तुमने कभी बाघ देखा है ?"

अचरज के भाव मे अपनी काली भँवो को ऊपर करती हुई भानुमती ने कहा—"मैंने बाघ नही देखा ! जाडे में कभी आइए चकमकी-टोला—आँगन से बाघ गाय-बछरू पकड ले जाता है।"

यह कहकर उसने आवाज दी—"निछनी-निछनी, सुन तो।"

उसके आने पर बोली—"जरा बता तो दे बाबूजी को, पिछले साल जाड़े मे बाघ अपने आँगन में क्या तमाशा करता था। जगरू ने फदा डाला था एक दिन। फँसा नही।"

फिर अचानक बोली—"अच्छा एक चिट्ठी पढ़ देंगे ? कही से कोई चिट्ठी आई थी। पढे कौन ? पडी है। "जा तो निछनी, चिट्ठी ले आ। जगरू चाचा को भी बुलाती आना।"

निछनी को चिट्ठी न मिली। वह खुद गई। खोज-ढूँढ कर ले आई और मुझे दी।

पूछा—"कब आई है यह ?"

भानुमती बोली—"छै-सात महीने हुए होगे आए। आपके आने की इन्तजार में रख दिया था इसे। हम तो पढ़ना जानते नही। अरी निछनी, जगरू चाचा को बुला ला। सब को बुला ले, चिट्ठी पढी जायगी।"

छै-सात महीने पहले की चिट्ठी को मै युगलप्रसाद के चूल्हे के उजाले में पढने बैठा। सुनने के लिए घर-भर के लोग मुझे घेर कर बैठे। राजा दोबरू के नाम थी—कैथी अक्षरों में लिखी हुई। पटना के किसी महाजन ने राजा से पूछा था कि बीडी के पत्ते का जगल इधर है या नही। है तो उसकी बन्दोवस्ती कैसे होती है।

आते समय राजू पाडे, गनौरी, युगलप्रसाद, अशर्फी टडेल आदि पालकी को चारो तरफ से घेर कर लवटोलिया की सीमा पर बसी नई बस्ती, महाराज-टोला तक साथ-साथ आए। मटुकनाथ ने संस्कृत का श्लोक पढकर मुझे आशीर्वाद दिया। राजू ने कहा—"हुजूर आपके चले जाने से लवटोलिया उदास हो जायगा।"

'उदास' शब्द का व्यवहार और उसके अर्थ की व्यापकता यहाँ बहुत ज्यादा है, प्रसंगवश यह कह दूँ। मान लीजिए भुनी मकई खाने में अच्छी न लगी, तो लोग कहेंगे—भुँजा उदास लगता है। मै नही कह सकता, मेरे लिए यह 'उदास' किस अर्थ में व्यवहृत हुआ।

मैं जब विदा होने लगा, तब एक औरत रोई थी। वह सुबह से ही कचहरी के अहाते मे आकर खड़ी रही—जब मेरी पालकी चलने लगी, तब मैंने देखा, वह जोरों से रो रही है। वह थी कुंता!

कुता को जमीन देकर मैंने बसाया, यह मेरे मैनेजरी जीवन का एक सत्कार्य था। एक उस मंची के लिए मैं कुछ नही कर सका। न जाने कौन उस अभागिन को भगा ले गया! आज वह होती, तो मैं बिना सलामी लिए उसे जमीन देता।

नाढ़ा बैहार मे नकछेदी के घर पर जो नजर पडी, तो उसकी बात याद हो आई। सुरतिया बाहर कुछ कर रही थी। मेरी पालकी पर नजर पड़ते ही वह चीख उठी—"बाबूजी, बाबूजी—जरा रुकिए!"

वह पालकी के पास दौडी आई। पीछे-पीछे आई छनिया।

—"कहाँ जा रहे है बाबूजी?"

—"भागलपुर। तेरे बाबूजी कहाँ हैं?"

—"गेहूँ लाने गए है झल्लू-टोला। आप लौटेंगे कब?"

—"मै अब नही लौटूँगा।"

—"हुँ, झूठी बात!"

नाढ़ा बैहार पार हो गया, तो पालकी से गर्दन निकाल कर एक बार उलट कर देखा।

वहुतेरी बस्तियाँ, लोगों क़ी बातचीत, बच्चो की हँसी-किलकारी, चीख-पुकार, गाय-भैस, फसल के गोले। छै-सात साल मे घने जंगल को काट कर यह हँसता हुआ, हरा-भरा जनपद मैंने ही बसाया है। सब कल यही कह रहे थे—"आपके काम को देख कर हम लोग भी दग हो गए है बाबूजी, नाढ़ा और लवटोलिया क्या था और हो क्या गया!"

मै भी यही सोचता चला—"नाढा लवटोलिया क्या था और क्या हो गया!"

दिगत में खोए हुए महालिखारूप पहाड और मोहनपुरा जगल को मैंने दूर से नमस्कार किया।—

'हे वन के आदिम देवताओ, मुझे क्षमा करना। विदा!'

[तीन]

उसके बाद बहुत दिन बीत गए—पन्द्रह-सोलह साल!

वादाम के पेड के नीचे बैठकर यही सब सोच रहा था।

वेला डूब चली थी।

भूले हुए-से अतीत का जो नाढा बैहार और लवटोलिया का वन-प्रातर मेरे ही हाथो नष्ट हुआ था, सरस्वती-कुड का वह अपूर्व जगल, उनकी स्मृतियो के सपने-से आते और मन को उदास कर देते। साथ ही जी मे होता—कैसी है कुता, कितनी वडी हो गई सुरतिया, मटुकनाथ की पाठशाला अभी भी है कि नही, भानुमती अपने पहाडियो से घिरे जगल में क्या कर रही है, राखाल बाबू की स्त्री, ध्रुवा, गिरधारीलाल—किसे पता है, इतने दिनो में कौन किस हालत मे है।

और बीच-बीच मे याद आती मंची की बात। अनुतप्ता मची फिर अपने पति के पास लौट आई क्या, या आसाम के चाय बगान में आज भी चाय की पत्तियाँ ही तोड रही है?

जाने कब से इनकी कोई खोज-खबर नही!